Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भारतीय नीति का विकास

डॉ० श्रीराजबली पाण्डेय
एम्० ए०, डी० लिट्०, विद्यारत्न

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भारतीय नीति का विकास

डॉ० राजबली पाण्डेय, एम्.ए., डी.लिट्., विद्यारत्न,
महामना मालवीय आचार्य एवं अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति-विभाग,
जबलपुर-विश्वविद्यालय, जबलपुर;
भूतपूर्व प्राचार्य, भारती महाविद्यालय (कॉलेज ऑफ् इण्डोलॉजी)
काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसी

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रकाशक :
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

© बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

प्रथम संस्करण : २,०००

विक्रमाब्द २०२२; शकाब्द १८८७; खृष्टाब्द १९६५

मूल्य : पाँच रुपये

मूल्य..15-00

मुद्रक :
ओम्प्रकाश कपूर
ज्ञानमण्डल लिमिटेड
वाराणसी, ६३७३–२१

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वक्तव्य

'भारतीय नीति का विकास' पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ मार्च, १९६२ ई० में परिषद् द्वारा आयोजित 'भाषणमाला' का ग्रन्थाकार प्रकाशन है। अपनी भाषणमाला-योजना के अन्तर्गत परिषद् ने अवतक देश के सत्ताईस विशिष्ट विद्वानों को आमन्त्रित कर उनके भाषणों को ग्रन्थ रूप में प्रकाशित किया है और उन ग्रन्थों के प्रकाशन से इसे पर्याप्त यश भी मिला है। डॉ० पाण्डेय का यह ग्रन्थ भाषणमाला-योजनान्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थों के क्रम में तेईसवाँ स्थान रखता है। 'नीतिशास्त्र' वस्तुतः हिताहित का विवेचन करनेवाला शास्त्र है। इसका अध्ययन करने से मनुष्य को अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, सत्य-असत्य, उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ आदि का ज्ञान होता है और वह अपनी जीवन-यात्रा में उपयुक्त मार्ग पर अग्रसर होने में समर्थ होता है। नीति के अभाव में मानव का पथभ्रष्ट होना स्वाभाविक है।

'महाभारत' के शान्तिपर्व में नीतिशास्त्र के विषय के सम्वन्ध में उल्लेख पाया जाता है। धर्मराज युधिष्ठिर ने जब भीष्मपितामह से नीतिशास्त्र का विषय पूछा, तब उन्होंने कहा कि 'सत्ययुग में सृष्टि के कुछ दिनों बाद कुछ मनुष्य न्यायपथ से विचलित होने लगे थे। यह देखकर देवताओं ने ब्रह्मा की शरण ली। भगवान् कमलयोनि ने देवताओं को अभयदान देते हुए तत्क्षण लक्ष अध्याय-युक्त नीतिशास्त्र की रचना की। उन्होंने देवताओं से कहा था—"मैंने त्रिवर्ग-संस्थापन और लोगों के उपकार-साधन के लिए वाक्य के साररूप इस नीतिशास्त्र का उद्भावन किया है। इस नीतिशास्त्र का अध्ययन करने से निग्रह और अनुग्रह के प्रदर्शनपूर्वक लोकरक्षा करने की बुद्धि उत्पन्न होगी। इस शास्त्र द्वारा जगत् के सभी मनुष्य दण्डप्रभाव से पुरुषार्थ-लाभ में समर्थ होंगे, इसी से इस नीति का नाम दण्डनीति रखा जायगा।" भगवान् पद्मयोनि के इस लक्षाध्याय-युक्त नीतिशास्त्र को महादेवजी ने दस हजार अध्यायों में संक्षिप्त किया। कालान्तर में इन्द्र ने इसे पाँच हजार अध्यायों में तथा बृहस्पति ने तीन हजार अध्यायों में प्रस्तुत किया। अन्त में, शुक्राचार्य ने इसे एक हजार अध्यायों में 'शुक्रनीति' के नाम से संकलित किया।

उपर्युक्त आख्यान से स्पष्ट है कि 'नीतिशास्त्र' का विषय अत्यन्त ही व्यापक है। इसके अन्तर्गत मनुष्य के ऐहलौकिक एवं पारलौकिक उद्देश्य से संपादित होनेवाले समस्त क्रियाकलाप समाविष्ट हैं। भारतीय वाङ्मय में नीतिशास्त्र पर समय-समय साहित्य-रचना होती रही है। ऋषि-मनीषियों ने बदलती हुई परिस्थितियों के साथ जीवन के मूल्यों का विवेचन-विश्लेषण कर इसके स्थिर नियमों में भी परिवर्त्तन किये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आज भी शुक्रनीति, कामन्दकीय नीतिसार, नीतिकल्पतरु या नीतिलता, नीतितरंग, नीतिदीपिका, नीतिप्रदीप, नीतिमंजरी, नीतिमयूख, नीतिरत्न, नीतिरत्नाकर, नीतिवाक्यामृत, नीतिविलास, नीतिविवेक, नीतिसार, नीतिसारसंग्रह, चाणक्यनीति, हितोपदेश, पंचतन्त्र आदि संस्कृत के नीतिविषयक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त बौद्ध एवं जैनधर्म के नैतिक विचार भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से ही हमारे यहाँ इस विषय पर कितने कार्य हुए हैं। सृष्टि के प्रारम्भिक काल में नीति के विवेचन एवं निरूपण की जो परम्परा प्रारम्भ हुई, उसके मूल स्रोत आज भी प्रवहमाण हैं। भारतीय संस्कृति के प्रभामण्डल में इसे सतत देदीप्यमान स्वर्णकिरण के रूप में सर्वत्र देखा जा सकता है। इसका मूल कारण यह है कि धर्म तथा दर्शन से इस शास्त्र का अटूट सम्बन्ध रहा है, बल्कि वास्तविकता तो यह है कि इसे दर्शनशास्त्र का एक अंग ही माना जाता रहा है। अपनी व्यापक विषयवस्तु के कारण नीतिशास्त्र ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों, जैसे भौतिक विज्ञान, जीवविज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि से अविच्छिन्न रूप में संबद्ध है। पाश्चात्य दर्शनशास्त्र की एक शाखा आचारशास्त्र का अस्तित्व इस शास्त्र से भिन्न नहीं माना जा सकता।

पाश्चात्य दार्शनिकों एवं विद्वानों ने, जिनमें डार्विन, मार्क्स, फ्रायड आदि मुख्य हैं, भौतिक धरातल पर नीति का मूल्यांकन किया है, जिससे प्राचीन मान्यताओं, अवस्थाओं एवं व्यवस्थाओं को आघात पहुँचा है। सर्वत्र अनास्था, अव्यवस्था एवं असमंजस का वातावरण व्याप्त है। ऐसी स्थिति में भारतीय नीतिशास्त्र के अध्ययन एवं पर्यालोचन की आवश्यकता अनिवार्य प्रतीत होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक डॉ० राजवली पाण्डेय प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति तथा दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् एवं लेखक हैं। हिन्दू-संस्कारों पर लिखा आपका ग्रन्थ देश-विदेश में प्रभूत यश अर्जित कर चुका है। इतिहास एवं संस्कृति-सम्बन्धी आपके अन्यान्य ग्रन्थों का भी विद्वानों में विशेष आदर है और सहज ही आपने अपने ज्ञान एवं चरित्र से वर्त्तमान युग की भारतीय चिन्ताधारा को बहुत प्रभावित किया है। आपने अपनी भाषणमाला में भारतीय नीति के विकास की जो रूपरेखा प्रस्तुत की, उससे अनेकानेक विद्वानों को इस क्षेत्र में कार्यरत होने की प्रेरणा मिलेगी, ऐसा हमारा दृढ विश्वास है।

हम परिषद् की ओर से बन्धुवर डॉ० पाण्डेय के प्रति आभार प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि प्रतिकूल स्वास्थ्य तथा व्यस्त कार्यक्रम के रहते हुए भी इस ग्रन्थ के प्रकाशन में उन्होंने तत्परतापूर्ण सहयोग प्रदान किया।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना
स्वतन्त्रता-दिवस
१५ अगस्त, १९६५ ई०

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'
निदेशक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आमुख

प्रस्तुत व्याख्यान विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के निमंत्रण पर मार्च, १९६२ ई० में दिये गये थे। परिषद् के संचालक बन्धुवर 'माधव' जी का लम्बा आग्रह था कि मैं अपना भाषण परिषद् के तत्त्वावधान में अवश्य दूं। अस्वास्थ्य और अस्तव्यस्तता के कारण व्याख्यानों की पूरी पाण्डुलिपि तैयार नहीं थी। मैंने तार दिया कि व्याख्यान भविष्य के लिए स्थगित कर दिये जायँ। परन्तु, पुनः आग्रह हुआ कि जैसा भी मैं तैयार हूँ, उसी रूप में भाषण हो जाय। हार मानकर मैंने भाषण दे ही डाला। परन्तु, स्वास्थ्य और समय का अभाव मेरे पास बना ही रहा। पाण्डुलिपि शीघ्र तैयार न हो सकी। कई बार के प्रयत्न से अब पूरी हो सकी है। विलम्ब के लिए परिषद् से क्षमा चाहता हूँ।

'भारतीय नीति का विकास' व्याख्यान-मात्र है, ग्रन्थ नहीं। इसमें व्यापक नीतिशास्त्र की दृष्टि से उसके सभी अंगों का वैज्ञानिक विवेचन नहीं है। इसमें नीति के उन्हीं प्रश्नों और प्रवृत्तियों का विहंगम दृष्टि से सर्वेक्षण है, जो कालक्रम से समय-समय पर जन-मानस और जन-जीवन में उभरती और उनके लिए प्रेरणा और आदर्श का काम करती रही हैं। यह एक प्रकार का संक्षिप्त ऐतिहासिक पर्यालोचन है। तीन व्याख्यानों में भारत के सुदीर्घ नैतिक चिन्तन और प्रयोग में से जितनी सामग्री और विचार समा सके, उतने ही प्रस्तुत प्रकाशन में उपलब्ध हैं।

प्रथम व्याख्यान प्रायः प्रास्ताविक है। इसमें नीति की कल्पना और अन्य शास्त्रों से उसका सम्बन्ध, नैतिक आचारों का वर्गीकरण, भारतीय नीति के स्रोत और नीति के मनोवैज्ञानिक आधार का पर्यालोचन किया गया है। दूसरे व्याख्यान से नीति का ऐतिहासिक विवेचन प्रारम्भ होता है। इसमें पूर्ववैदिक काल में नीति के धार्मिक स्वरूप, उत्तरवैदिक काल में नीति के कर्मकाण्डीय और दार्शनिक स्वरूप, महाभारत के कर्मयोग, लोकायत-नीति तथा जैन और बौद्ध धर्म के नैतिक विचारों और आचारों का विवेचन है। तीसरे व्याख्यान में षड्-दर्शनों में नीति, सामाजिक नीति, विधिक नीति, आधुनिक नैतिक प्रवृत्तियों और नैतिक पुनरुत्थान का विवरण और विश्लेषण है। अन्त में विषय का उपसंहार है।

इस विकासक्रमिक ऐतिहासिक विवेचन का उद्देश्य है इस तथ्य को प्रकट करना कि नीति के कतिपय स्थायी मूल्यों के होते हुए भी जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार मानव के आचार-विचार में परिवर्त्तन होता आया है। आदिम जीवन के परिष्कार और संस्कार के पश्चात् सभ्य जीवन की जटिलताओं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के कारण नैतिक जीवन की सरलता और पवित्रता बीच-बीच में धूमिल और मलिन होती रहती है। मानव-पुरुषार्थ समय-समय पर नैतिक मूल्यों का संस्कार और उत्थान करता है। नैतिक मूल्य प्रत्येक दशा में परम्परामानित होकर अग्रेसारित होते हैं। जबतक परम्परा से उनका सामञ्जस्य नहीं होता, तबतक नये मूल्य आवेग और प्रवृत्ति के रूप में, कभी-कभी धीमी हवा और कभी प्रचण्ड आँधी के रूप में, प्रवाहित होते रहते हैं।

भारतीय मूल्यों के भावी अस्तित्व और विकास की संभावना तभी हो सकती है, जब वे अपने आधार पर दृढ रहते हुए तथा अनावश्यक और अस्वास्थ्यकर तत्त्वों का निराकरण करते हुए सामयिक वातावरण तथा पर्यावरण से अपना उचित पोषण प्राप्त करते रहें। जीवन और विकास का यही मूल मंत्र है। इसकी अवहेलना से या तो किसी राष्ट्र अथवा जाति के मौलिक मूल्य बाहरी प्रबल आघातों के प्रहार से उखड़कर उड़ जाते हैं अथवा उनसे बचकर संकुचित सीमा में जडीभूत हो जाते हैं। ये दोनों ही ऐकांतिक मार्ग हैं। दोनों के बीच में विवेक और विचार पर आधृत संतुलित मध्यम मार्ग है। नीति, नय और न्याय इसी ओर संकेत करते हैं।

विजयादशमी, सं० २०२१ वि०

राजबली पाण्डेय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विषय-सूची

पृष्ठ

आमुख

प्रथम व्याख्यान

[प्रास्ताविक]

१. नीति की कल्पना और अन्य शास्त्रों से उसका सम्बन्ध — १– ७
२. नैतिक आचारों का वर्गीकरण — ८–१४
३. भारतीय नीति के स्रोत — १४–२३
४. नीति का मनोवैज्ञानिक आधार : प्रवृत्ति और उसका विश्लेषण — २३–३०

द्वितीय व्याख्यान

[नीति का विकास (१)]

१. पूर्ववैदिक काल में नीति : धार्मिक रूप — ३१–४५
२. उत्तरवैदिक काल में नीति : कर्मकाण्डीय तथा दार्शनिक रूप — ४५–६२
३. महाभारत में नीति : कर्मयोग — ६३–७७
४. लोकायत-नीति — ७८–८१
५. जैन और बौद्धनीति — ८१–९८

तृतीय व्याख्यान

[नीति का विकास (२)]

१. षड्दर्शनों में नीति — ९९–१२३
२. सामाजिक नीति — १२३–१४४
३. विधिक नीति — १४४–१६३
४. आधुनिक नैतिक प्रवृत्तियाँ — १६४–१७६
५. पुनरुत्थान — १७६–२०२
६. उपसंहार — २०२–२१०

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लेखक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लेखक-परिचय

जन्मस्थान : रुद्रपुर (करौनी), देवरिया

जन्मतिथि : पौष, सं० १९६४ वि०

शिक्षण : प्रारम्भिक : गोरखपुर-देवरिया; डी० ए० वी० महाविद्यालय, कानपुर;
विश्वविद्यालयीन : बनारस हिन्दू-विश्वविद्यालय
[बी० ए० (ऑनर्स); एम्० ए०; डी० लिट्०]

प्राध्यापन : बनारस हिन्दू-विश्वविद्यालय : उपाचार्य, प्राचीन भा० इ० सं० पुरा-विभाग
: आचार्य, ,,
: प्राचार्य, भारती महाविद्यालय (कॉलेज ऑफ् इण्डोलॉजी)
: जबलपुर-विश्वविद्यालय : महामना मालवीय आचार्य तथा अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग

प्रकाशन : हिन्दू-संस्कार (अँगरेजी तथा हिन्दी)
: भारतीय पुरालिपि (अँगरेजी)
: विक्रमादित्य (संवत्-प्रवर्त्तक) [अँगरेजी तथा हिन्दी]
: प्राचीन भारत
: भारतीय इतिहास की भूमिका
: विश्व का प्रारम्भिक इतिहास
: गोरखपुर-जनपद का इतिहास
: अशोक के अभिलेख (कॉर्पस)
: हिस्टॉरिकल ऐण्ड लिटररी इंस्क्रिप्शन्स
: हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १ (ऐतिहासिक पीठिका) आदि।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भारतीय नीति का विकास

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रथम व्याख्यान

प्रास्ताविक

१. नीति की कल्पना और अन्य शास्त्रों से उसका सम्बन्ध

संस्कृत में नीति की व्युत्पत्ति 'नी' धातु से है, जो 'प्रापण' (प्राप्त कराना, आगे ले जाना, नेतृत्व करना, स्थिर करना आदि) के अर्थ में प्रयुक्त होती है। इसी से नय (तर्कशास्त्र) और न्याय (निष्पक्ष निर्णय) शब्द भी निकले हैं। इसका सामान्य अर्थ है मानव-व्यवहार का उचित अथवा न्यायसंगत होना। नीति के ही अर्थ में उसके पर्याय 'धर्म' और 'आचार' का प्रयोग भी संस्कृत-साहित्य में प्रचुरता से हुआ है। वैदिक संस्कृत में नीति के लिए 'ऋत' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है 'नियम' अथवा 'सुव्यवस्था'। धर्म के समान ही 'नीति' का भी व्यापक अर्थ स्वीकार किया गया है। 'कामन्दक-नीतिसार', 'शुक्रनीतिसार' और 'नीतिवाक्यामृत' में 'नीति' शब्द का ग्रहण 'राज-नीति' के अर्थ में हुआ है। कामन्दक ने दण्डनीति का लक्षण देते हुए 'नीति' शब्द की व्याख्या 'नयनान्नीतिरुच्यते' (नयन करने से नीति कही जाती है) की है। शुक्राचार्य ने नीतिशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार दी है:

"नीतिशास्त्र सबकी जीविका का साधन; लोक की स्थिति बनाये रखने-वाला; धर्म, अर्थ और काम का मूल और इस कारण से मोक्ष देनेवाला है।"[१] नीति की इस परिभाषा में नैतिक विकास के सभी स्तरों—शुद्ध उपयोगिता-वाद से परमार्थ तक—का समावेश है। आजकल की सरल परिभाषा में नीति वह शास्त्र है, जो शुद्ध तथा अशुद्ध, सत्य तथा असत्य, उचित तथा अनुचित अथवा शुभ तथा अशुभ के आधार पर मानव-चरित्र का विवेचन करता है। संस्कृत का 'धर्ममूल' शब्द इस परिभाषा के निकट है, यद्यपि इसमें अदृष्ट और अपूर्व—दो रहस्यवादी तत्त्व—सम्मिलित हैं। 'मोक्षप्रद' शब्द तो नीति का आध्यात्मिक, अर्थात् उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करता है।

नीति की परिभाषा में शुद्ध और अशुद्ध का सम्बन्ध पदार्थ अथवा क्रिया के गुण से है; सत्य और असत्य का सम्बन्ध तर्क अथवा कारणों से है; उचित और अनुचित का सम्बन्ध सामाजिक प्रथा या परम्परा से है; शुभ और अशुभ का सम्बन्ध जीवन के मूल्यों से है। वास्तव में, अपने पूर्ण रूप में, नीति वह शास्त्र है, जो जीवन के मूल्यों का विवेचन करता है। शैशव से लेकर आजीवन

---

१. सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम्।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः॥ (शुक्रनीतिसार, १.५)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मनुष्य विश्व में होनेवाली भौतिक घटनाओं के कारणों की जिज्ञासा करता है। इससे ज्ञान और विज्ञान की वृद्धि होती है। इसी प्रकार मानवीय व्यवहारों के बारे में भी उसकी विचिकित्सा होती है। मनुष्य यह कार्य किसलिए करता है, क्यों करता है, इसमें क्या अच्छाई है, आदि प्रश्न उठते रहते हैं। और फिर प्रश्न उठता है : मनुष्य को क्यों अच्छा होना चाहिए अथवा अच्छे कर्म करना चाहिए ? यह नीतिशास्त्र का केन्द्रीय प्रश्न है। परन्तु इस सम्बन्ध में अन्तिम प्रश्न है : अच्छे होने का उद्देश्य अथवा लक्ष्य क्या है ? यहाँ नीति का सम्बन्ध जीवन के लक्ष्य से हो जाता है, अर्थात् वह दर्शन-शास्त्र में प्रवेश करने लगती है। इसीलिए भारतीय साहित्य में नीति, धर्म और दर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है और उनको एक-दूसरे से पृथक् करने की चेष्टा नहीं की गई है। जीवन के अन्तिम लक्ष्य को ध्यान में रखकर नैतिक कर्त्तव्यों का विधान किया गया है। जीवन के मूल्य अथवा पुरुषार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें धर्म और अर्थ साधन मूल्य हैं और काम तथा मोक्ष साध्य। अन्तिम दोनों में भी मोक्ष चरम साध्य है। अतः, सामान्य और विशिष्ट कर्त्तव्यों का विधान इन्हीं की प्राप्ति के लिए किया गया है।

यद्यपि नीति को विकास-क्रम में शास्त्रीय रूप पीछे मिला है, तथापि नीति अपने अस्पष्ट रूप में आदिम काल से मानव-जीवन का नियमन परम्परा, परिपाटी अथवा प्रथा के रूप में करती आई है। वास्तव में नीति अथवा धर्म ही मानव-जीवन की वह विशेषता है, जो पशु-जीवन से उसको पृथक् करती है :

"आहार, निद्रा, भय और मैथुन पशु और मनुष्यों में सामान्य रूप से पाये जाते हैं। मनुष्यों में धर्म ही विशेष है। धर्महीन मनुष्य पशु के समान होते हैं।"[१]

आधुनिक मानवशास्त्री और समाजशास्त्री भी मनुष्य की इस विशेषता को स्वीकार करते हैं। एल्० टी० हावहाउस की 'मॉरल्स इन इवोलूशन' (आचार-शास्त्र का विकास) नामक पुस्तक की भूमिका में मॉरिस जिन्सबर्ग ने लिखा है :

"जो तत्त्व मनुष्य-जाति को पशुओं से पृथक् करता है, वह है उसकी शक्ति, जो सामाजिक मूल्यों का निर्धारण और व्यवहार में उनका प्रयोग करती है। सामाजिक मूल्यों से सम्बन्ध रखनेवाले नियम केवल प्रथा पर आधृत हैं और प्रथा काम करने का अभ्यास-मात्र नहीं है, एक प्रकार का शासन है। यह वह क्रिया नहीं है, जिसको कोई व्यक्ति सामान्यतः करता है, अपितु वह कर्त्तव्य है, जिसकी अपेक्षा दूसरे लोग उससे करते हैं। इस प्रकार इसमें प्रारम्भ से ही सर्वमान्यता और निष्पक्षता का तत्त्व रहता आया है। किन्तु प्रथा सामाजिक

१. आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥
(महाभारत, शान्ति०, २९४. २९)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

क्रिया-प्रतिक्रिया की उपज है, जो एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को प्रदान करती आई है। मानव-आचार में मुख्य तत्त्व सामाजिक परम्परा है, शारीरिक वंशानुक्रम नहीं।"

इस नीतिशास्त्र का सम्बन्ध अन्य शास्त्रों से भी है; क्योंकि मानव जीवन की आवश्यकताएँ और मूल्य सापेक्ष हैं। भौतिक और रसायनशास्त्र का सम्बन्ध स्थूल जगत् से है। इनके द्वारा मनुष्य अपनी भौतिक परिस्थितियों का नियंत्रण करता है। इनके आधार पर भौतिक घटनाओं की व्याख्या भी वह कर सकता है, परन्तु मानव-व्यवहार की व्याख्या इनके द्वारा नहीं हो सकती। यह सच है कि मनुष्य की बहुत-सी क्रियाएँ मानव-शरीर के भीतर रासायनिक क्रियाओं से प्रभावित होती हैं; शरीर के अन्दर ग्रंथियों के विशेष प्रकार के विकार से मनुष्य के स्वभाव में काम, क्रोध, भय आदि की वृद्धि हो जाती है। नैतिक आचरण के लिए शारीरिक स्वास्थ्य और आरोग्य आवश्यक हैं। संस्कृत-साहित्य में तो यहाँ तक कहा गया है कि 'धर्मार्थकाममोक्षाणाम् आरोग्यं मूलकारणम्' (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल कारण आरोग्य है)। बर्नार्ड शॉ ने तो आनन्द की परिभाषा इस प्रकार की है। आनन्द क्या है? 'आनन्द स्वस्थ यकृत् की क्रिया है।' परन्तु यह सब होते हुए भी भौतिक, रसायन, आयुर्वेदादि शास्त्रों का नीति से सम्बन्ध प्राथमिक है, अन्तिम नहीं; ये शास्त्र नीति के स्वरूप अथवा उद्देश्य की व्याख्या नहीं कर सकते, केवल उसकी भूमिका तैयार कर सकते हैं।

जीवशास्त्र अथवा प्राणिशास्त्र का नीतिशास्त्र के साथ सम्बन्ध भौतिक और रसायनशास्त्र की अपेक्षा अधिक निकट है। वे प्राणियों के जीवन और शारीरिक व्यापार का विवेचन करते हैं। मनुष्य भी एक जीवन्त सेन्द्रिय प्राणी है। उसकी सहज चेतना और गतिविधि उसके व्यवहार की परिस्थिति का निर्माण करती हैं। इन्हीं के द्वारा प्राणियों के शरीर और संतति का विकास होता है। इसलिए बहुत-से जीवशास्त्रियों ने नीति के उद्भव और विकास की जीवशास्त्रीय व्याख्या की है। उपनिषदों में भी जहाँ मानव के 'पञ्चकोषों' का वर्णन है वहाँ इस बात का संकेत है कि उस समय भी कतिपय चिंतक अन्नमय और प्राणमय कोषों तक ही मनुष्य को सीमित मानते थे।[1] यद्यपि मानव-जीवन की यह व्याख्या अपूर्ण और भ्रान्त है, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि नीति के कई स्तरों का सम्बन्ध प्राणिशास्त्र से है। मानव-आचार का बहुत बड़ा क्षेत्र—यौन-सम्बन्ध और भोजन—प्राणिशास्त्र से नियंत्रित होता है। ऐसा कोई भी नैतिक आचार, जिससे मानव-शरीर और उसकी संतति का ह्रास हो, उपयुक्त नहीं माना जायगा। परन्तु प्राणिशास्त्र नीति के लिए उपयोगी होते हुए भी मानव-जीवन के मूल्यों और जीवन के अन्तिम लक्ष्य के विवेचन में असमर्थ हैं।

---

१. अन्नं वै ब्रह्म।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मानवशास्त्र, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान नीतिशास्त्र के और भी निकट हैं। नीतिशास्त्र सामाजिक अस्थिपंजर और संघटन के परिज्ञान के लिए सामाजिक शास्त्रों पर अवलम्बित है; क्योंकि नैतिक संस्थाएँ भी सामाजिक संस्थाओं के ही अंगभूत हैं। इसी प्रकार नैतिक तथ्यों और उनके भावुक प्रभाव की जानकारी के लिए नीतिशास्त्र को मनोविज्ञान का सहारा लेना पड़ता है। संस्कृत-वाङ्मय का सम्पूर्ण धर्मशास्त्र (समाजशास्त्र) और योगशास्त्र (चित्तविकलन) नीतिशास्त्र के आधार और अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। नीतिशास्त्र वहुत-सी स्वयंसिद्धियों को मानकर चलता है, जिनका मनोवैज्ञानिक परीक्षण आवश्यक है; जैसे मनुष्य सदा सुख की खोज में रहता है; मनुष्य में उचित और अनुचित का सहज ज्ञान है; एकपत्नीत्व की ओर मनुष्य में सहज प्रवृत्ति होती है; निकट सम्बन्ध में यौन-सम्बन्ध के प्रति मनुष्य में सहज घृणा होती है। इसी प्रकार नीतिशास्त्र की कुछ सामाजिक मान्यताओं का भी समाजशास्त्रीय परीक्षण आवश्यक है; जैसे सम्पत्ति, मानव-परिवार, विवाह-संस्था की पवित्रता और अनिवार्यता आदि। मनोवैज्ञानिक और सामाजिक क्षेत्रों में नीतिशास्त्र की मान्यताओं की सम्पुष्टि और संशोधन मनोविज्ञान और समाजशास्त्र द्वारा होना चाहिए।

परन्तु, भौतिक शास्त्र और सामाजिक शास्त्र के साथ नीतिशास्त्र का सम्बन्ध होने का यह तात्पर्य नहीं कि नीतिशास्त्र भौतिक अथवा सामाजिक शास्त्रों का एक अध्याय अथवा अंशमात्र है। वास्तव में नीतिशास्त्र के निजी तथ्य, अपनी समस्याएँ, अपनी पद्धति और अपने उद्देश्य हैं। उपर्युक्त शास्त्र मानव-आचार की परिस्थितियों और कारणों की व्याख्या में सहायता कर सकते हैं। परन्तु मनुष्य का कोई व्यवहार क्यों उचित अथवा अनुचित है, अथवा मनुष्य को क्यों अच्छा वनना चाहिए अथवा मनुष्य के अच्छा होने का लक्ष्य क्या है आदि प्रश्नों का समाधान मनोविज्ञान और सामाजिक शास्त्र नहीं कर सकते।

इसलिए, नीति का सवसे घनिष्ठ सम्बन्ध उन शास्त्रों से है, जिनका विचार-क्षेत्र मानव-जीवन का मूल्य है। वास्तव में नीतिशास्त्र के विचार में मानव-मूल्यों का प्रश्न आधारभूत है। मूल्य क्या है? सबसे सीधा और बहुप्रचलित उत्तर है: मूल्य वह है, जो मानव-इच्छा अथवा कामना को सन्तुष्ट करता है। परन्तु यह उत्तर चाहे आदिम सभ्यता में रहनेवाले बर्बर व्यक्ति को सन्तुष्ट कर दे, विचारशील व्यक्ति को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। वह तो इच्छा की पूर्त्ति जीवन की सुरक्षा और प्रसार के लिए चाहता है। उसके लिए इच्छा की पूर्त्ति केवल शारीरिक नहीं, एक मनोवैज्ञानिक घटना है। उसके लिए मूल्य वह है, जो जीवन की सुरक्षा और विकास करता है। परन्तु, यह दूसरा उत्तर भी अर्द्ध-सभ्य मानव के लिए ही पर्याप्त है। चिन्तनशील सभ्य मानव इससे संतुष्ट नहीं हो सकता। उसके लिए मूल्य वह है, जो शुभ तथा उचित जीवन और आत्म-विकास अथवा आत्मोपलब्धि के अनुकूल हो। दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न मूल्य के सम्बन्ध में यह है कि वह साधनभूत है अथवा साध्य। कुछ मूल्य अन्तिम मूल्यों के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

साधनभूत होते हैं। उदाहरण के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष——जीवन के चार पुरुषार्थों (मूल्यों)——में से धर्म और अर्थ काम के साधन हैं और प्रथम तीनों मोक्ष (अन्तिम मूल्य) के साधन हैं। विधि और अर्थशास्त्र का सम्बन्ध जीवन के उन मूल्यों से है, जो जीवन के साधनभूत हैं। परन्तु नीतिशास्त्र का सम्बन्ध साधनभूत और साध्यभूत दोनों प्रकार के मूल्यों से है।

नीतिशास्त्र के साथ विधि (धर्मशास्त्र) का सम्बन्ध ऐतिहासिक है। विधि के जितने भी प्राथमिक सिद्धान्त और नियम हैं, वे मूलतः नैतिक प्रथाओं और आचारों पर आधृत हैं। जीवन और सम्पत्ति-सम्बन्धी विधि स्वत्व के नैतिक अधिकार को मानकर चलती है। इसलिए कतिपय विधिशास्त्रियों ने 'समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक परिस्थितियों के योग' को विधि माना है। किसी-किसी ने विधि को 'समाज के सदस्यों द्वारा न्यूनतम नैतिक आचरण वतलाया है।' नीति से विच्छिन्न विधिक धारणाएँ अन्याय और अत्याचार को जन्म देती हैं। कभी-कभी शुद्ध न्याय और निष्पक्ष विधि की बात भी की जाती है। किन्तु, यह विधि की यांत्रिक कल्पना है। नैतिक अर्थ में न्याय के ऊपर आधृत विधि ही मानव-समाज के कल्याण-साधन में सक्षम हो सकती है। जब विधि और नीति में संघर्ष हो, तब निर्णय नीति के ही आधार पर हो सकता है। भारतीय साहित्य में पूरा विधिशास्त्र धर्मशास्त्र के अन्तर्गत और उससे अभिन्न है। धर्म से अलग विधि का अस्तित्व नहीं माना गया है। धर्म का ही व्यावहारिक रूप नीति और नीति का प्रशासकीय रूप विधि है।

नीतिशास्त्र का सम्बन्ध राजनीति और अर्थशास्त्र (वार्त्ता) के साथ भी विचारणीय है। भारतीय शास्त्रकारों ने राजनीति को नीतिशास्त्र के ऊपर केवल अवलम्बित नहीं, अपितु उसको नीतिशास्त्र का अभिन्न अंग माना है। कामन्दक ने अपने राजनीति के ऊपर प्रणीत ग्रन्थ को 'कामन्दकनीतिसार' कहा है। इसी प्रकार, शुक्राचार्य के ग्रन्थ को 'शुक्रनीतिसार' और सोमदेवसूरि के ग्रन्थ को 'नीतिवाक्यामृत' कहा जाता है। वास्तव में, राज्य का उद्देश्य ही नीति के आधार पर सामाजिक स्थिति वनाये रखना है। इसलिए राज्य का आधार और उपयोगिता दोनों ही नैतिक हैं। धर्मशास्त्र में राज्य के कर्त्तव्यों——प्रशासन और व्यवहार (विधिक जीवन-पद्धति)——को धर्म के अन्तर्गत ही रखा गया है और उसे 'राजधर्म' कहा गया है। राजनीतिशास्त्र का विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जायगा कि इसका मूल्य जीवन के साधन-रूप में है, जो अंततोगत्वा नैतिक मूल्यों पर अवलम्बित है।

नीति के सामने अर्थशास्त्र की भी वही स्थिति है, जो राजनीति की। उसका मूल्य भी जीवन के साधन-रूप में है, साध्य-रूप में नहीं। उसका पूरा क्षेत्र——जीवन के साधनों की उत्पत्ति, साधनों का विभाजन और उनका उपभोग——नीतिशास्त्र से मर्यादित है। कुछ अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को स्वतन्त्र शास्त्र मानते हैं और इसके मूल्यों की स्वतन्त्र व्याख्या करते हैं। कतिपय तो यहाँतक मानते हैं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कि आर्थिक मूल्य ही जीवन के नैतिक मूल्यों का निर्धारण करते हैं। यह सिद्धान्त 'आर्थिक नियतिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु देखा गया है कि जहाँ अर्थशास्त्र का नीति को छोड़कर विकास हुआ है, वहाँ सम्पत्ति और जीवन के साधन बढ़ते हैं, किन्तु मनुष्य क्षीण होता जाता है। भारतीय चिन्तन और जीवन-दर्शन के अनुसार 'अर्थ' जीवन के चार पुरुषार्थों में परिगणित हैं; उसकी उपेक्षा नहीं हो सकती। परन्तु है वह 'काम' का साधन और उसका उपार्जन 'धर्म' के द्वारा ही होना चाहिए।

नीति का सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध दर्शन और धर्म से है। भारत में दर्शन और धर्म साथ-साथ अभिन्न रूप से चलते रहे हैं। ये दोनों ही नैतिक जीवन के आधार-स्तम्भ माने गये हैं। नीति के अन्तिम प्रश्नों और मूल्यों का समाधान और विवेचन दर्शन के द्वारा ही होता है। इसीलिए नीति दर्शन का एक अंग मानी जाती रही है। दर्शन के किसी भी पाठ्यक्रम में नीति का स्थान सुरक्षित है। किसी भी विषय का सम्यक् विवेचन करने के लिए उसके सीमित दायरे से बाहर जाकर अन्य विषयों के सन्दर्भ में उसके तथ्यों का परीक्षण और सिद्धान्तों का निरूपण करना पड़ता है। सब विषयों की सार्वभौम समग्र दृष्टि दर्शन से ही प्राप्त होती है। नैतिक विचारणा का सबसे बड़ा प्रश्न है जीवन के मूल्यों का सर्वाङ्गीण विवेचन। नीति के क्षेत्र में निम्नांकित प्रश्न प्रायः उठते हैं:

१. अच्छा बनने से क्या लाभ है?

२. संसार में जीवन के विभिन्न मूल्यों में भेद क्यों है?

३. संसार के विभिन्न मूल्यों के पालन से अन्तिम लाभ क्या है?

४. संसार में कोई उद्देश्य अथवा लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति के लिए हम नैतिक बनना चाहते हैं?

इन प्रश्नों का उत्तर धर्म और दर्शन बराबर देते आये हैं। नीति को धर्म से केवल स्वीकृति और अनुज्ञा ही नहीं, परन्तु अपने अस्तित्व का मौलिक आधार भी मिला है। दर्शन ने धर्म और नीति के इस सम्बन्ध की यौक्तिक व्याख्या की है। नीति और भी कई स्वयंसिद्धियाँ और मान्यताएँ लेकर चलती है, जिनकी व्याख्या दर्शन से ही संभव है, जैसे—

१. कर्त्ता का इच्छा-स्वातन्त्र्य;

२. नैतिक प्रभेदों की वास्तविकता;

३. नैतिक मूल्यों का सार्वभौम महत्त्व;

४. नैतिक मूल्यों का औचित्य और

५. मनुष्य का विश्व में स्थान और उसके सासारिक व्यवहार का आधार।

ये दर्शन और अध्यात्म के मौलिक प्रश्न हैं, जिनका समाधान उन्हीं के द्वारा सम्भव है। इसीलिए भारतीय दर्शनों के अन्तर्गत ही नैतिक प्रश्नों का विवेचन किया गया है।

कभी-कभी भारतीय इतिहास में जीवन और शास्त्रों को नीति-निरपेक्ष बनाने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

का क्षीण प्रयास पाया जाता है, परन्तु वह कभी व्यापक और सफल नहीं हुआ। कभी लोकायतिक सुखवाद के नाम से[1], कभी बुद्धिवाद के नाम से और कभी विज्ञानवाद के नाम से यह प्रयास चला। किन्तु, सबसे अधिक प्रयास राजनीति के नाम से समाज को नीति-निरपेक्ष बनाने का हुआ। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र के विद्या-समुद्देश्य में इसका ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया है :"

> "आन्वीक्षकी (दर्शन), त्रयी (सामाजिक शास्त्र), वार्त्ता (अर्थशास्त्र) और दण्डनीति (राजनीति) विद्याएँ हैं ।।१।। मानवों के अनुसार त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति ही विद्याएँ हैं ।।२।। आन्वीक्षकी का अन्तर्भाव त्रयी में है ।।३।। बार्हस्पत्यों के अनुसार वार्त्ता और दण्डनीति ही विद्याएँ हैं ।।४।। लोकयात्राविदों के विचार में त्रयी तो संवरणमात्र (निरोधक) है ।।५।। औशनस (शुक्राचार्य के अनुयायियों) के अनुसार एक दण्डनीति (राजनीति) ही विद्या है ।।६।। उसी में सभी विद्याएँ प्रतिबद्ध हैं ।।७।। (परन्तु) कौटिल्य के अनुसार चारों ही विद्याएँ हैं ।।८।। क्योंकि, विद्याओं की वास्तविकता इसी में है कि उनसे धर्म और अर्थ के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है ।।९।।[2]"

नीति-निरपेक्षता के सिद्धान्त को चाणक्य जैसा व्यावहारिक राजनीतिज्ञ भी मानने को तैयार नहीं था। अतः वादरूप में इन ऐकान्तिक सिद्धान्तों की प्रधानता नहीं रही; खण्डन करने के लिए ही ये सिद्धान्त प्रायः उद्धृत किये जाते थे। परन्तु, आधुनिक युग में विज्ञान, बुद्धिवाद और लोकायत-दर्शन ने नयी भौतिक शक्ति और अभूतपूर्व वेग प्राप्त कर परम्परा-मानित नीति और दर्शन की भित्तियों को हिला दिया है। डारविन, मार्क्स और फ्रॉयड ने मनुष्य की प्राथमिक मूल वासनाओं को भौतिक धरातल पर इतने प्रबल रूप में उभार दिया है कि मनुष्य की अब-तक की सभी मान्यताएँ, आस्थाएँ और मूल्य अस्त-व्यस्त हो चुके हैं। नैतिक असमंजस, अनास्था और अव्यवस्था का वातावरण सर्वत्र व्याप्त है। ऐसी परिस्थिति में भारतीय नीति के विकास का पर्यालोचन करना है और देखना है कि इससे कोई नैतिक प्रकाश मिल सकता है या नहीं।

---

१. यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।। —सर्वदर्शनसंग्रह।

२. आन्वीक्षकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः ॥१॥ त्रयीवार्त्ता दण्डनीतिश्चेति मानवाः ॥२॥ त्रयी विशेषो ह्यान्वीक्षकीति ।।३॥ वार्त्तादण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः ॥४॥ संवरणमात्रं हि त्रयी लोकयात्राविद इति ॥५॥ दण्डनीतिरेका विद्या इति औशनसाः ॥६॥ तस्यां हि सर्वविद्यारम्भाः प्रतिबद्धा इति ॥७॥ चतस्र एव विद्या इति कौटिल्यः ॥८॥ ताभिर्धर्मार्थौ यद्विद्यात्तद्विद्यानां विद्यात्वम् ॥९॥ —अर्थशास्त्र, २.१. १–९।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

२. नैतिक आचारों का वर्गीकरण

व्यावहारिक कर्त्तव्य और आचार ही नीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए आधार-भूत हैं। इनकी भित्ति पर ही नैतिक सिद्धान्तों का भवन खड़ा हो सकता है। भारतीय समाजशास्त्रियों ने सैद्धान्तिक विवेचन की अपेक्षा नीतिपरक जीवन का विस्तृत वर्णन किया है और नैतिक आचारों का शास्त्रीय वर्गीकरण। इसलिए इस वर्गीकरण पर पहले विचार कर लेना आवश्यक है। नैतिक आचार और कर्तव्य के लिए संस्कृत में 'धर्म' शब्द का ही व्यवहार हुआ है। धर्म का प्रयोग स्वगत आत्मगुण और धार्मिक पुण्य के अर्थ में भी हुआ है। नैतिक कर्त्तव्यों के वर्गीकरण के तीन आधार दिखाई पड़ते हैं। प्रथमतः, व्यक्ति का स्वगत परिष्कार और विकास ही नैतिक जीवन का उद्देश्य है। दूसरे, उसकी सामाजिकता अथवा समाज के साथ उसका सम्बन्ध। तीसरे, उसका पारमार्थिक कल्याण। यह वर्गीकरण धर्मशास्त्रियों, नैयायिकों, मीमांसकों और भक्तिमार्गियों ने अपने-अपने ढंग से किया है। निम्नांकित पंक्तियों में इसी क्रम से वर्गीकरण का विवेचन किया जायगा।

(१) धर्मशास्त्रीय वर्गीकरण

धर्मशास्त्र में सर्वप्रथम मनुस्मृति में नैतिक आचरण के वर्गीकरण का प्रयत्न पाया जाता है। मनु द्वारा इसके तीन विभाग किये गये हैं :[१]

(अ) सामान्य धर्म;
(आ) वर्णाश्रम-धर्म और
(इ) आपद्धर्म

(अ) सामान्य धर्म :

यह वह नैतिक आचरण है, जो मनुष्य-मात्र का कर्त्तव्य है। इसमें वर्ण (सामाजिक स्तर), आश्रम (जीवन की अवस्था), सम्प्रदाय (धार्मिक विश्वास), लिङ्ग (स्त्री अथवा पुरुष), वय (आयु) आदि की अपेक्षा नहीं। इसमें देश और काल का भी भेद नहीं है। यह सार्वभौम और सार्वजनीन है। मनु[२] ने इसके अन्तर्गत दस धर्मों की परिगणना की है :

१. धृति (प्रतिकूल परिस्थिति में दृढता);
२. क्षमा (दूसरे के अपराध को भूल जाना);
३. दम (विनियोग अथवा नियोजन);
४. स्तेय (अचौर्य);

---

१. मनुस्मृति, अध्याय १—३।

१. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधः दशकं धर्मलक्षणम् ।।—मनुस्मृति, ६.९२।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

५. शौच (पवित्रता);
६. इन्द्रिय-निग्रह (इन्द्रिय-भोगों का नियंत्रण);
७. धी (बुद्धिमत्ता अथवा विवेक);
८. विद्या (शास्त्रीय ज्ञान अथवा आध्यात्मिक ज्ञान);
९. सत्य (वास्तविक परिज्ञान के अनुसार कथन और आचरण) और
१०. अक्रोध (इच्छा के विरुद्ध कार्य होने पर मन के प्रतिक्रियात्मक आवेग का अभाव)।

यदि ऊपर की सूची पर दृष्टिपात किया जाय, तो स्पष्ट जान पड़ेगा कि सामान्य धर्म के अन्तर्गत भारतीय नीतिशास्त्र ने मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और पूर्णता पर मुख्यतः ध्यान दिया है और उसको वाहरी बन्धनों—भौतिक और सामाजिक—से मुक्त वनाने की चेष्टा की है। मनुष्य भौतिक और सामाजिक परिस्थितियों के बीच रहता हुआ भी स्वतः पूर्ण और मुक्त रह सकता है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन यहाँ किया गया है। इस नैतिक सिद्धान्त का कर्म-सिद्धान्त से घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिसके अनुसार मनुष्य को स्वयं अपने निजी कर्म का फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है। इसमें समाज और परिस्थितियाँ मनुष्य की सहायता नहीं कर सकतीं। इसमें आत्मा ही अपना मित्र और आत्मा ही अपना शत्रु है।[1] वह अपने वन्ध और मोक्ष का स्वतः कारण है। इसलिए मनुष्य का सर्वोत्तम और अन्तिम नैतिक कर्त्तव्य अपने प्रति है। अन्तिम विश्लेषण में सामाजिक कर्त्तव्यों का समावेश और अन्तर्भाव साधारण धर्म में ही हो जाता है।

(आ) वर्णाश्रम-धर्म :

मनुष्य की प्रकृति के आधार पर वर्ण और व्यक्तिगत संस्कार के आधार पर आश्रम-धर्म की व्यवस्था की गई है। ये विशिष्ट धर्म हैं। इनका आधार मनुष्य की विशिष्ट योग्यता और पात्रता है। मनुष्य के गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर समाज में उसका पद अथवा स्थान निश्चित होता है और प्रत्येक पद अथवा स्थान के लिए कर्त्तव्यों का विधान है। इन्हीं को वर्णधर्म कहा गया है।[2] इसी प्रकार मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन का क्रमशः संस्कार और विकास होता है और उसमें क्रमिक अवस्थाएँ होती हैं, जिनको आश्रम कहते हैं। प्रत्येक आश्रम के लिए मनुष्य-जीवन के संस्कार के आधार पर कर्त्तव्यों का विधान धर्मशास्त्र में किया गया है। सम्पूर्ण सामाजिक कर्त्तव्यों का विवेचन वर्णाश्रम के आधार पर ही हुआ है। यहाँ मनुष्य परिस्थितियों में रहनेवाला सामाजिक प्राणी है। परस्परावलम्वन, सहकारिता और सामाजिक व्यवस्था की अधीनता

---

१. उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो वन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥—गीता, ६.५।

२. सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत्॥ आदि—मनुस्मृति १, ८७-९१।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उसके जीवन के आधार हैं। वह सामाजिक व्यवस्था में स्वाधीन अथवा मुक्त नहीं; परस्पराधीन और परस्परावद्ध है। इस प्रकार का सामाजिक कर्त्तव्य-पालन सामाजिक स्थिति, विकास और समृद्धि के लिए आवश्यक है। परन्तु यह जीवन का चरम लक्ष्य नहीं। यह सोपान है मनुष्य की व्यक्तिगत पूर्णता और स्वतन्त्रता के लिए। इसलिए वर्णाश्रम-धर्म का पालन कर चुकने पर मनुष्य पुनः पूर्ण और मुक्त होने के लिए आध्यात्मिक स्वराज्य की कामना और साधना करता है।[१]

(इ) आपद्धर्म :

किसी आकस्मिक और असाधारण परिस्थिति के उत्पन्न होने पर अपने बचाव. अस्तित्व और पुनर्विकास के लिए व्यक्ति को इस बात की छूट थी कि वह अपने विशिष्ट कर्त्तव्यों को कुछ समय के लिए स्थगित कर दे और दूसरे वैकल्पिक कर्त्तव्यों से अपना निर्वाह करे।[२] परन्तु विकल्प भी धर्मशास्त्र से विहित होना चाहिए। अविहित विकल्प अपनाने से वह पतित हो जाता है। सामान्यतः ब्राह्मण किसी असाधारण परिस्थिति में क्षत्रिय अथवा वैश्य-धर्म से अपना निर्वाह कर सकता था; क्षत्रिय वैश्यधर्म के पालन से और वैश्य शूद्रधर्म के पालन से। शूद्र का निम्नतम सामाजिक स्तर था; अतः उससे नीचे जाने की आवश्यकता नहीं थी। सामान्य धर्म के पालन के सम्बन्ध में कोई छूट नहीं थी; इसका पालन तो प्राण को संकट में डालकर भी करना चाहिए। "यदि धर्म-पालन में क्लेश भी होता हो, तो अधर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। अधार्मिक पापियों का शीघ्र विनाश होता है।"[३]

(२) न्याय-वैशेषिक वर्गीकरण

पदार्थों के वर्गीकरण के समान धर्म अथवा कर्त्तव्य का वर्गीकरण भी **सामान्य** और **विशेष** दो मुख्य वर्गों में किया गया है। प्रशस्तपाद[४] के अनुसार सामान्य धर्म सभी आश्रमों और वर्णों पर समान रूप से लागू होता है। विशेष धर्म मनुष्य के सामाजिक पद (वर्ण) अथवा जीवन में अवस्था (आश्रम) के अनुसार होता है।

(अ) सामान्य धर्म में प्रशस्तपाद ने निम्नांकित सामान्य धर्मों की गणना की है :

१. श्रद्धा (धर्म में आस्था अथवा विश्वास;

---

१. मनुस्मृति, अध्याय २–४।

२. मनुस्मृति, अध्याय १०।

३. न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।
अधार्मिकानां पापानां आशु पश्यन् विपर्ययम्॥ मनु०, ४-१७१।

४. प्रशस्तपाद : वैशेषिकदर्शन पर भाष्य।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

२. मनःप्रसाद (धार्मिक कृत्य में प्रसन्नता);
३. अहिंसा (प्राणियों को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना),
४. भूतहितत्व (सभी जीवधारियों का हित करना);
५. सत्यवचन (सत्य बोलना);
६. आस्तेय (चोरी न करना);
७. ब्रह्मचर्य (यौनकर्म में अनासक्ति);
८. अनुपधा (उद्देश्य की शुद्धि);
९. क्रोध-वर्जन (क्रोध का त्याग);
१०. अभिषेचन (स्नान; शारीरिक शुद्धि);
११. शुचिद्रव्यसेवन (पवित्र पदार्थों का सेवन; आहार-शुद्धि);
१२. विशिष्ट देवता-भक्ति (किसी एक देवता में विशेष भक्ति);
१३. उपवास (विशेष विहित अवसरों पर भोजन न करना) और
१४. अप्रमाद (सभी नित्य-नैमित्तिक कर्मों का सावधानी से अवश्यम्भावेन; सम्पादन करना)।

इन सामान्य धर्मों के पालन के सम्बन्ध में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि केवल बाह्य रूप से इनका पालन करना पर्याप्त नहीं है। पालन के पूर्व संकल्प अथवा दृढ निश्चय (मानसिक भूमिका में जागरूकता) होना चाहिए। केवल अधर्म की निवृत्ति पर्याप्त नहीं; इससे धर्म नहीं उत्पन्न होता। धर्म की उत्पत्ति के लिए निश्चित रूप से संकल्प और प्रवृत्ति होनी चाहिए।[1] उदाहरण के लिए, 'अहिंसा' अर्थात् प्राणियों को कष्ट न पहुँचाना कर्त्तव्य का एक निषेधात्मक अंग है। इसका वस्तुगत अथवा व्यावहारिक रूप तो तब होगा, जब सम्पूर्ण जीवधारियों के साथ द्रोह न करने का निश्चित दृढ संकल्प हो।[2] इसी प्रकार अस्तेय दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण न करना-मात्र नहीं है, अपितु दूसरे के सत्त्व का किसी भी परिस्थिति में अपहरण न करने का दृढ संकल्प है।[3] ऐसे ही ब्रह्मचर्य मैथुन से विरत होना मात्र नहीं, किन्तु केवल वासना की वृद्धि के लिए मैथुन-त्याग का दृढ मानसिक संकल्प है।[4] अनुपधा अथवा भावशुद्धि भी आन्तरिक संकल्प है कि सभी कर्त्तव्यों का पालन शुद्ध भाव से करना चाहिए, किसी व्यक्तिगत स्वार्थ अथवा प्रदर्शन के लिए नहीं।[5] क्रोध-वर्जन भी केवल बाहरी आचार-मात्र नहीं, आन्तरिक मानसिक संकल्प है।[6]

---

१. 'निवृत्ते धर्मो न भवति, न तु धर्मो जायते।' (प्रशस्तपाद के भाष्य पर न्यायकन्दली)
२. भूतानामनभिद्रोहः संकल्पः।
३. अशास्त्रपूर्वकं परस्वग्रहणं मया न कर्त्तव्यं, न तु परस्वादाननिर्वृत्तिमात्रम्।
४. ब्रह्मचर्यः स्त्रीसेवावर्जनं तदपि सङ्कल्परूपम्।
५. विशुद्धेन अभिप्रायेण कृतानां कर्मणां धर्मसाधनत्वात्।
६. सोऽपि सङ्कल्परूपः।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

(आ) वशेष धर्म :

नैयायिकों के अनुसार भी विशिष्ट धर्म से तात्पर्य है वर्णाश्रम-धर्म, अर्थात् चार वर्णों और चार आश्रमों के अपने पृथक्-पृथक् धर्म। प्रथम तीन वर्णों के साधारण विशेष कर्त्तव्य हैं इज्या (यजन), अध्ययन और दान। ब्राह्मण के निजी विशिष्ट कर्त्तव्य हैं याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह। इसके अतिरिक्त स्ववर्णविहित संस्कार अथवा जीवन-पद्धति ब्राह्मण के लिए अपनी होती है। केवल क्षत्रिय के लिए विशिष्ट कर्त्तव्य हैं प्रजापालन, असाधु-निग्रह, युद्ध में अनिवर्त्तन और स्वकीय वर्णसंस्कार। वैश्य के लिए विशिष्ट धर्म हैं क्रय, विक्रय, कृषि और पशुपालन। शूद्र के विशेष कर्म हैं पूर्ववर्ण-पारतंत्र्य और अमांत्रिक क्रिया।

इसी प्रकार चारों आश्रमों के अलग-अलग विशेष धर्म हैं। ब्रह्मचारी के विशिष्ट धर्म हैं गुरु-शुश्रूषा, इन्धन-आहरण, अग्नि में होम और भिक्षाचरण। गृहस्थ (कृतदार) के निम्नलिखित विशिष्ट कर्त्तव्य हैं :

१. पञ्च महायज्ञों का नित्य अनुष्ठान

(अ) ब्रह्मयज्ञ (वेदाध्ययन, स्वाध्याय);

(आ) देवयज्ञ (देवताओं के लिए होम);

(इ) पितृयज्ञ (पितरों के लिए श्राद्ध);

(ई) मनुष्ययज्ञ (अतिथि-सत्कार) और

(उ) भूतयज्ञ (जीवधारियों के लिए वलि-प्रदान)।

२. नियमानुकूल सन्तानोत्पत्ति और ब्रह्मचर्य का पालन। (ऋतुकाल में स्त्री-गमन और ऋत्वन्तर में ब्रह्मचर्य)।

वानप्रस्थ के विशिष्ट धर्म वल्कलादि-धारण, केशादि-धारण, वन से प्राप्त फल-मूल का भोजन और अतिथि-शेष-भोजन हैं। यति अथवा संन्यासी के विशिष्ट धर्म हैं श्रद्धा, चित्तप्रसाद, सर्वभूतों के लिए नित्य अभय, यम और नियम का अप्रमाद के साथ पालन, स्व-कर्मों का संन्यास और वैशेषिक दर्शन के षड् पदार्थों के सम्यक् ज्ञान का चिन्तन करते हुए योग-प्रसाधन। यम के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह सम्मिलित हैं। नियम में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान का समावेश है। यमों का सम्बन्ध आत्मनिग्रह से है और इनका स्वरूप निषेधात्मक है। नियमों का सम्बन्ध स्वानुभूति से है और आत्मविकास के ये वस्तुगत नियम हैं।

(३) मीमांसक वर्गीकरण

मीमांसकों ने भी नैतिक कर्त्तव्यों का वर्गीकरण किया है। परन्तु, इनके वर्गीकरण का आधार न्याय-वैशेषिक के सामान्य और विशेष तथा धर्मशास्त्रियों के साधारण (सामान्य) और विशेष (वर्णाश्रम) से भिन्न है। प्रथमतः कर्त्तव्यों का विभाजन उन्होंने दो वर्गों में किया है—१. लौकिक (व्यावहारिक) और २. शास्त्रिक अथवा पारमार्थिक। लौकिक कर्त्तव्य दृष्टार्थक हैं, अर्थात् उनके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उद्देश्य और फल दृष्ट अथवा इन्द्रियग्राह्य हैं। शास्त्रिक अथवा पारमार्थिक कर्त्तव्य अदृष्टार्थक हैं, अर्थात् उनके उद्देश्य और परिणाम इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं। प्रथम वर्ग के कर्त्तव्यों में प्रेरणा और निर्देश पार्थिव अथवा मानव है; दूसरे प्रकार के कर्त्तव्य में प्रेरणा और आदेश शास्त्रीय अथवा धार्मिक है। लौकिक कर्त्तव्यों का प्रामाणिक मूल्य शास्त्रीय स्तर का नहीं है। शास्त्रीय कर्त्तव्यों का अतर्कनीय नैतिक आधार है, जो स्वतः प्रमाण है, जब कि लौकिक कर्त्तव्यों का आधार मानव अनुभव परतःप्रमाण है।

शास्त्रिक अथवा पारमार्थिक कर्त्तव्यों का पुनः विभाजन दो उपवर्गों में किया गया है—१. काम्य कर्म और नित्य-नैमित्तिक कर्म। काम्य कर्म वे हैं, जिनका करना अथवा नहीं करना व्यक्ति की इच्छा अथवा विकल्प पर अवलम्बित है। नित्य-नैमित्तिक कर्म वे हैं, जो अनिवार्य रूप से व्यक्ति को करना है। काम्य कर्मों के शास्त्रीय होते हुए भी जबतक कर्त्ता के मन में उनके करने की कामना अथवा इच्छा न हो, तबतक उनका करना आवश्यक नहीं। नित्य तथा नैमित्तिक कार्य कर्त्ता की इच्छा की अपेक्षा नहीं रखते। उनको नित्य अथवा जब कभी निमित्त उपस्थित हो, करना अनिवार्य है। उदाहरण के लिए, पञ्चमहायज्ञ गृहस्थ के लिए नित्य कर्म हैं। चन्द्रग्रहण अथवा सूर्यग्रहण के अवसर पर नदी अथवा समुद्र में स्नान नैमित्तिक कर्म हैं।

शास्त्रिक कर्त्तव्यों के दो वर्ग और किये गये हैं—१. विधि और २. निषेध। प्रत्येक काम्य कर्म को करने के पूर्व कर्त्ता के मन में कामना होती है। शास्त्र का उद्देश्य यह होता है कि वह कर्त्ता की कामना की सिद्धि के लिए उचित मार्ग का विधान करे। कामनाएँ विहित और निषिद्ध दोनों प्रकार की होती हैं। निषेध अवांछनीय कामनाओं के निरोध की प्रेरणा देता है।

(४) भक्तिमार्गी वर्गीकरण

भक्तिमार्ग में ईश्वर अथवा पुरुषोत्तम गुणों का संदोह अथवा भाण्डार है। उत्तम गुणों की पूर्णता उसी में पायी जाती है। वही नैतिक आदर्श है। मनुष्य के कर्त्तव्यों का अनुमान ईश्वर के गुणों से ही किया जा सकता है। ईश्वर का दिव्य व्यक्तित्व ही मानव का अनुकरणीय है। नैतिक आदर्श के रूप में ईश्वर की कल्पना उसमें शुभ और कल्याणकारी गुणों का आरोप करती है। भगवान् अखिल-हेय-प्रत्यनीक है, अर्थात् वह प्राणिमात्र के सम्पूर्ण दोषों और अपूर्णताओं का उसी प्रकार निराकरण करता है, जिस प्रकार प्रकाश अंधकार का। सांसारिक पुरुषों के साथ अटूट सम्बन्ध में ही ईश्वर के पुरुषत्व की पूर्णता है। ईश्वर में ज्ञान की कल्पना का अर्थ है कि वह अपनी सृष्टि के जीवधारियों को, जो अपने हिताहित के सम्बन्ध में अबोध हैं, प्रज्ञ बनाता है।[१] इसी प्रकार ईश्वर में शक्ति

१. ज्ञानम्, अज्ञानां चेष्टनानां हिताहितनिरूपणोपयोगिगुणत्वात्। (लोकाचार्य का तत्त्वत्रय)।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

की कल्पना का अर्थ है कि वह दुर्बल जीवधारियों को सशक्त बनाकर अपने कल्याण की प्राप्ति में उनको समर्थ बनाता है।[१] भगवान् में क्षमा का आरोप अपराधी किन्तु अनुतापयुक्त व्यक्तियों के सुधार के लिए है। उसमें दया आर्त्त के लिए, आर्जव धूर्त्त के लिए और मार्दव संकोची के लिए है।[२] भगवान् के इन गुणों की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्तियों में पात्रता की साधना करनी पड़ती है; जैसे भगवान् से क्षमा की प्राप्ति के लिए अपराधी में पश्चात्ताप आवश्यक है, शील की प्राप्ति के लिए मन्द में नम्रता होनी चाहिए आदि।

भगवान् के दिव्य व्यक्तित्व पर आधृत यह भक्तिमार्गी नीति-निरूपण मनु और प्रशस्तपाद की सामाजिक और मीमांसा की मनोवैज्ञानिक नीति से भिन्न है। इसके अनुसार मनुष्य भगवान् के दिव्य व्यक्तित्व की प्रतिमूर्त्ति है। मनुष्य का परम पुरुषार्थ इस बात में है कि वह मानव और दिव्य की इस एकात्मकता का अनुभव करे और ईश्वर में आरोपित पूर्णता का अपने में उत्तरोत्तर विकास करे।

भारत में प्रचलित नीति के विभिन्न और विविध वर्गीकरणों के निरीक्षण से यह प्रकट होता है कि भारतीयों ने सामाजिक और व्यक्तिगत कर्त्तव्यों के अतिरिक्त सर्वतोनिष्ठ अथवा अतिवैयक्तिक-सामाजिक कर्त्तव्यों को भी स्वीकार किया था। वास्तव में, ये ही सर्वतोनिष्ठ कर्त्तव्य सामाजिक और व्यक्तिगत कर्त्तव्यों के आधार हैं। मानव की सार्वभौम नीति के भी ये ही आधार हैं। सामाजिक और व्यक्तिगत कर्त्तव्य इसी से अनुप्राणित और इसी के विशिष्ट रूप हैं। नीति की इस कल्पना में जीवन के विभिन्न कर्त्तव्यों का समन्वय पाया जाता है। इसमें मानव के प्रतिबद्ध सामाजिक कर्त्तव्यों के साथ-साथ उसकी नैतिक स्वायत्तता का भी पूर्ण विकास है। यही भारतीय नीति की विशेषता है।

३. भारतीय नीति के स्रोत

भारतीय दार्शनिकों और समाजशास्त्रियों ने धर्म, धर्मतत्त्व, धर्मशास्त्र और नीति को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया है। इनका वर्णन और विवेचन प्रायः साथ-ही-साथ हुआ है। उपर्युक्त विषयों में धर्म ही मौलिक माना जाता था। इसलिए उसी के उद्गम के अनुसंधान में नीति के स्रोत अथवा उद्गम का अनुसंधान हो जाता है।

सबसे पहले धर्मसूत्रों में धर्म के स्रोतों का विवेचन किया गया है। गौतम-धर्मसूत्र के अनुसार, 'वेद धर्म का मूल है। उसको जाननेवाले (ऋषियों) की स्मृति और शील भी (धर्म का मूल है)।'[३] आपस्तम्ब के अनुसार '(धर्म के लिए)

---

१. शक्तिः अशक्तानां हिताहितप्राप्तिपरिहारोपयोगिगुणत्वात्।

२. ज्ञानम् अज्ञानां, शक्तिः अशक्तानां, क्षमा सापराधानां, कृपा दुःखिनां, वात्सल्यं सदोषानां, शीलं मन्दानां, आर्जवं कुटिलानां, सौहार्दं दुष्टहृदयानां, मार्दवं विश्लेषभीरूणाम्।

३. वेदो धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले। (१.१–२)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

धर्मज्ञों की सम्मति प्रमाण है और वेद भी'।[१] गौतम ने जहाँ वेदों को प्रधानता दी है, वहाँ आपस्तम्ब ने 'धर्मज्ञों' को। वसिष्ठ-धर्मसूत्र में धर्म के स्रोतों का थोड़ा और विस्तार किया गया है: "श्रुति और स्मृति में जो विहित है वह धर्म है। उनके अभाव में शिष्टाचार प्रमाण है और शिष्ट वह है, जिसमें अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की कोई कामना न हो।"[२]

धर्मसूत्रों में परिगणित धर्म के स्रोतों का और अधिक स्पष्टीकरण स्मृतियों में हुआ है। मनुस्मृति में निम्नांकित धर्म के स्रोत बतलाये गये हैं: "सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है और उसको जाननेवाले (ऋषियों) की स्मृति और शील भी; साधुओं का आचार तथा आत्मतुष्टि।"[३] याज्ञवल्क्यस्मृति मनुस्मृति का प्रायः अनुसरण करती है: "श्रुति, स्मृति, सदाचार, अपने आत्मा को प्रिय (विवेक) और सम्यक् संकल्प से उत्पन्न कामना धर्म के मूल कहे गये हैं।"[४] याज्ञवल्क्य ने धर्म के चौदह स्थानों का भी उल्लेख किया है: "पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छः वेदाङ्ग और चार वेद ये चौदह धर्म के स्थान हैं।"[५] याज्ञवल्क्य ने धर्म की प्रयोजक स्मृतियों की इस प्रकार परिगणना की है: "मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना, अंगिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शंख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप और वसिष्ठ।"[६] ज्ञात स्मृतियों की संख्या १०८ से ऊपर पहुँच चुकी है। प्रायः सभी मुख्य स्मृतियों के ऊपर अनेक भाष्य और टीकाएँ लिखी गई हैं, जो परवर्त्ती लेखकों द्वारा प्रमाण रूप से उद्धृत की जाती हैं। इनमें मनुस्मृति के ऊपर मेधातिथि और कुल्लूक के भाष्य, याज्ञवल्क्य-स्मृति के ऊपर अपरार्क और विज्ञानभिक्षु की टीका (मिताक्षरा) तथा पराशरस्मृति के ऊपर माधवाचार्य का भाष्य (पराशरमाधवीय) प्रसिद्ध हैं। भाष्यों और टीकाओं के साथ-साथ धर्मशास्त्र के संग्रह-ग्रन्थ—निबन्ध—

---

१. धर्मज्ञसमयःप्रमाणं वेदाश्च। (१.१.१–२)

२. श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्।
शिष्टः पुनरकामात्मा।

३. वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनः तुष्टिरेव च ॥(२.६)

४. श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् सङ्कल्पजः कामः धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥ (१.७)

५. पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ (१.७.३)

६. मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः।
यमापस्तम्बसंवर्त्ताः कात्यायनबृहस्पती ॥
पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्र-प्रयोजकाः ॥ (१.७, ४–५)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भी धर्म और नीति के ऊपर प्रमाण माने जाते हैं। इसमें लक्ष्मीधर का कृत्य-कल्पतरु, आपणभट्ट की स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि का चतुर्वर्गचिन्तामणि, मित्रमिश्र का वीरमित्रोदय आदि निबन्ध-ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। भारतीय वाङ्मय में रामायण और महाभारत यद्यपि क्रमशः काव्य और इतिहास माने जाते हैं, तथापि काल-क्रम से उन्होंने धर्म-संहिता और नीति के विशाल भाण्डार का रूप धारण कर लिया है। परवर्त्ती धर्मशास्त्रकारों ने व्यवहार और नीति की समस्याओं पर उनसे प्रभूत अवतरण उद्धृत किये हैं।[1]

बौद्ध और जैन सम्प्रदाय मुख्यतः धार्मिक और नैतिक आन्दोलन थे। विशिष्ट सामाजिक धर्म और नीति उनके प्रतिपाद्य विषय नहीं थे। उन्होंने मनुष्य के सामान्य अथवा साधारण धर्म का ही विस्तार से विवेचन किया है। बौद्धधर्म में शील और सम्यक् आचार पर विशेष वल दिया गया है, जैनधर्म में पञ्चमहाव्रत और सम्यक्चारित्र्य पर।

उपर्युक्त धर्म अथवा नीति के स्रोतों का निरीक्षण करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मुख्य भारतीय विचारधारा में नीति के मूलस्रोत परम्परा और शास्त्र हैं, जबकि प्राचीन यूनान में नीति का आधार युक्ति और तर्क माने जाते थे। अब यह विचार करना है कि किस सीमा तक वस्तुतः परम्परा और शास्त्र नीति के आधार थे और भारतवर्ष में इनको इतना अधिक महत्त्व क्यों दिया गया है। साथ ही विभिन्न स्रोतों के सापेक्ष स्थान और प्रामाण्य का विवेचन भी आवश्यक है। अन्त में यह भी देखना है कि इनसे नियंत्रित होते हुए भी नीति का क्रमशः विकास किस प्रकार हुआ है।

सम्पूर्ण प्रमाणों के मोटे तौर पर दो वर्ग किये गये हैं—१. स्वतःप्रमाण और २. परतःप्रमाण। स्वतःप्रमाण में केवल श्रुति अथवा वेद आते हैं। अन्य सब स्रोतों की गणना परतःप्रमाण में की जाती है। वेदों का स्वतः और सर्वप्रधान प्रामाण्य उनकी नित्यता के सिद्धान्त पर आधृत है। वेदों की नित्यता विभिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न प्रकार से प्रतिपादित की गई है। पुराण तथा उनसे सम्बद्ध साहित्य में वेदों के प्रादुर्भाव अथवा साक्षात्कार का कल्पित वर्णन पाया जाता है, जो विश्वास और आस्था पर आधृत है। अतः इसका विशेष विवेचन नहीं हो सकता। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ये विश्वास अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे हैं और सजीव हैं। न्याय-दर्शन के अनुसार 'सर्वज्ञ स्रष्टा अथवा ईश्वर से वेद उत्पन्न हुए हैं; अतः वेद शुद्ध निस्सन्दिग्ध और सनातन प्रमाण हैं।' मीमांसा-दर्शन के दो सम्प्रदायों ने दो प्रकार से वेदों की नित्यता स्वीकार की है। एक सम्प्रदाय के अनुसार जो ईश्वर में विश्वास करता है, प्रत्येक कल्प के प्रारम्भ में ईश्वर अपनी स्मृति के आधार पर वेदों का उच्चारण अथवा निःश्वास करता है। यह सम्प्रदाय प्रकारान्तर से सनातन परम्परा

---

१. महाभारत के शान्तिपर्व और वनपर्व नीति की दृष्टि से विशेष महत्त्व के हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और वेदों के अनादित्व एवं नित्यत्व को प्रतिपादित करता है। मीमांसा का दूसरा सम्प्रदाय निरीश्वरवादी है। वह पहले सम्प्रदाय का प्रतिवाद इस युक्ति से करता है कि ईश्वर की सर्वज्ञता और नित्यता स्वतन्त्र रूप से सिद्ध नहीं की जा सकतीं; इसके लिए भी वेदों का ही अवलम्बन करना पड़ता है। अतः, वेदों से अनुमित ईश्वर की सर्वज्ञता स्वतः विश्वसनीय नहीं है। यह सम्प्रदाय स्वतन्त्र रूप से वेदों को नित्य और अपौरुषेय मानता है। इसके मत में श्रुति के विधि और निषेध स्वतः प्रमाण हैं। मीमांसा के समान सांख्य-दर्शन के भी दो सम्प्रदाय हैं—(१) सेश्वर और निरीश्वर। सेश्वर सांख्य नीति के सम्बन्ध में ईश्वर को आदि गुरु मानता है और उसके अनुसार सम्पूर्ण धर्म और नीति उसी से ही प्रारम्भ होती है। निरीश्वर सांख्य इस सिद्धान्त को नहीं मानता। उसके अनुसार वेद ईश्वर की अपेक्षा नहीं रखते। वे अपौरुषेय और स्वतः प्रमाण हैं। वेदान्त-दर्शन का सिद्धान्त सेश्वर मीमांसा और सेश्वर सांख्य से मिलता-जुलता है। इसके अनुसार वेद ईश्वर से प्रकाशित होते हैं, किन्तु ईश्वर नित्य वेदों को पूर्वकल्पों के अनुसार अपनी स्मृति से प्रकाशित करता है। वेदों की नित्यता के सम्बन्ध में विभिन्न सम्प्रदायों में मतभेद है, परन्तु सभी इस बात पर एकमत हैं कि वेद अनादि और नित्य हैं। आधुनिक विचार-सरणि में किसी शास्त्र अथवा साहित्य का अपौरुषेयत्व अथवा अनादित्व बिलकुल असंगत माना जायगा। किन्तु, यह कठिनाई केवल भारतीय चिन्तन-धारा में ही नहीं है। यह 'साक्षात्कार' अथवा 'इलहाम' में विश्वास रखनेवाले धर्मों के साथ समान रूप से वर्त्तमान है। भारतीय धर्मविज्ञानियों ने जिस तर्क-पद्धति से वेदों की अपौरुषेयता और नित्यता सिद्ध करने का प्रयास किया है उसका थोड़ा और स्पष्टीकरण आवश्यक है। श्रुति अस्मरणीय अनादि परम्परा से हमें प्राप्त हुई है। कब और किसने इसका साक्षात्कार अथवा उच्चारण किया, यह कोई नहीं बतला सकता। श्रुति के कर्त्ता का अनुसंधान असंभव है; अतः श्रुति को अनादि और नित्य मानना स्वाभाविक था। परन्तु श्रुति के साथ एक दूसरी कठिनाई यह कि उसमें बहुत-सी असंगत और काल्पनिक सामग्री पाई जाती है, जो प्रमाण-कोटि में नहीं आ सकती। इसके निराकरण के लिए मीमांसकों ने वेदों की व्याख्या-पद्धति का विकास किया। इसके अनुसार वेदों में चार प्रकार की सामग्री है—(१) विधि, (२) अर्थवाद, (३) मन्त्र और (४) नामधेय। वेदों का मुख्य उद्देश्य है किसी अज्ञात ज्ञान का प्रकाश करना, किसी क्रिया को करने का आदेश देना अथवा किन्हीं कर्मों का निषेध करना। ये सभी विधि के अन्तर्गत आते हैं। वेद के जिन पाठों का सम्बन्ध पदार्थों के नाम से है, उनकी गणना नामधेय के अन्तर्गत होती है। जो पाठ हमें कर्तव्य कर्मों का स्मरण दिलाते हैं वे मन्त्र कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त वेद में जो कुछ सामग्री है, वह 'अर्थवाद' के अन्तर्गत आती है। अर्थवाद के विषय हैं निन्दा, स्तुति, परकृति और पुराकल्प। मीमांसकों के अनुसार अर्थवाद प्रमाण की कोटि में नहीं आता।

२

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इस व्याख्या-पद्धति के द्वारा मीमांसक और दूसरे सम्प्रदायवाले भी वेदों के बहुत-से पाठों का निराकरण तथा स्पष्टीकरण कर देते हैं। उदाहरण के लिए, वेदों के पाठ, जिनमें सहस्रवर्षीय यज्ञों का विधान है, स्पष्टतः अर्थवाद के अन्तर्गत आते हैं। वास्तव में वेदों का मुख्य उद्देश्य है मानव के सामने उस ज्ञान का प्रकाश करना, जिसकी जानकारी दूसरे स्रोतों अथवा प्राकृतिक इच्छामात्र से नहीं होती। प्रकृति अथवा युक्ति से प्राप्य ज्ञान के लिए किसी साक्षात्कार, श्रुति अथवा अपौरुषेय प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

वेद की इस व्याख्या-पद्धति का भारतीय धर्म और नीति के ऊपर गम्भीर और व्यापक प्रभाव पड़ा। इसके अनुसार धर्म अथवा नीति कोई सामान्य व्यावहारिक कर्म नहीं है। साधारण लोग चाहे किसी कर्म को व्यापक अर्थ में धर्म अथवा नीति मान लें, किन्तु धर्मविज्ञानियों के मत में वह तबतक धर्म अथवा नीति नहीं होगा, जबतक उसके अनुष्ठान के फल और उसमें कोई अदृष्ट अथवा अपूर्व सम्बन्ध न हो। अदृष्ट का अर्थ है, जो दिखाई न पड़े, स्पष्ट न हो अथवा रहस्यमय हो। अपूर्व का तात्पर्य है, जो श्रुति के अतिरिक्त और किसी साधन से निश्चित न किया जा सके। इस सम्बन्ध को श्रुति अथवा धर्मशास्त्र ही बतला सकता है। यह श्रद्धा अथवा विश्वास के समान है, जो आकांक्षित वस्तुओं के स्वयं तत्त्वरूप और अदृष्ट पदार्थों के प्रमाण हैं। इस विश्वास ने धर्म और नीति को एक दूसरे से प्रायः अभिन्न बना दिया है और नीति को धर्म से अलग करना असंभवप्राय है।

सिद्धान्त रूप में वेद अथवा श्रुति सम्पूर्ण धर्म और नीति का मूल कही गई है। परन्तु, धर्मशास्त्र में विहित सभी धार्मिक और नैतिक नियमों को वेद में ढूँढ़ निकालना कठिन है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि धर्म और नीति के आधारभूत और मौलिक तत्त्व वेदों में वर्त्तमान हैं और उनसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से परवर्त्ती नैतिक विकास का क्रम जोड़ा जा सकता है। वेदों में ऋत, सत्य, व्रत और धर्म का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। स्त्री, पुरुष, गार्हस्थ्य और समाज के वर्णन में समाज-नीति और राष्ट्र, राजा, सभा और समिति आदि के वर्णन में राजनीति का विवेचन मिलता है। जिन नियमों का मूल अथवा सूत्र वेदों में नहीं पाया जाता है, उसके लिए धर्मशास्त्रकारों ने 'लुप्त-श्रुति' की कल्पना कर ली है। लुप्त-श्रुति का सिद्धान्त मान लेने पर ऐसा कोई परवर्त्ती धार्मिक अथवा नैतिक नियम नहीं होगा, जिसका आधार वेद में न रहा हो। इस विश्वास के ऊपर एक ही प्रतिबन्ध है कि श्रुति असंगत अथवा असंभव व्यवस्था का प्रतिपादन नहीं करती।

श्रुति अथवा वेद के पश्चात् स्मृति धर्म तथा नीति के लिए स्रोत अथवा प्रमाण है। यद्यपि सिद्धान्ततः स्मृतियाँ परतःप्रमाण हैं, अर्थात् उनका प्रामाण्य वेदों पर आधृत है, तथापि नीति का विस्तृत विवेचन सर्वप्रथम स्मृतियों में ही पाया जाता है। मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, नारद, पराशर आदि से लेकर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अबतक १०८ से ऊपर स्मृतियों का पता लग चुका है। इन स्मृतियों के प्रतिपाद्य विषयों में परस्पर अन्तर, भेद और संघर्ष भी पाया जाता है। अव प्रश्न यह है कि स्मृतियों का प्रामाण्य किस प्रकार स्वीकार किया जाय। इस सम्बन्ध में धर्मशास्त्रकारों के विभिन्न मत हैं। एक मत के अनुसार सभी स्मृतियाँ समान रूप से प्रामाणिक हैं, क्योंकि वे ऋषिकृत हैं और अंततोगत्वा नित्य, शुद्ध और स्वतःप्रमाण वेद के ऊपर आधृत हैं। परन्तु व्यवहार में ऐसा मानने से अव्यवस्था उत्पन्न होने की आशंका है। वास्तव में विभिन्न स्मृतियाँ विभिन्न देश, काल और परिस्थितियों में लिखी गई थीं। इसलिए परिस्थितियों के अनुसार उनमें भेद होना अनिवार्य था। कुछ स्मृतिकारों ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि विभिन्न स्मृतियाँ विभिन्न युगों के लिए लिखी गई थीं।[1] उनके अनुसार मनुस्मृति कृतयुग के लिए, गौतम त्रेतायुग के लिए, शङ्ख-लिखित द्वापर के लिए और पराशरस्मृति कलियुग के लिए लिखी गई थी। यह होते हुए भी स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म और नीति को सनातन माना गया है। इसमें सन्देह नहीं कि धर्मशास्त्र में ऐसे सामान्य अथवा साधारण धर्म और नीति के नियम हैं, जो स्थायी अथवा सनातन माने जा सकते हैं, फिर भी उनमें विशिष्ट एवं व्यावहारिक नियमों का इतना बाहुल्य है, जिनका देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार बदलना आवश्यक है। देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार धर्म और नीति के व्यवहार में बराबर परिवर्त्तन होता आया है। स्वयं स्मृतिकारों[2] ने निम्नलिखित आधारों पर परिवर्त्तन के सिद्धान्त को स्वीकार किया है :

१. युगधर्म,
२. युगह्रास,
३. आपद्धर्म,
४. अधिकारभेद और
५. शक्तिभेद।

नीति का तीसरा स्रोत आचार अथवा प्रथा है। धर्मसूत्रों में यह कहा गया है कि धर्म साक्षात् सामने खड़ा होकर यह नहीं बतलाता कि यह नीति है अथवा अनीति। शिष्ट पुरुषों के आचार से ही नीति-अनीति का स्पष्ट ज्ञान होता है। वास्तव में व्यावहारिक नीति के विकास का बहुत सहज माध्यम सदाचार रहा है। धर्मशास्त्रों में निम्नलिखित प्रकार से आचार का विभाजन और विवेचन किया गया है :

---

१. अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः॥ मनुस्मृति, १–८५।
कृते तु मानवाः धर्मास्त्रेतायां गौतमः स्मृतः।
द्वापरे शङ्खलिखितौ कलौ पाराशरः स्मृतः॥ पराशरस्मृति, १-२३।

२. पाराशरमाधवीय, दे० बाम्बे संस्कृत-सिरीज, सं० ४७, जिल्द १, भाग १, पृ० २६-२७।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

१. देशाचार,
२. जात्याचार और
३. कुलाचार।

इस वर्गीकरण से स्पष्ट है कि आचार अथवा प्रथा का रूप तबतक स्थिर और मान्य नहीं होता, जबतक कि वह सामूहिक तथा परम्परागत नहीं होता। महाभारत में तो श्रुति और स्मृति के भेदों को देखते हुए उनके ऊपर भी आचार को महत्त्व दिया गया है।[१]

नीति का चौथा स्रोत आत्मतुष्टि अथवा सम्यक् संकल्प से उत्पन्न काम (सहज प्रवृत्ति) है। दूसरे शब्दों में शुद्ध अन्तःकरण से उत्पन्न विवेक कार्याकार्य में प्रमाण है।[२] इस स्रोत का व्यक्तियों द्वारा दुरुपयोग हो सकता है। इसलिए शास्त्रकारों ने उसपर प्रतिबन्ध लगा रखा। उनके अनुसार आत्मतुष्टि अथवा व्यक्तिगत विवेक नैतिक आचरण के लिए स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। जहाँ श्रुति-स्मृति में स्पष्ट विधि है, वहाँ इसके विरुद्ध आत्मतुष्टि का उपयोग नहीं हो सकता। जहाँ श्रुतियों और स्मृतियों में एक ही विषय पर कई विधान हों, उनमें केवल विकल्प करने के लिए आत्मतुष्टि का उपयोग हो सकता है।[३] जिन विषयों पर शास्त्र चुप है, वहाँ ही आत्मतुष्टि का अवलम्बन किया जा सकता है।

याज्ञवल्क्यस्मृति ने धर्म के उपर्युक्त स्रोतों के अतिरिक्त पुराण, न्याय तथा मीमांसा को भी धर्म का 'स्थान' (स्रोत) माना है। पुराण का उल्लेख अथर्ववेद, शतपथब्राह्मण, बृहदारण्यक-उपनिषद् और छान्दोग्य-उपनिषद् जैसे प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है। वास्तव में मूल पुराण वेदों के समकालीन और संभवतः उनसे भी पुराने हैं। इसीलिए उनको पञ्चम वेद अथवा वेदों का भी वेद कहा गया है। पुराणों के आख्यान, कथा और गाथाओं में आचार और नीति-सम्बन्धी अनेक सन्दर्भ और उपदेश हैं। भारतीय जनता इनका श्रवण करती और इनसे प्रभावित होती आई है। रामायण और महाभारत काव्य तथा इतिहास होते हुए भी आचार तथा नीति-सम्बन्धी वर्णनों और विचारों के भाण्डार हैं। विशेषतः महाभारत का शान्तिपर्व तो नैतिक विवेचनों के लिए सुप्रसिद्ध है। मानव-जीवन की शायद ही कोई ऐसी परिस्थिति हो, जिसके ऊपर महाभारत से प्रकाश न पड़ता हो। भीष्मपर्व में वर्णित गीता कर्मयोग आचार-शास्त्र की एक सुदृढ आधार-शिला है।

---

१. श्रुतयो विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना नैको ऋषि यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥
वनपर्व, ३१३, ११७।

२. मनुस्मृति, २-६; याज्ञवल्क्य, १-७।

३. वैकल्पिके आत्मतुष्टिः प्रमाणम् (कुल्लूक की मनु (२-६) पर टीका); आत्मनः प्रियं वैकल्पिके विषये (याज्ञ० (१-७) पर मिताक्षरा)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

धर्मशास्त्रकारों में से कुछ ने न्याय, तर्क अथवा बुद्धि को धर्माधर्म, नीति-अनीति के विचार में प्रमाण माना है। गौतम ने न्याय को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। मनु श्रुति और स्मृति के विरोध में इसे मान्य नहीं करते। याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, नारद और कौटिल्य ने उचित सीमा के भीतर न्याय अथवा तर्क की उपयोगिता स्वीकार की है। जहाँ स्मृतियों के प्रविधानों में परस्पर विरोध हो, वहाँ याज्ञवल्क्य और नारद के अनुसार न्याय अथवा युक्ति का आश्रय लेना चाहिए।[1] कौटिल्य का मत स्पष्ट न्याय और तर्क के पक्ष में है। उनके अनुसार श्रुति-स्मृति और न्याय में जहाँ संघर्ष हो, वहाँ श्रुति-स्मृति का परित्याग कर न्याय को मानना चाहिए।[2] वास्तव में स्मृतियाँ सिद्धान्त रूप में श्रुति का विरोध नहीं करना चाहतीं, किन्तु व्यवहार में अप्रत्यक्ष रूप से युग-प्रतिकूल श्रुति-विहित आचारों का उन्होंने परित्याग किया है।

मूलतः मीमांसा का विकास श्रुति अथवा वेद के गुह्य, अनिश्चित तथा संदिग्ध पाठों की व्याख्या करने के लिए हुआ था। शबर और कुमारिल ने अपने सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए उदाहरण केवल वैदिक पाठों से ही लिया है। आगे चलकर स्मृतियों के परस्पर-विरोधी पाठों के स्पष्टीकरण और समन्वय के लिए भी मीमांसा के सिद्धान्तों का उपयोग होने लगा। वास्तव में मीमांसा ने काल-क्रम से एक ऐसी तर्क-पद्धति को विकसित किया, जिसके द्वारा विरोधी परिस्थितियों में न्याय-अन्याय तथा नीति-अनीति के सम्बन्ध में विवेचन किया जा सकता है। धर्मशास्त्रकार तो स्मृतियों के अन्तर्विरोधों में सामञ्जस्य दिखाने में इसका उपयोग करते हैं। न्यायालयों में इसका उपयोग तर्क अथवा युक्ति के रूप में होता था। न्याय की तरह मीमांसा भी सिद्धान्ततः श्रुति-स्मृति का विरोध नहीं करती, किन्तु व्यवहार में अप्रत्यक्ष रूप से उनका अतिक्रमण करती है।

मध्ययुग में यह विश्वास दृढमूल हो गया कि कलियुग में ऋषियों का जन्म नहीं हो सकता। इसका परिणाम यह हुआ कि आठवीं शती के बाद नई स्मृतियों का प्रणयन बन्द हो गया। किन्तु नई परिस्थितियों का उत्पन्न होना बन्द नहीं हुआ। अब प्रश्न यह था कि इन नई परिस्थितियों का सामना और समाधान कैसे किया जाय। समाजशास्त्रियों और नीतिविशारदों ने एक नये मार्ग का अवलम्बन किया। उन्होंने प्राचीन धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों पर भाष्य करना और उनका संग्रह करना प्रारम्भ किया। नवीन शास्त्र-रचना के नाम से तो वे कुछ कर नहीं सकते थे। अतः उन्होंने अर्थ और व्याख्या के नाम से नई परिस्थितियों का समाधान प्राचीन ग्रन्थों में ढूँढ़ निकालने का प्रयास किया।

---

१. धर्मशास्त्रविरोधे तु युक्तियुक्तो विधिः स्मृतः। नारद, १.४०।
स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः॥ याज्ञवल्क्य, ५.२१।

२. शास्त्रं विप्रतिपद्येत धर्मन्यायेन केनचित्।
न्यायस्तत्र प्रमाणं स्यात्तत्रं पाठो हि नश्यति॥ अर्थशास्त्र, २.१।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भारतीय धर्म और नीति का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत, जिसका उल्लेख धर्मसूत्र और स्मृतियाँ प्रायः अन्त में करती हैं, परिषद् है। भारतीय धर्म और नीति के विकास में परिषद् का सामयिक और सक्रिय योग रहा है। धर्मशास्त्र के विविध विषयों का विवेचन और विधान करने के पश्चात् धर्मसूत्र और स्मृतियाँ इस वात को स्वीकार करती हैं कि उनसे कुछ विषयों के छूट जाने की संभावना है और भविष्य में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं, जिनमें नये विधान की आवश्यकता हो सकती है। ऐसी दशा में वे इस वात का निर्देश करती हैं कि ऐसे छूटे, संदिग्ध और नवोत्थित प्रश्नों पर विद्वत्परिषद् समय-समय पर विचार करे और अपना निर्णय दे। यह परिषद् प्रायः दशावरा होती थी, अर्थात् इसके दस प्रवर सदस्य होते थे।[1] इनमें तीन तीन वेदों के विशेषज्ञ, एक तर्कविद्, एक नैयायिक, एक नैरुक्तिक, एक धर्मशास्त्रज्ञ, एक स्नातक, एक गृहस्थ तथा एक वानप्रस्थ होते थे। यदि ऐसे दस प्रवर सुलभ न हों, तो तीन वेदज्ञ अथवा एक योग्य एवं निष्पक्ष वेदज्ञ ऐसे प्रश्नों पर निर्णय दे सकता था।[2]

जवतक धर्म और नीति का आधार 'समय' और 'आचार' था, तवतक परिषद् एक स्थायी संस्था के रूप में थी और समय-समय पर धार्मिक और नैतिक विधान की व्यवस्था करती थी। आगे चलकर जब विधान और व्यवस्थाएँ स्मृतियों के रूप में संगृहीत (संहिता) हो गईं, तव परिषद् का रूप अस्थायी हो गया। जव कभी कोई समस्या अथवा प्रश्न खड़ा होता था, तव कुछ विद्वान् मिलकर परिषद् का संयोजन कर लेते थे। इस प्रकार की अस्थायी परिषद् में अनाम्नात (अविहित), संशयग्रस्त और विप्रतिपन्न (विवादग्रस्त), परस्पर-विरोधी प्रश्नों पर विचार करके उनपर निर्णय किया जाता था। परिषद् सामयिक प्रश्नों पर विचार करके केवल व्यवस्था ही नहीं देती थी, अपितु उसका पालन भी कराती थी। इसके पीछे पूर्ण सामाजिक शक्ति थी। इसकी अवहेलना करनेवाला व्यक्ति समाज से वहिष्कृत हो जाता था। सातवीं, आठवीं शती तक परिषद् एक शक्तिशालिनी संस्था थी। मध्ययुग में राजनीतिक अव्यवस्था के कारण ज्यों-ज्यों जनमत दुर्वल होता गया और सामन्तवादी निरंकुश शासन दृढ होता गया, त्यों-त्यों परिषद् की शक्ति घटती गई। शुक्रनीतिसार के अनुसार उसका स्थान पण्डित नामक मंत्री ने ले लिया, जो मंत्रिपरिषद् अथवा राजा को धार्मिक समस्याओं पर परामर्श देता था। परिषद् का तिरोभाव वास्तव में भारत के धार्मिक और नैतिक इतिहास में एक दुःखद घटना थी। इससे सामाजिक परिष्कार का एक बहुत सवल माध्यम लुप्त हो गया।

---

१. अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः॥
दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत्।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत्॥ मनु., १२.१०९-११० :

१. मनु०, १२. १११-११४।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

धर्म और नीति के उपर्युक्त स्रोतों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि यद्यपि सिद्धान्ततः धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्रों में विहित विधि और नियम सनातन माने जाते हैं, तथापि उनमें समयानुसार बराबर आवश्यक परिवर्त्तन होता आया है। भारत में अपने अतीत के प्रति गम्भीर श्रद्धा और सामयिक समस्याओं की अनुभूति के समन्वय का यह सुन्दर उदाहरण है। परिस्थितियों और पर्यावरण के साथ सामञ्जस्य बनाये रखना सामाजिक और वैयक्तिक जीवन का लक्षण है। इस कथन का यह उद्देश्य नहीं कि कोई सनातन और सार्वभौम नैतिक सिद्धान्त नहीं है; इसका केवल यही तात्पर्य है कि नीति के व्यावहारिक नियमों में समय-समय पर आवश्यक परिष्कार और परिवर्त्तन होता आया है। श्रुति और स्मृति में स्वतःप्रमाण और परतःप्रमाण का अन्तर होते हुए भी स्मृतियाँ श्रुति के परवर्त्ती काल का प्रतिनिधित्व करती हैं। सदाचार का समाज और न्यायालय दोनों में बराबर आदर होता आया है। आत्मतुष्टि, न्याय और मीमांसा परिवर्त्तनों और सुधारों के प्रेरक और पोषक तत्त्व रहे हैं। इनके अतिरिक्त भाष्यकारों और निबन्धकारों ने भी अप्रत्यक्ष रूप से अपने समय की नैतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति की है। किसी भी अविहित और नये प्रश्न पर परिषद् अपना विचार और व्यवस्था करके समय-समय पर समाज को संयत किन्तु अग्रेसारित करती आई है। युगधर्म, युगह्रास, कलिवर्ज्य, आपद्धर्म आदि के सिद्धान्तों से समाज का बराबर नियंत्रण, परिष्कार, और परिवर्द्धन होता आया है। अनेक विपत्तियों और विषम परिस्थितियों से गुजरते हुए भी भारतीय समाज के जीवित और वर्द्धमान बने रहने का यही रहस्य है।

४. नीति का मनोवैज्ञानिक आधार : प्रवृत्ति और उसका विश्लेषण

भारतीय नीति के स्रोतों के विवेचन के सम्बन्ध में यह देखा गया है कि भारतीय नीतिशास्त्रियों ने नीति का आधार प्रायः धर्म, विधि तथा सामाजिक प्रथाओं में ढूँढ़ा है और श्रुति, स्मृति और परम्परा को उसका आधार माना है। संभवतः यूनान को छोड़कर सभी प्राचीन संस्कृतियों ने यही किया है। जिन नैतिक प्रश्नों पर बाहरी प्रमाण मौन हैं, उन्हीं को निर्णीत करने के लिए आत्म-तुष्टि अथवा व्यक्तिगत नैतिक विवेक प्रमाण माना गया है। परन्तु श्रुति, स्मृति और सामाजिक परम्परा का सम्बन्ध नीति के बाह्याचरण से है। अतः ज्यों-ज्यों चिन्तन का विकास हुआ, त्यों-त्यों नीति का आधार मनुष्य के आन्तरिक जीवन में ढूँढ़ने का प्रयास किया गया। यह अनुभव किया गया कि सारी क्रियाएँ—नैतिक और अनैतिक—मानव-चित्त से उद्भूत होती हैं। अतः कार्याकार्य की नैतिकता और अनैतिकता का मूल आधार भी वही है। जबतक मनुष्य अपने भौतिक वेगों से अभिभूत अथवा बाहरी प्रमाणों से प्रेरित और आदिष्ट रहता है, तबतक उसके नैतिक दायित्व का प्रश्न नहीं उठता। जब वह अपने कर्म-स्वातन्त्र्य का अनुभव करता है, तभी उसके नैतिक दायित्व का उदय होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने मन को 'चित्त' कहा है और इसमें मन, बुद्धि और अहंकार तीनों का समावेश किया है।[१] यह सत्त्व, रज और तम तीन गुणों से प्रभावित होता है और गुणविशेष की प्रधानता के अनुसार इसकी वृत्तियाँ और भूमियाँ बदलती रहती हैं। यह तत्त्वतः अचेतन है, किन्तु इसमें आत्मा का प्रतिविम्ब पड़ने से यह चेतन बन जाता है। इन्द्रियों द्वारा विषयों के सम्पर्क में आने से यह उनमें प्रवाहित अथवा प्रवृत्त होने लगता है। जब पुरुष का चैतन्य इसमें प्रतिबिम्बित होता है, तब ऐसा भास होता है कि यही भोक्ता है। वास्तव में चित्त दृश्य है और पुरुष द्रष्टा। कारणरूप में चित्त सर्वव्यापी आकाश के समान होता है, परन्तु कार्यरूप में जितने पुरुष हैं, उतने चित्त हो जाते हैं। पुरुष जितने प्रकार के शरीर धारण करता है, उनके अनुसार चित्त का संकोच और प्रसार होता रहता है। योगशास्त्र का यह उद्देश्य है कि वह कार्यचित्त को वृत्तियों के निरोध द्वारा मूल कारणचित्त की अवस्था में ले जाय।

चित्त के ऊपर जो छाप पड़ती है, उसके पीछे संस्कार बनते जाते हैं, जिनसे रुचि, इच्छा और स्वार्थ उत्पन्न होते हैं। चित्त के कार्य से भावी कार्य की संभावनाएँ और संभावनाओं से पुनः संभावनाएँ घटित होती हैं। इस प्रकार, संसार-चक्र निरन्तर चलता रहता है। चित्त के इन सम्बन्धों से आवेग, वासनाएँ और इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। इनसे व्यक्तित्व का उद्भव होता है। सांसारिक जीवन इन्हीं वासनाओं और इच्छाओं का परिणाम है। व्यक्तित्व अथवा अहंकार सांसारिक अनुभव पर अवलम्बित होता है। पाँच क्लेशों से आक्रान्त होने के कारण आहंकारिक जीवन क्षुब्ध और अतृप्त रहता है। ये पाँच क्लेश अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश हैं। नित्य में अनित्य, शुचि में अशुचि, प्रिय में अप्रिय और आत्म में अनात्म की भ्रांति अविद्या है। आत्मा को अहंकार से अभिन्न समझकर यह कहना कि 'मैं (अहंकार) हूँ', अस्मिता है। संसार के प्रिय विषयों में आसक्ति राग और अप्रिय विषयों से घृणा द्वेष है। जीवन के प्रति सहज मोह और मृत्यु का भय, अर्थात् देहात्मबुद्धि अभिनिवेश है। इस संसार-चक्र से स्वतन्त्रता तभी मिलती है, जब आत्मा और कार्यचित्त के सम्बन्ध का विच्छेद होता है। जब आत्मा चित्त से मुक्त होता है, तब अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। तब वह द्रष्टा-रूप में चित्त की क्रियाओं को देखने लगता है।

चित्त की एकाग्रता और निरोध ही कार्याकार्य के चुनाव का आधार है। चित्त की पाँच भूमियाँ होती हैं। रजोगुण के आधिक्य और विषयों के भँवर में पड़कर जो चित्त की अवस्था होती है, उसको 'क्षिप्त' कहते हैं। तमोगुण की अधिकता से यह मूढ (मोहित) अवस्था में पड़ जाता है। जन्मजात दोष अथवा आकस्मिक विपत्ति से चित्त विक्षिप्त हो जाता है। इन तीनों अवस्थाओं में

---

१. चित्तशब्देन अन्तःकरणं बुद्धिमुपलक्ष्यति। योगसूत्र १.१ पर वाचस्पति।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तमोगुण अथवा रजोगुण की प्रधानता के कारण चित्त सुख तथा दुःख से आन्दोलित होता रहता है। जब चित्त किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित और ध्यान किसी एक विषय में रत रहता है, तब उसकी एकाग्रावस्था होती है। इसमें सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है। चित्त के उच्चतम संतुलन की यह भूमिका है। जब चित्त का प्रवाह बिलकुल रुक जाता है, तब वह निरुद्ध कहलाता है। यद्यपि सुषुप्त संस्कार इस भूमिका में भी नष्ट नहीं होते, तथापि चित्तवृत्तियों का प्रवाह निरुद्ध हो जाता है। चित्त की पूर्ण शुद्धि के लिए केवल इसका निरोध पर्याप्त नहीं है। सुषुप्त वासनाओं और संस्कारों का क्षय भी आवश्यक है। यह स्थिति समाधि में उत्पन्न होती है। समाधि के भी दो स्तर होते हैं—संप्रज्ञात समाधि और असंप्रज्ञात समाधि। संप्रज्ञात समाधि में प्रापञ्चिक वस्तुओं के विविध सम्बन्धों की चेतना और स्मृति बनी रहती है। असंप्रज्ञात समाधि में ये दोनों भी लुप्त हो जाते हैं और पुरुष अपने-आप में समाधिप्रज्ञ होकर परम शान्ति को प्राप्त होता है। चित्त की एकाग्रता, निरोध और समाधि केवल योग और आध्यात्मिक साधना के लिए ही आवश्यक नहीं, किन्तु व्यावहारिक आचरण में भी वांछनीय हैं।

इस प्रकार नीति की भूमिका चित्त की प्रवृत्तियों के विश्लेषण में है। इस विश्लेषण में मनोवैज्ञानिक उद्देश्य—उपयोगिता अथवा सुविधा का विचार—विशेष महत्त्व का है। ऐच्छिक तथा स्वतः कार्यों में भेद भी अपना महत्त्व रखता है। अनैच्छिक तथा आकस्मिक कार्यों के नैतिक दायित्व का प्रश्न इसी से उत्पन्न होता है। इच्छा में स्वातंत्र्य की चेतना अथवा बोध नैतिक दायित्व के विचार में सबसे अधिक महत्त्व का है। इच्छा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण विशेष कर न्याय-वैशेषिक दर्शन में हुआ है। वैशेषिक दर्शन के ऊपर अपने भाष्य में प्रशस्तपाद ने तथा विश्वनाथ और नव्य नैयायिकों ने इस विषय का विस्तृत विवेचन किया है। प्रशस्तपाद ने मुख्यतः ऐच्छिक और स्वतः क्रियाओं के भेद पर ही विचार किया है। नव्य नैयायिकों का विवेचन इससे अधिक व्यापक है। ये केवल ऐच्छिक और स्वतःक्रियाओं के भेद पर ही विचार नहीं करते, किन्तु ऐच्छिक क्रियाओं के उद्देश्य का सूक्ष्म विश्लेषण भी प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय विचारकों ने ऐच्छिक अथवा नैतिक तथा स्वतः अथवा अनैतिक क्रियाओं के भेद को स्पष्ट रूप से समझा था। प्रशस्तपाद ने 'प्रयत्न' का वर्गीकरण दो श्रेणियों में किया है—१. जीवनपूर्वक और २. इच्छाद्वेषपूर्वक। जीवनपूर्वक वह प्रयत्न है, जिसका कारण अथवा पूर्वरूप पिण्ड के जीवन में निहित रहता है। इच्छाद्वेषपूर्वक प्रयत्न किसी इच्छा अथवा द्वेष से प्रेरित होता है। जीवनपूर्वक प्रयत्न जीव की स्वतः शारीरिक क्रियाओं से सम्बन्ध रखते हैं। इच्छाद्वेषपूर्वक प्रयत्न का सम्बन्ध मनुष्य की ऐच्छिक क्रियाओं से है, जिनको वह जान-बूझकर चुनावपूर्वक करता है। इन दोनों प्रकार की क्रियाओं के परिणाम होते हैं। मनुष्य की स्वतःक्रियाओं से उसकी शारीरिक आवश्यकताओं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

की पूर्त्ति होती है। इसी प्रकार ऐच्छिक क्रियाओं से हित-प्राप्ति और अहित-परिहार होता है। साथ-ही-साथ इससे शरीर का विधारण भी होता है। इस विश्लेषण में एक विशेष बात ध्यान देने की यह है कि शरीर-विधारण के लिए, स्वतःक्रियाओं के अतिरिक्त, ऐच्छिक क्रियाएँ भी आवश्यक हैं।

विश्वनाथ की 'सिद्धान्तमुक्तावली' के ऊपर महादेव के पुत्र दिनकरभट्ट की 'दिनकरी टीका' में भी मनुष्य की ऐच्छिक तथा स्वतःक्रियाओं के भेद का विवेचन किया गया है। इसके अनुसार कृति अथवा प्रयत्न को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—१. प्रवृत्ति, २. निवृत्ति और ३. जीवन-योनि-प्रयत्न। प्रवृत्ति क्रियात्मक इच्छा है, जिसके अनुसार प्रिय अथवा वांछनीय का चुनाव किया जाता है। निवृत्ति निषेधात्मक क्रिया है, जिसके द्वारा अप्रिय अथवा अवांछनीय का परित्याग होता है। जीवन-योनि-प्रयत्न उन क्रियाओं को कहते हैं, जो जीवन-धारण के लिए पिण्ड में स्वतः होती रहती हैं। प्रथम दो वर्ग की क्रियाओं में कर्त्ता की स्वेच्छा काम करती है। तीसरे में कर्त्ता की स्वतंत्र इच्छा (स्वेच्छाधीन-मत्कृतिसाध्य) की अपेक्षा नहीं होती। इस प्रकार दिनकरी के अनुसार ऐच्छिक क्रियाओं से केवल शरीर की स्वतः क्रियाएँ नहीं अलग कर दी गई हैं, अपितु वे सम्पूर्ण सचेतन क्रियाएँ भी, जिनमें कर्त्ता की स्वतंत्र इच्छा काम नहीं करती। अतः आवेश अथवा आवेग से अभिभूत होने पर जो क्रियाएँ की जाती हैं, उनमें मनुष्य का इच्छा-स्वातन्त्र्य नहीं रहता। इसलिए ऐसी क्रियाओं में नैतिक दायित्व भी कम हो जाता है।

ऐच्छिक और स्वतः क्रियाओं का अन्तर स्पष्ट करने के पश्चात् ऐच्छिक क्रियाओं का भी सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है।[१] कार्यता-ज्ञान (इस बात की चेतना कि कुछ करना है) चिकीर्षा (कार्य करने की इच्छा) के साथ सहकारी कारण बनकर मनुष्य में प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। प्रवृत्ति से चेष्टा (कार्य के लिए प्रयास) और चेष्टा से क्रिया (वास्तविक कार्य) की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार निम्नांकित क्रम से ऐच्छिक क्रिया की शृंखला चलती है:

१. कार्यता-ज्ञान,
२. चिकीर्षा,
३. प्रवृत्ति,
४. चेष्टा और
५. क्रिया।

जहाँतक कार्यता-ज्ञान का सम्बन्ध है, यह 'कुछ करना है' की केवल चेतना नहीं है, किन्तु कार्य के प्रतिसंधान और कर्त्ता के तादात्म्य (स्व-विशेषण) से उत्पन्न चेतना है। केवल चेतना सूचनामात्र है। इससे यह आवश्यक नहीं कि सूचनाप्राप्त मनुष्य कार्य में प्रवृत्त ही हो जाय। जब साध्य कार्य के साथ कर्त्ता

१. सिद्धान्तमुक्तावली में प्रभाकर का मत (गुरुमत)।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

का तादात्म्य होता है, तब कार्यताज्ञान प्रेरक हो जाता है, जिससे इच्छा और चुनाव उत्पन्न होते हैं। इसी को गागाभट्ट[१] 'स्वविशेषणवत्ताप्रतिसंधानजन्यकार्यताज्ञान' कहते हैं। उनके अनुसार कार्यताज्ञान दो प्रकार का होता है। 'मुझसे यह किया जा सकता है', यह एक रूप का ज्ञान है। 'यह मुझसे अवश्य किया जाना चाहिए' यह कार्य का दूसरा रूप है। प्रथम ज्ञान 'पदार्थनिष्ठयोग्यतागम्य' है; प्रवृत्ति के लिए कारण नहीं। दूसरा चिकीर्षा के द्वारा प्रवृत्ति का कारण है।

चिकीर्षा किसी कार्य को सम्पन्न करने की वह इच्छा है, जिसके बारे में यह ज्ञान प्राप्त हो चुका है कि वह किया जा सकता है। सिद्धान्तमुक्तावली में इसको 'कृतिसाध्यप्रकारिकाकृतिसाध्यक्रियाविषयिनीच्छा' कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि चिकीर्षा वह इच्छा है, जिसका प्रकार (रूप) स्वेच्छा से किया जानेवाला कार्य है।

न्याय-वैशेषिकों का यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक सुखवाद से मिलता-जुलता है, जिसके अनुसार कर्त्तव्य को कर्त्ता के स्वार्थ (इष्ट अथवा प्रिय) से अलग नहीं किया जा सकता। किन्तु यह स्वार्थ मानव-जीवन के स्व (अपने वास्तविक अर्थ = परमार्थ) का समकक्ष हो सकता है, जिसमें छोटे सामयिक स्वार्थ बहुत पीछे छूट जाते हैं और स्वस्थ मनुष्य सहज रूप से विना किसी फल की आशा से अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। भारतीय नैतिक सिद्धान्तों और आचारशास्त्र में अनासक्ति-भाव से विना किसी फलाशा के कर्त्तव्य करने पर पर्याप्त बल दिया गया है। सकाम कर्म बन्धन के कारण होते हैं, यह सिद्धान्त सर्वमान्य था। अतः जो बन्धन से मुक्ति चाहते हैं, उनको कर्म से कामना को अलग करना आवश्यक था। इसके कई मार्ग थे। प्रथम तो सांख्य अथवा ज्ञानमार्ग था, जिसके अनुसार पुरुष को कर्त्तृत्व का परित्याग कर कर्म के दायित्व से छुटकारा और फलतः कर्मफल से छुटकारा मिल जाता है। दूसरा मार्ग भक्ति का है, जिसके अनुसार सम्पूर्ण कर्म और उनके फल भगवदर्पित कर दिये जाते हैं। तीसरा मार्ग योग है, जिसके द्वारा जीव और ब्रह्म का ऐक्य हो जाता है और समत्वबुद्धि प्राप्त कर मनुष्य सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि सभी द्वन्द्वों और वैषम्यों से ऊपर उठ जाता है। चौथा मार्ग लोक-संग्रह अथवा लोक-कल्याण का है। इसके अनुसार मनुष्य क्षुद्र स्वार्थों को छोड़कर समष्टि-दृष्टि से अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है। भगवद्गीता के निम्नांकित वचन इस सम्बन्ध में उद्धृत किये जा सकते हैं:

> "तुम्हारा अधिकार केवल कर्म में है; फलों में कदापि नहीं।
> कर्मफल के हेतु से कार्य न करो; अकर्म में भी आसक्त न हो॥"[२]

---

१. भट्टचिन्तामणि।

२. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ २.४७

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इसलिए अनासक्त होकर सदा कर्त्तव्य कर्म का आचरण करो।
आसक्ति छोड़कर कर्म करता हुआ पुरुष परम पद पाता है ॥[१]
जो यज्ञ किया जाता है फल की आकांक्षा न रखनेवालों से विधिपूर्वक,
यज्ञ कर्त्तव्य है मन में यह निश्चय करके, वह सात्त्विक है ॥"[२]

इसी प्रकार महाभारत में युधिष्ठिर द्रौपदी से कहते हैं :

"हे राजपुत्रि ! धर्मफल की आकांक्षा से मैं आचरण नहीं करता।
दान इसलिए करता हूँ कि देना चाहिए; यज्ञ इसलिए करता हूँ कि यज्ञ कर्त्तव्य है
फल मिले अथवा नहीं, जिसे पुरुष को करना चाहिए।
घर में वास करते हुए, हे कृष्णे, उसे यथाशक्ति करता हूँ ॥
धर्म का आचरण करता हूँ, हे सुश्रोणि, धर्मफल की आकांक्षा छोड़कर।
शास्त्रों का अनुगमन करते हुए और सज्जनों के चरित्र को देखकर ॥
धर्म ऐसा है, मन में धारण कर, हे कृष्णे, तथा अपने स्वभाव से।
धर्म का वाणिज्य करनेवाला हीन और धर्मवादियों में जघन्य है ॥
वह धर्म का फल नहीं पाता जो धर्म को दुहने की इच्छा करता है।[३]

भारतीय नीति की एक और विशेषता रही है कि यह कर्त्तव्यों के विधान में व्यक्ति के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास और उसके सामाजिक पर्यावरण का ध्यान रखती है। इसके अनुसार सभी के लिए एक ही लक्ष्य और एक ही मार्ग का अनुसरण वांछनीय नहीं। जो कर्त्तव्य किसी सुसंस्कृत पुरुष के लिए अनुकूल पड़ेगा, वह असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य व्यक्ति के लिए नहीं। इसीलिए विविध मार्गों—कर्म, भक्ति और ज्ञान—की व्यवस्था है। अन्तिम ध्येय सबका एक ही है। किन्तु आगे-पीछे और जीवन के विविध मार्गों से वहाँतक पहुँचना है। जिनकी प्रवृत्ति कर्म की ओर है, वे शुभ कर्म करके उच्च पद–स्वर्ग–प्राप्त करते हैं।

---

१. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ (३.१९)

२. अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ (१७.११)

३. नाहं धर्मफलाकाङ्क्षी राजपुत्रि चराम्युत।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत ॥
अस्तु वात्र फलं मा वा कर्त्तव्यं पुरुषेण यत्।
गृहे निवसता कृष्णे यथाशक्ति करोमि तत् ॥
धर्मं चरामि सुश्रोणि न धर्मफलकारणात्।
आगमाननतिक्रम्य सतां वृत्तमवेक्ष्य च ॥
धर्म एव मनः कृष्णे स्वभावाच्चैव मे धृतम्।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम् ॥
न धर्मं फलमाप्नोति यो धर्मं दोग्धुमिच्छति। वनपर्व, ३१.२-६।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यद्यपि स्वर्ग-फल सनातन नहीं है, वे चित्त-शुद्धि द्वारा अपने ध्येय की ओर अग्रसर होते रहते हैं। जो भक्ति में अनुरक्त होते हैं, वे अपनी रागात्मक साधना से ब्रह्मसाक्षात्कार करते हैं। जो शुद्ध और प्रवुद्ध हैं, वे सच्चे ज्ञान द्वारा ब्रह्मोपलब्धि और मोक्ष प्राप्त करते हैं।

कर्त्तव्य, आनन्द और पूर्णता के सम्वन्ध में जितने मतवादी विचार पश्चिमी आचारशास्त्र में हुए हैं, उतने भारत में नहीं हुए हैं। किन्तु मानव-कर्त्तव्यों के अन्तिम लक्ष्य के सम्बन्ध में यहाँ पर्याप्त और सूक्ष्म विवेचन हुआ है। भारतीय नीतिशास्त्र की दृष्टि से मानव-कर्त्तव्यों के चार लक्ष्य (पुरुषार्थ) हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चार पुरुषार्थों में धर्म और अर्थ मूलतः लक्ष्य नहीं, साधन हैं, अर्थात् ये अन्य दो पुरुषार्थों काम और मोक्ष के साधन हैं। काम और मोक्ष दूसरे पुरुषार्थों के साधन नहीं, अपितु स्वतः लक्ष्य हैं। इन दोनों में मोक्ष उच्चतम और जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। किन्तु यह अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है क्या ? वेदान्त-दर्शन के अनुसार यह वह अवस्था है, जिसमें न केवल जीवन के सभी दुःखों और निरानन्दों का अन्त हो जाता है, अपितु सर्वोच्च और शुद्ध आनन्द की प्राप्ति होती है। यह आत्मसाक्षात्कार, आत्मा और ब्रह्म के अभेद का परिणाम है। काम का अर्थ है विषयों के अनुभव से उत्पन्न सुख। जो सुख अथवा आनन्द बाहरी विषयों के सम्पर्क से अथवा बौद्धिक तथा रागात्मक तृप्ति से प्राप्त होता है, वह काम है।[1] सौन्दर्य-बोध अथवा कला से उत्पन्न सुख भी काम के ही अन्तर्गत है। वास्तव में सुख और आनन्द दोनों ही चेतना की वांछनीय स्थिति का निर्देशन करते हैं। परन्तु, कतिपय नीतिशास्त्री सुख और आनन्द में अन्तर मानते हैं। उनके मत में सुख स्थूल इन्द्रिय-कामना का परिणाम है, जब कि आनन्द इससे ऊपर की आध्यात्मिक अनुभूति है। इसी प्रकार वहुत-से लोग काम को भी स्थूल इन्द्रिय-सुख मानते हैं। सच बात तो यह है कि काम और मोक्ष दोनों ही आनन्द की स्थिति के द्योतक हैं। अन्तर केवल यह है कि काम से उत्पन्न आनन्द सीमित होता है, जब कि मोक्ष से प्राप्त आनन्द अनन्त और अपरिमेय होता है। आत्मा का स्वरूप ही सच्चिदानन्द (सत् चित् आनन्द) है। आनन्द जीवन की चरम उपलब्धि है। मोक्ष में जीवन की पूर्णता और आत्मसाक्षात्कार दोनों निहित हैं।

यद्यपि काम मूलतः साध्य है और धर्म और अर्थ साधन हैं, तथापि ये तीनों परस्परावलम्बी हैं। अर्थ और धर्म की उपेक्षा करके काम की उपलब्धि हो ही नहीं सकती। काम का उपादान अर्थ और नियमन धर्म है। अतः काम का सेवन

---

१. इन्द्रियाणां च पञ्चानां मनसो हृदयस्य च।
विषये वर्त्तमानानां या प्रीतिरुपजायते।
स काम इति मे बुद्धिः कर्मणां फलमुत्तमम्।
महाभारत, वनपर्व, ३३.३७-३८।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

धर्म और अर्थ के ही द्वारा हो सकता है।[१] अर्थ न केवल काम के लिए आवश्यक है, अपितु धर्म अथवा कर्त्तव्य कर्म के सम्पादन के लिए भी आवश्यक है। इसी प्रकार वह सुख और आनन्द के लिए भी।[२] उपयोगिता के लिए गौण लक्ष्य प्रधान लक्ष्य बन जाते हैं। मोक्ष की दृष्टि से धर्म गौण लक्ष्य है, किन्तु जीवन के अन्य तीन पुरुषार्थों में इसको प्रधानता प्राप्त है। जहाँ धर्म तथा अर्थ अथवा धर्म और काम में विरोध हो, वहाँ धर्म ही वांछनीय है।[३] कई अतिवादी सम्प्रदायों ने धर्म, अर्थ और काम में से किसी एक अथवा दो को वांछनीय माना है। परन्तु भारतीय नीति के संतुलित दृष्टिकोण से तीनों का समुच्चय ही वांछनीय है।

जीवन के प्रथम तीन पुरुषार्थ परस्परावलम्वी माने गये हैं और धर्म अथवा कर्त्तव्य का पालन अन्य पुरुषार्थों की उपलब्धि के लिए विशेष रूप से सहायक माना गया है। कर्मकाण्डी अर्थ में तो धर्म का पालन अथवा यज्ञानुष्ठान इसीलिए किया जाता है कि उससे स्वर्ग की प्राप्ति हो।[४] परन्तु उत्तरोत्तर नैतिक अर्थ में 'कर्त्तव्य का पालन कर्त्तव्य के लिए' पर वल दिया जाने लगा। कर्मकाण्ड में भी कोई दृष्टफल न होने पर भी कर्त्तव्य का पालन अनिवार्य माना गया है।

जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की दो स्थितियाँ हैं—१. विदेहमुक्ति और २. जीवन्मुक्ति। प्रथम शरीर छोड़ने पर प्राप्त होती है और दूसरी जीवन में ही। जनक, व्यास आदि जीवन्मुक्त थे। जो लोग अपनी नैतिक और आध्यात्मिक साधना से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, उनके लिए कोई लौकिक कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता। परन्तु वे लोक-संग्रह और लोक-मंगल के लिए विना किसी प्रयास के अपने सांसारिक कर्त्तव्यों का पालन करते रहते हैं। इस प्रकार के कर्त्तव्य-पालन में किसी बन्धन अथवा उद्देश्य का प्रश्न नहीं रहता। जीवन्मुक्त अपनी स्वतंत्र इच्छा से सांसारिक कार्यों को करता है। ऐसे लोग परब्रह्म के चिन्तन में अपना समय विताते हैं और अहैतुकी भक्ति भी करते हैं।[५]

---

१. धर्मार्थाभ्यां कामं सेवेत।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ। भगवद्गीता, ७.११।

२. धनाद्धर्मः ततः सुखम्।

३. धर्मार्थकामाः किल तात लोके समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ते तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे भार्येव वश्याभिमता सुपुत्राः॥
यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा धर्मो यतः स्यात्तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता॥
रामायण, अयोध्या, २१. ५७-५८।

४. स्वर्गकामो यजेत।

५. आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥ श्रीमद्भागवत, १.७.१०।
सुशीलकुमार मैत्रः दि एथिक्स ऑफ् दि हिन्दूज़ (द्वितीय संस्करण)।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

द्वितीय व्याख्यान

नीति का विकास (१)

१. पूर्व वैदिक काल में नीति : धार्मिक रूप

भारत का प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद है। भारतीय ज्ञान-विज्ञान, कला-साहित्य, धर्म और संस्कृति आदि सभी का उद्गम और आधार इसी में पाया जाता है। भारतीय परम्परा और वर्गीकरण के अनुसार वेदों के तीन प्रमुख भाग हैं—१. कर्मकाण्ड, २. ज्ञानकाण्ड और (३) उपासना-काण्ड। इनके अन्तर्गत जीवन के सभी अंगों का समावेश हो जाता है। जीवन की पद्धति और आचार के सिद्धान्तों के रूप में नीति भी इन्हीं में समाविष्ट हो जाती है। अतः जीवन के विविध अंगों की भाँति नीति का भी प्रथम उन्मेष ऋग्वेद में प्राप्त होता है।

ऋग्वेद-संहिता जिस रूप में इस समय हमें उपलब्ध है, उसमें सभी विषयों का निरूपण 'देव' पद के अन्तर्गत हुआ है। प्रत्येक सूक्त का एक देवता है, अर्थात् प्रत्येक सूक्त का एक विषय है, जिसका बोध 'देव' पद से होता है। नीति का उद्गम और विकास भी उसी 'देव' पद के सहारे ढूंढ़ना होगा। सामान्यतः 'देव' की कल्पना में ही नैतिक तत्त्वों का मूल है। 'देव' शब्द की व्युत्पत्ति से इस-पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। 'देव' शब्द 'दिव्' धातु से बना है, जिसका अर्थ प्रकाशित होना अथवा करना है। यास्क के निरुक्त में इस शब्द की व्युत्पत्ति द्योतन, दीपन, दान, द्युस्थान में होने आदि से की गई है।[1] 'देव' पद के शाब्दिक अर्थ में ही, ज्ञापकता, दिव्यता, उच्चता, परोपकारिता आदि उच्च नैतिक गुण निहित हैं। देवताओं की कल्पना में एक और बात ध्यान देने की है। कतिपय धर्मविज्ञानियों ने धर्म और फलतः नीति की उत्पत्ति भय से मानी है। परन्तु ऋग्वेद में धर्म और नीति का उद्गम भय नहीं, अपितु ज्ञान, विश्वास और स्नेह है। ऋग्वेद के देव प्रकाश, ज्ञान, दान, दया आदि नैतिक तत्त्वों के अधिष्ठान हैं जिनको प्राप्त करने के लिए मानव उनकी ओर उन्मुख होता है। देवों के ये तत्त्व उनको प्रकृति की उन अनिष्टकारी शक्तियों से पृथक् करते हैं, जो अन्धकार, अज्ञान, उत्पीडन, शोषण आदि के अधिष्ठान हैं। यहाँ देव और राक्षस का अन्तर और द्वन्द्व स्पष्ट स्वीकार किया गया है। देव भी मानव पर क्रोध कर सकता है। किन्तु देव का क्रोध नैतिक अपराधों के दण्डरूप में ही दिखाई

१. देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद्वा। निरुक्त, दैवतकाण्ड, १.५।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पड़ता है, केवल उत्पीडन के लिए नहीं। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि 'देव' विश्व की कल्याणकारी शक्तियों का अधिष्ठान है और 'राक्षस' अनिष्ट-कारी शक्तियों का।

जब हम कहते हैं कि 'देव' कल्याणकारी है, तो प्रश्न उठता है कि 'कल्याण' से हमारा क्या तात्पर्य है। इसका सामान्यतः अर्थ यह है कि देवता शुभ, सत्य, हित आदि के धारक और दाता तथा अशुभ, असत्य, अहित आदि के नाशक और निवारक हैं। शुभ, सत्य, हित आदि के लिए ऋग्वेद में एक शब्द 'ऋत' का व्यवहार हुआ है। इसका व्यवहार में अर्थ है योग्य, सुव्यवस्थित और शुभ। किन्तु इसका धात्वर्थ अथवा मूल अर्थ गति अथवा व्यवस्था है। विश्व का नियमन और संचालन, यज्ञ की प्रक्रिया और विधान और नैतिक आचरण की विधि और पालन ऋत से ही गतिमान् और सुव्यवस्थित होते हैं। इस सम्बन्ध में सत्य और असत्य आचरण का अन्तर भी विशेष महत्त्व का है। मानव-व्यवहार को ऋग्वेद दो भागों में विभक्त करता है, जिसको देव देखता है। मानव के सत्याचरण को 'ऋजु' और असत्याचरण को 'वृजिन' (वक्र) कहा गया है। सूर्य अन्धकार को दूर करता हुआ, ऊपर चढ़ता हुआ, प्रकाश फैलाता हुआ मानव के 'ऋजु' और 'वृजिन' आचरणों को देखता जाता है। इस प्रकार देव नैतिक आचरण का प्रहरी, दर्शक और उद्बोधक है।

प्रत्येक देव की कल्पना में कोई-न-कोई नैतिक तत्त्व निहित है। परन्तु मुख्य रूप से ऋग्वेद में वरुण नीति का अधिष्ठाता है। अतः वरुण का विवेचन भारतीय नीति के उद्गम और विकास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। वरुण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह सर्वत्र, सर्वज्ञ और मानव के सम्पूर्ण कर्मों का साक्षी है :

"७. जो वरुण अन्तरिक्षचारी पक्षियों का मार्ग और समुद्र की नौकाओं का मार्ग जानते हैं;

८. जो दृढव्रत बारह महीनों को उनके दिनों के साथ जानते हैं और उस महीने (अधिक मास) को भी जानते हैं, जो पीछे उत्पन्न होता है;

९. जो वरुणदेव विस्तृत, शोभन और महान् वायु का भी पथ जानते हैं और ऊपर आकाश में निवास करनेवाले देवों को भी।

१०. धृतव्रत और शोभनकर्मा वरुण, सर्वज्ञ अपने प्रासाद में सिंहासन के ऊपर सार्वभौम साम्राज्य के लिए बैठते हैं।

११. वहाँ से सर्वदर्शी देव देखते हैं सभी विचित्र और गुप्त घटनाओं को, जो अतीत में घटित हुई हैं अथवा भविष्य में होंगी।

१२. वे ही सर्वज्ञ, अच्छे यज्ञ करनेवाले, अदिति के पुत्र (वरुण) हमें सदा सुपथ से ले चले और हमारी आयु बढ़ावें।

१३. वरुण सुनहले वस्त्र पहनकर अपने स्वस्थ शरीर को ढकते हैं। उनके गुप्तचर चारों ओर बैठे हुए हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

१४. जिस वरुणदेव से शत्रु शत्रुता नहीं करते, जनद्रोही जिन्हें पीडा नहीं पहुँचा सकते और पापाचारी जिसके सम्मुख पाप नहीं कर सकते।"[१]

इस प्रकार के देव में विश्वास नीति के अन्तर्यामी और अतिरेकी दोनों पक्षों को पुष्ट करता है। कोई स्थान अथवा क्षण नहीं है, जहाँ वरुण का अस्तित्व नहीं। अतः उसकी सत्ता में विश्वास करनेवाले के लिए अनीति तथा पापाचरण के हेतु कोई अवसर नहीं।

वरुण की इच्छा की अभिव्यक्ति ही व्रत, धर्म, ऋत, दक्ष, यज्ञ आदि है और उनका अतिक्रमण ही अपराध अथवा पाप है :

"हे सर्वव्यापी वरुण! हम भूत, वर्त्तमान और भविष्य में तुम्हारे लिए नमस्कार करेंगे; क्योंकि पर्वत के समान अचल तुममें सभी अच्युतव्रत आश्रित हैं।[२]

हे देव वरुण! संसार के अन्य प्राणियों के समान हम आपके व्रत को दिन-प्रतिदिन भंग करते हैं। हे वरुण! अनादर कर और घातक बन कर हमारा वध करने के लिए प्रहार नहीं करना। क्रुद्ध होकर हनन नहीं करना।[३]

हे वरुण! हम मनुष्य दिव्यजनों (देवताओं) के साथ जो अभिद्रोह करते हैं और असावधानी के कारण जिस तुम्हारे धर्म की अवज्ञा की है, उन सब पापों के कारण हे देव! हमें हानि न पहुँचाना।[४]

---

१. वेदो वो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः॥
वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उपजायते॥
वेद वातस्य वर्तनि मुरोर्ऋष्वस्य बृहतः। वेद ये अध्यासते॥
नि षसाद धृतव्रता वरुणः पस्त्या ३ स्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः॥
अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभिपश्यति। कृतानि या च कर्त्वा॥
स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत्। प्रण आयूंषि तारिषत्॥
विभ्रद्द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम्। परिस्पशो निषेदिरे॥
न यं दिप्सन्ति दिप्सवो न द्रुह्वाणो जनानाम्। न देवमभिमातयः॥
ऋग्वेद, १.२५. ७-१४।

२. नमः पुरा ते वरुणोत नूनमुतापरं तु विजात ब्रवाम।
त्वे हि कं पर्वते न श्रितान्यप्रच्युतानि दूलभ व्रतानि॥ ऋग्वेद २. २८.८.।

३. यच्चिद्धि ते विशो यथा प्रदेव वरुणव्रतम्। मिनीमसि द्यविद्यवि॥
मा नो वधाय हत्नवे जिहीळानस्य रीरधः। मा हृणानस्य मन्यवे॥
ऋग्वेद १. २५. १-२।

४. यत्किञ्चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्या ३श्चरामसि।
अचित्तीयत्तव धर्मा युयोपिम मानस्तस्मादेनसो देवं रीरिषः॥
ऋग्वेद ७. ८९.५।

५

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

व्रतों के पालन से वरुण का साहचर्य मनुष्य को प्राप्त होता है, किन्तु अपराध और पाप से वह अपना देव-सायुज्य खो देता है। निम्नांकित मंत्रों में इसका वेदनापूर्ण उल्लेख है :

"जिस समय मैं और वरुण दोनों नाव पर चढ़े थे, जिस समय समुद्र के बीच नाव को भली भाँति प्रेरित किया था, जिस समय जल के ऊपर हम गतिपरायण नाव पर थे, उस समय शोभा के लिए नौका-रूपी झूले पर हमने सुख-विहार किया था।

मेधावी वरुण ने वसिष्ठ को नौका पर चढ़ाया था और अपने महान् कार्यों द्वारा उनको ऋषि बनाया। दिन-रात का विस्तार कर एक सुन्दर दिन उसे मधुर गायक बनाया, उस समय तक के लिए जबतक कि प्रति दिन उषा अपना विस्तार करती रहेगी।

किन्तु वरुण! आज हमारी पुरानी मैत्री का क्या हुआ? जब हम दोनों प्रेम से पहले संचरण करते थे, जब हे सम्राट् वरुण! हम आपके विशाल सहस्रद्वार प्रासाद में प्रवेश करते थे।"[१]

वरुण में नैतिक आक्रोश है। पाप की चेतावनी और दण्ड के रूप में वरुण मनुष्य के पास रोग भेजते हैं। नैतिक अपराध के कारण मनुष्य रोग-ग्रस्त और बद्ध होता है। परन्तु वरुण मूलतः दयालु और उद्धारक देव हैं। पश्चात्ताप और हार्दिक प्रायश्चित्त और प्रार्थना से वरुण प्रसन्न होते हैं और मनुष्य पाप और दुःख से मुक्त हो जाता है :

"हे वरुण! हमारे पितृक्रमागत पाप को छुड़ाओ। हमने अपने अपने शरीर से जो कुछ कुकर्म किया है, उसे दूर करो। राजा वरुण! पशु चुरानेवाले व्यक्ति और रस्सी से बँधे बछड़े की भाँति मुझे बन्धन से मुक्त करो।

पाप कई कारणों से होता है। भ्रम, क्रोध, द्यूत-क्रीडा, अज्ञान और आकस्मिक कारण से भी पाप होता है। कनिष्ठ को ज्येष्ठ भी कुमार्ग में ले जाते हैं। स्वप्न में भी दैवगति से पापकर्म हो जाते हैं।"[२]

वरुण मूलतः नैतिक व्यवस्था के स्वामी हैं। वे ऋत के अवलम्ब और उसके उद्गम हैं।[३] उन्हीं के ऊपर नीति के सनातन नियम आधृत हैं।[४] वरुण के धर्म (विधि), धामन् (आदेश) और व्रत (नियम) से सम्पूर्ण नैतिक जीवन आच्छादित है।[५]

---

१. ऋग्वेद, ७. ८८. ३-५।
२. वही, ७. ८६. ५-६।
३. वही, १. १०५-६।
४. वही, २. २८. ५।
५. वही, २. २८. ८।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दूसरा वैदिक देव, जिसका नैतिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह मित्र है। वरुण के साथ युगल-रूप (मित्रा-वरुण) में इनका उल्लेख मिलता है। मित्र वे देव हैं, जो मनुष्यों के बहुविध व्यवहार में सत्य-भाषण, सौहार्द और ईमानदारी का निरीक्षण करते हैं। मित्र सूर्य के ही एक रूप हैं और उनका भौतिक आधार प्रकाश है। सत्य आन्तरिक प्रकाश है; प्रकाश एक प्रकार का बाह्य सत्य है। मित्र सत्य और मानव-सम्बन्धों के रक्षक हैं। आर्यों में सामूहिक अथवा सांधिक जीवन के विकास का आधार मित्र की कल्पना में पाया जाता है। यह निम्नांकित सूक्त से स्पष्ट है :

> "मित्र मानव-जाति को संघटित करते हैं, उससे बोलते हुए; मित्र पृथ्वी और आकाश को धारण करते हैं; मित्र अपलक नेत्रों से कृष्यादि कर्म करनेवालों को देखते हैं; मित्र को घृतयुक्त हव्य अर्पित करो।[१]

नैतिक आचरण के सम्बन्ध में वरुण और मित्र के पश्चात् अग्निदेव का स्थान है। वे नेत्रवान्[२], शतनेत्र[३], सहस्रनेत्र[४] हैं। वे अपने नेत्रों से मनुष्य के कर्मों को देखते रहते हैं। वे मनुष्य के गुप्त व्यवहारों को भी जानते हैं।[५] वरुण के समान उनके चर भी सर्वत्र व्याप्त हैं।[६] वे मनुष्य की बुद्धिमानी और मूर्खता को पहचानते हैं।[७] शक्तिमान् ऋत के नेत्र और संरक्षक हैं।[८] अग्निदेव पापकर्म को देखते हैं और उसके लिए दण्ड देते हैं। वरुण, आदित्य और सभी देवों के पूर्व पापी के दुष्कर्म को प्रकाशित करते हैं। वे उस मनुष्य पर आघात करते हैं, जो अभिचार, जाल और धोखाबाजी करता है। वरुण और मित्र के धर्म के मौलिक सिद्धान्तों का जो अतिक्रमण करते हैं, उनको अपने प्रचण्ड ताप से अग्निदेव दग्ध करते हैं :

> "चैतन्य वरुण और मित्र के ध्रुव और प्रिय विधान का जो अवहेलना करते हैं, उनको सुन्दर घनविशिष्ट और पुष्ट तथा तीक्ष्ण दाढ़वाले अग्निदेव अपने तापकारी तेज द्वारा दग्ध करें।

---

१. मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत ॥
ऋग्वेद ३. ५९-१।

१. ऋग्वेद, २. २. ४; १०. २१. ७।

३. वही, १. १२८. ३।

४. वही, १०. ७९. ५।

५. वही, ८. ३९. ६।

६. वही, ४. ४. ३।

७. वही, ४. २. २१।

८. वही, १०. ८-५।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भ्रातृरहित कन्याओं की भाँति विपथगामिनी स्त्रियाँ, अपने पति से विश्वासघात करनेवाली, दुराचारिणी, असत्यवादिनी और कल्याणमार्ग से भ्रष्ट अपने लिये गंभीर नरकस्थान उत्पन्न करती हैं।"[१]

अग्नि की कल्पना बुद्धिमान् पुरोहित के रूप में की गई है, जो हमारी त्रुटियों को शुद्ध करते हैं और सुपथ से ले चलते हैं :

"हे देवर्षि ! यदि हम स्वल्पबुद्धि लोगों ने कभी आपके व्रतों की अवहेलना की हो, हे बुद्धिमान् अग्नि ! आप पूर्णतः इसका संशोधन कर दें, जिससे प्रत्येक देवता ऋतुओं के अनुसार अपना भाग प्राप्त करें।

जब सीधे और दुर्बलबुद्धि मर्त्य लोग विश्वकल्याणकारी यज्ञों के करने में असमर्थ होते हों, तब हे होता अग्नि, बुद्धिमान् विवेकशील, सर्वोत्तम, यजनशील, कालानुसार देवताओं का यजन करो।"[२]

देवराज इन्द्र की कल्पना एक वीर योद्धा और शक्तिमान् राजा के रूप में की गई है। किन्तु इन्द्र का युद्ध भी वृत्र जैसी अवरोधक शक्तियों के संहार और उनका राज्य विश्वजनीन व्यवस्था की स्थापना के लिए है। मित्रावरुण के समान ही इन्द्रावरुण की कल्पना भी हुई है। वरुण के साथ इन्द्र भी ऋत के धारक और पालक हैं। दूसरे देवों की व्यवस्था का आदर करते हुए इन्द्र अपने राज्य में व्यवस्था की स्थापना करते हैं। न देव, न मर्त्य इन्द्र के व्रत और धाम की अवहेलना करते हैं[३] और न इन्द्र आदित्य, वसु, रुद्रिय आदि के व्रतों की।[४] अपने धर्म के द्वारा ही इन्द्र सशक्त और सक्रिय हैं।[५] ऋत के द्वारा ही वे वनस्पतियों और नदियों का विभाजन करते हैं।[६] नदियाँ उनके व्रत का अनुसरण करती हैं। ऋत के द्वारा ही वे उषा को प्रकाशित करते हैं।[७] शिश्नदेवा (इन्द्रियपरायण) इन्द्र के ऋत का स्पर्श नहीं करते।[८]

ऋग्वेद में सोम स्वयं अमर और अमरत्व प्रदान करनेवाले हैं। अमर होने के कारण सोम का सम्बन्ध ऋत और नीति से भी है :

---

१. प्र ताँ अग्निर्बभसतिग्मजम्भस्तपिष्ठेन शोचिषा यः सुराधाः।
प्र ये मिनन्ति वरुणस्य धाम प्रिया मित्रस्य चेततो ध्रुवाणि॥
अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्॥ ऋग्वेद, ४.५.४-५।

२. वही, १०. २. ४. ५।

३. वही, ३. ३२. ८; ६. २१. ३

४. वही, १०. ४८-११।

५. वही, १०. ४४-१।

६. वही, २. १३-७।

७. वही, ६. ३९-४।

८. वही, ७. २१-५।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

"जिनको सज्जनों के वचनों की निन्दा करने में प्रसन्नता होती है, जिनका सत्याचरण करनेवालों को हानि पहुँचाने का अभ्यास है, सोम उनको सर्प को सौंप दें अथवा निऋति की गोद में फेंक दें।"

"वही बुद्धिमान् है जिसमें विवेक है। सत्य और असत्य एक दूसरे के विरोधी शब्द हैं। इस द्वन्द्व में क्या सत्य है और क्या न्याय है, उसका समर्थन सोम करते हैं और असत्य पर प्रहार।"

"सोम उसकी कभी सहायता नहीं करते, जिनका मार्ग वक्र है, और जो अनुचित रीति से क्षत्रिय विरुद धारण करता है; वे राक्षसों का हनन करते हैं, असत्यवादी का संहार करते हैं।[१]

पवित्रता और परिष्कार के लिए सोम, अग्नि और सवितृ की साथ-साथ प्रार्थना की गई है।[२] सोम का नैतिक उत्कर्ष वरुण और आदित्य के साथ दिखाई पड़ता है :

"वरुण के सनातन व्रत तुम्हारे हैं,
हे सोम! तुम्हारा स्वभाव उच्च और गम्भीर है;
तुम सर्वपवित्र हो, मित्र के समान प्रिय हो;
हे सोम! अर्यमा के समान वंदनीय हो।[३]

आदित्यवर्ग में सूर्य की कल्पना दूरदर्शी और सर्वनिरीक्षक के रूप में की गई है।[४] वे सम्पूर्ण विश्व के गुप्तचर हैं।[५] मनुष्यों के शुभ और अशुभ कर्मों के साक्षी हैं।[६] वे मानवों को केवल निष्पाप घोषित ही नहीं करते, वे उनको निष्पाप बनाते भी हैं।[७] वेद में एक प्रश्न पूछा गया है कि,

"यह कैसे सम्भव है कि यह अनायात (अस्थिर) और अनिवद्ध होते हुए भी गिरता नहीं, यद्यपि नीचे की ओर प्रेरित होता है?

किस शक्ति से वह चलता है? किसने इसे देखा?

दिव्य लोक के सीधे स्तम्भ की तरह वह आकाश की रक्षा करता है।"[८]

इसका उत्तर है कि सूर्य विश्व के व्रत का रक्षण करता है। उसके समान चक्र विश्व के अपरिवर्त्तनीय सनातन नियम का पालन करते हैं। विश्व के विधान में सूर्य केन्द्रीय है। वह चराचर का आत्मा है।

---

१. ऋग्वेद. ७. १०४. ६, १२, १३।
२. वही, ६. ६७. २२. २७।
३. वही, १. ६३. ३।
४. ऋग्वेद, ७. ६३. १. ४।
५. वही, ४. १३. ३।
६. वही, ६-५१. २; ७. ६०-२।
७. वही, १०. ३७, ७, ६।
८. वही, ४. १३. ५; १४. ५।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सवितृ प्रसव और प्रेरणा के देवता हैं।[१] गायत्री अथवा सावित्री मन्त्र में इसी शक्ति की प्रार्थना की गई है :

"देव सविता का वह वरण करने योग्य तेज
हम धारण करते हैं;
वह हमारी बुद्धि को प्रेरित करे।[२]

सविता की प्रेरक शक्ति आध्यात्मिक जगत् में पहुँचकर उत्तम नैतिक विचारों की उद्बोधिका बन जाती है। जब वे प्रातः संसार को अपने कर्त्तव्य कर्म करने के लिए जगाते हैं, उस समय मनुष्य का आत्मा भी उद्बुद्ध हो उठता है। इस बौद्धिक और आध्यात्मिक प्रकाश से सविता मनुष्यों को निष्पाप बनाते हैं :

"यदि हमने मानव की भाँति कोई काम देवों के विरुद्ध असावधानी,
दुर्बल इच्छाशक्ति अथवा गर्व से किया हो,
यदि हमने देवता अथवा मनुष्य के विरुद्ध पाप कर्म किया हो,
हे सविता! हमें पाप और अपराध से मुक्त करो।"[३]

विष्णु की कल्पना का अधिक विस्तार ऋग्वेद में नहीं पाया जाता, किन्तु उनके नैतिक पराक्रम का सार उपलब्ध है। विष्णु का शब्दार्थ है सक्रिय होना अथवा व्याप्त होना। उनका अधिष्ठान उच्चतम परमधाम (गोलोक) है। वे दया और करुणा के अवतार हैं। वे अपने तीन चरण (त्रिविक्रम) इसलिए रखते हैं कि संसार के लोग दुःख से मुक्त हो जायँ और पृथ्वी मानवों के रहने योग्य स्थान बन जाय। अपने विविध रूपों में विष्णु विश्व के रक्षक और पालक हैं। वैदिक मन्त्रों में संक्षेपतः विष्णु का लोकसंग्रही रूप परिलक्षित होता है।[४]

रुद्र, भावी शिव की कल्पना भी ऋग्वेद में संक्षेप से मिलती है। उनके बाह्यतः विध्वंसक रूप के पीछे विश्व-कल्याण की अनन्त करुणा छिपी है। रुद्र भवरोग के आदि महाभिषक् हैं। वे विद्युत् और वर्षा के साथ अपने झंझावात से संसार के रज तथा रुज् को हटाकर शीतल, शान्त और स्वस्थ वातावरण उत्पन्न करते हैं। कारुणिक देव के रूप में इनकी प्रार्थना की गई है। वे अनिष्टकारी तत्त्वों को दूर करनेवाले और अन्य देवों के क्रोध के निवारक हैं।[५]

उपर्युक्त देवों के अतिरिक्त ऋग्वेद में वर्णित जितने अन्य देव अथवा देवियाँ हैं वे किसी-न-किसी रूप में ऋत और सत्य के प्रवर्त्तक और रक्षक हैं। द्यावापृथ्वी, उषस्, अश्विन्, पूषन्, मरुत्, वायु-वात, पर्जन्य, आपः, अपां नपात्, तृत, आप्त्य,

---

१. वही, ५. ८१. ५।
२. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।
वही, ३. ६२. १०।
३. वही, ४. ५४. ३।
४. ऋग्वेद, १. १५४; ६. ४९।
५. वही, २. ३३; १. ११४. ४।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मातरिश्वन्, अहिर्बुध्न्य, अज एकपाद् आदि स्थूल देव और विराट् पुरुष, प्रजापति, त्वष्ट्रा, हिरण्यगर्भ, यम आदि सूक्ष्म देव सभी विश्व की जीवन-पद्धति में आधार, सहायक और उसके परिरक्षक हैं।

ऋग्वेद के 'देवतत्त्व' अथवा 'दैवत' का अध्ययन करने पर नीति के कतिपय महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का परिचय मिलता है। इनमें मुख्य हैं ऋत; सत्य, व्रत, धामन्, धर्म, यज्ञ आदि। इनके संक्षिप्त विवरण और व्याख्या से तत्कालीन नैतिक सिद्धान्तों का पता लग सकता है।

इन सिद्धान्तों में ऋत सबसे अधिक मौलिक और व्यापक है। विश्व के मूल में अन्तर्निहित यह एक एक ऐसा नियम है, जो स्वतः गतिमान् और सर्वत्र वर्त्तमान है। सम्पूर्ण प्रकृति, देव और मानव के ऊपर इसका आधिपत्य है। इसके रहते हुए अनृत, अव्यवस्था, अन्याय और अनाचार आंशिक और अस्थायी होते हैं। अन्यायी का विजय अन्तिम नहीं, उसका पराभव निश्चित है। साधु और सदाचारी की असफलता अस्थायी और माध्यमिक है; उसका अन्तिम विजय ध्रुव है। ऋत के तीन मौलिक क्षेत्र हैं : १. सृष्टि-व्यवस्था २. नैतिक व्यवस्था और ३. याज्ञिक व्यवस्था।[१] प्रथम क्षेत्र में ऋत सम्पूर्ण सृष्टि का धारण और संचालन करता है। आकाश के ग्रह-नक्षत्र उसी के अनुशासन से अपनी कक्षा में नियमित रूप से स्थित और संचरणशील रहते हैं। देवता उसी की प्रेरणा से अपने विशिष्ट कार्यों का संचालन करते हैं। ऋतुएँ उसके क्रम का अनुसरण करती हैं। मानव सृष्टि का ही एक अंग है। उसके भीतर ही उसके सारे व्यापार सम्पादित होते हैं। अतः मानव का आचार-व्यवहार भी ऋत से परिचालित और नियमित होता है। मानव और मानव के बीच वही नियम काम करता है जो ग्रह-नक्षत्रों के बीच। इसलिए मानवता के अस्तित्व और विकास के लिए ऋत का स्वीकरण और पालन अनिवार्य है। यज्ञ विश्व की सृष्टि-प्रक्रिया का ही एक रूपक है। अतः उसके अनुष्ठान के भी नियम-उपनियम हैं। यज्ञ के सफल अभिनय के लिए उनका ज्ञान और पालन आवश्यक है।

ऋग्वेद में यह कहा गया है कि पहले ऋत आविर्भूत हुआ और तत्पश्चात् सत्य।[२] जब नियम समष्टि में व्यापक रहता है, तब उसकी संज्ञा ऋत होती है। जब वह तप के संयोग से अनेक केन्द्रों में विकीर्ण होकर विशिष्ट रूप में अभिव्यक्त होता है, तब वह सत्य कहलाता है। इसीलिए मनुष्य के विभिन्न व्यवहारों में ऋत की बार-बार दुहाई न देकर सत्य की दुहाई दी जाती है। यम-नियमों में इसी सत्य की प्रतिष्ठा होती है और उसको प्राथमिकता मिलती है। सत्य ही सभी पदार्थों और व्यवहारों का सारांश है। मनुष्य के सभी सम्बन्धों और अनुबन्धों का सत्य ही आधार और अवलम्बन है। ऋत और सत्य के आधार पर

१. ऋग्वेद, ७. ८६।
२. वही, १०. १९० १; ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सुव्यवस्थित संकल्पयुक्त आचरण व्रत है।[१] दृढता इसका मुख्य अंग है।[२] सज्जनों की जीवन-विधि व्रत पर आधृत होती है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति अपने व्रत से विचलित नहीं होता। सभी देव दृढव्रत होते हैं। धामन् देव का आदेश है जहाँ से सत्य और व्रत की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। धर्म[४] वस्तु और मानव का स्वभाव है, जो उसके कल्याण के लिए विविधि विधि-नियमों के रूप में अभिव्यक्त होता है। वह जीवन का उपादान और नियामक दोनों है। यज्ञ सृष्टि और जीवन की पूरी प्रक्रिया है। सृष्टि-विधान के अन्तर्गत विश्वकल्याण के लिए जीवन ढालने की पद्धति यज्ञ का अनुष्ठान है। अतः मानव के सभी कर्त्तव्यों को यज्ञ का रूप दिया गया है। यज्ञ की व्यवस्था में वह अपनी स्वार्थगत कामना से परिचालित न होकर यज्ञार्थ कार्य करता है।

देवत्व का प्रमुख गुण दान[५] था। अतः मानव में भी दान का बड़ा महत्त्व था। ऋग्वेद का एक पूरा सूक्त दान और एक दक्षिणा पर है। इन दोनों के अध्ययन से तत्कालीन उदारता और परोपकारिता का ज्ञान मिलता है। इनमें कहा गया है कि दाता को क्लेश और दुःख नहीं होता। पृथ्वी और स्वर्ग में जो दुर्लभ है, वह दाता के लिए सुलभ हैं। देवोचित गुणों से युक्त होने के कारण दाता स्वयं देवता वन जाता है। जो याचक को दान नहीं देता और आवश्यकता पड़ने पर मित्र की सहायता नहीं करता, वह मित्र कहलाने का अधिकारी नहीं। जो स्वार्थी है और अपना कमाया स्वयं खाता है, वह पापी है।

पाप अथवा अनराध के लिए भी ऋग्वेद में कतिपय शब्द पाये जाते हैं।[६] 'अदेव' और 'अयज्ञ' शब्दों का प्रयोग धार्मिक और नैतिक दोनों अर्थों में होता था। 'शिश्नदेव' अनैतिक माना जाता था। देव और यज्ञ में नहीं विश्वास करनेवाले के पीछे कोई सामाजिक अथवा पारस्परिक उद्देश्य नहीं होता था। उसके सारे कार्य आस्थाहीन और मूल्यरहित होते थे। एनस्, अभिद्रोह, द्रुग्ध, रेपस्, किल्विष आदि शब्द भी पाप और अपराध के अर्थ में पाये जाते हैं। अन्य अपराधों में अविश्वास, कर्मकाण्डीय भूल अथवा कर्मत्याग, द्यूतक्रीडा में धोखा, माता-पिता की अवज्ञा, अतिथि का प्रत्याख्यान, कृपणता, धोखा, साहस (डकैती), तस्करता, मद्यपान, हत्या, निकट सम्बन्ध में व्यभिचार, अभिचार, वक्रता आदि की गणना की जा सकती है। ऋण का न चुकाना भी पाप माना जाता था, इसलिए पाप के पर्याय के रूप में भी 'ऋण' शब्द व्यवहृत हुआ है। एक राजा का नाम

---

१. ऋग्वेद, ३. ५९।
२. वही, १. २५. ८, १०।
३. वही, २. २८-८।
४. वही, १, २२. १८; १६४, ४३, ५०; ३. २. १; १७. १; ७०. ६।
५. वही, १-५५. ७; ४७, ४; १८०, ५; ८. ४६. २६।
६. ऋग्वेद, ७. ८६।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ऋणञ्चय पाया जाता है, जिसका अर्थ है ऋण अथवा पाप को दूर करनेवाला। शौण्डिक, सुरापी और जुआड़ी का विशेष उल्लेख पाया जाता है। जुआड़ी की घोर निन्दा की गई है[1] : "जूआ खेलनेवाले की नित्य निन्दा उसकी सास करती है। उसकी पत्नी उसे छोड़ देती है। माँगने पर जुआड़ी को कोई कुछ नहीं देता। जैसे बूढ़े घोड़े को कोई नहीं पूछता, वैसे समाज में जुआड़ी का कोई आदर नहीं होता। जुआड़ी की पत्नी व्यभिचारिणी हो जाती है। उसके माँ-बाप कहते हैं—'इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं; जुआड़ियो! इसे पकड़ ले जाओ।...जुआड़ी की पत्नी दीन-हीन दशा में रहती है। जुआड़ी की माता व्याकुल रहती है। वह दूसरे के घर में रात काटता है।..." अन्त में जुआड़ी को उपदेश है, "जुआड़ी कभी जूआ नहीं खेलना। खेती करना। कृषि के फल से संतुष्ट रहना और अपने को कृतार्थ समझना।"[2] और भी कई असामाजिक तत्त्व वर्त्तमान थे। कच्चा मांस खा जानेवाले राक्षस समाज के ओर-छोर पर थे। वे यज्ञ में विघ्न करते थे और सत्यद्रोही थे। वे साधुओं के शत्रु और कटु वचन वोलनेवाले थे। राक्षसों में नर-भक्षक भी थे। उनके सभी कार्य विध्वंसक थे। अतः देवों से उनके वध की प्रार्थना की गई है। गाय चुरानेवाले और कृपण पणियों की भी वहुत निन्दा की गई है।[3] पणियों के समान दास, दस्यु और असुर भी सत्कर्मों के विध्वंसक थे। असुर का मूल अर्थ 'प्राणवान्' पीछे छूटता जा रहा था। असुर क्रमशः मायावी और आर्यद्रोही होते गये।

ऋग्वेद में जहाँ सामाजिक अपराधों और कुरीतियों का उल्लेख है, वहाँ व्यक्तिगत पवित्रता और नैतिक विकास के लिए तपस्या के ऊपर भी वल दिया गया है। तप से ही ऋत और सत्य उत्पन्न हुए।[4] इन्द्र ने तप से ही स्वर्ग को जीता था। तप के अनुष्ठान के कई उदाहरण पाये जाते हैं। इससे अलौकिक शक्ति प्राप्त होती थी। यद्यपि तप की महत्ता स्वीकार की गई है, तथापि इस काल के आर्यों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण आनन्द और सौन्दर्य-बोध का था। वे प्रकृति के सौन्दर्य और विकास में आनन्द का अनुभव करते थे। यज्ञ का उद्देश्य ही था संसार के उत्तम भोग्य पदार्थों की प्राप्ति। जीवन का उल्लास अभी निराशावाद से कुंठित नहीं हुआ था। आर्य जीवन-संग्राम से पलायन नहीं करते थे। वे शूर-वीर और विजयी थे। वे दैन्य से अभिभूत नहीं होते थे। सांसारिक सुख, विजय और स्वर्ग की वे कामना करते थे।

आर्यों के प्रारम्भिक सामाजिक संघटन और सामाजिक न्याय का आधार ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त[5] में पाया जाता है। इसके अनुसार एक ही विराट पुरुष

१. वही, १०. ३४।
२. अक्षैर्मादीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः। वही, १०.३४.१३।
३. ऋग्वेद, १. ३३. ३; ८३. २; १५६. ६; १८०. ७।
४. वही, १०. १६०. १।
५. वही, १०. ६०।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

से समाज के सभी प्रमुख वर्ग (वर्ण) उत्पन्न हुए—उनके मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से राजन्य (क्षत्रिय), जंघा से वैश्य और पैर से शूद्र। यहाँ सामाजिक वर्गों की कल्पना सावयवीय है। वर्ग और समाज का सम्बन्ध शरीर और उसकी इन्द्रियों का है। एक दूसरे के विना दोनों का अस्तित्व सम्भव नहीं। समाज के चारों वर्ण कार्यात्मक हैं, अर्थात् सभी अपने-अपने क्षेत्रों में समाज का अनिवार्य कार्य करते हैं। यह विभाजन आधारवत् है, लम्बवत् नहीं। अभी समाज में ऊँच-नीच की भावना का उदय नहीं हुआ था। दास, दस्यु, पणि आदि वर्ण अथवा जाति नहीं, अपितु असामाजिक तत्त्व थे, जिनकी भर्त्सना की गई है। वर्ण चार ही थे। पाँचवाँ कोई वर्ण नहीं था। एक ऐसा वाद है, जिसके अनुसार आर्यों की वर्ण-व्यवस्था का आधार प्रजाति थी। आर्य और आर्येतर जातियों के मिश्रण, अर्थात् गोरी और काली जातियों के मिलने से चार वर्ण उत्पन्न हुए। मूल में दो ही वर्ण थे—आर्य और शूद्र। किन्तु आर्यों में ही तीन वर्ण वाह्मण, राजन्य (क्षत्रिय) और वैश्य प्रजाति और रंग के आधार पर कैसे बने, इसका समाधान उपर्युक्त मत से नहीं होता। वास्तव में मूलतः आर्यों में ही श्रम-विभाजन के आधार पर चार वर्ण थे। वे सामाजिक विराट् पुरुष के अभिन्न अंग थे। यह सम्भव है कि आर्यों के प्रसार के समय अथवा प्रजातियों के संक्रमण और सम्पर्क से जब बहुत-सी आर्येतर प्रजातियाँ आर्यों से मिलीं, तो आर्येतर जातियों का अधिकांश वैश्य और शूद्र वर्ण में सम्मिलित हो गया और इस समाजीकरण की प्रक्रिया के साथ प्रजातीय अभिमान और ऊँच-नीच की भावना का भी उदय हुआ। किन्तु पूर्ण समाजीकरण में यह त्रुटि होते हुए भी आर्यों की इस नीति में अपेक्षाकृत उदारता थी। संसार की अन्य विजेता जातियों ने विजित जातियों के साथ तीन प्रकार की नीतियों का व्यवहार किया है—(१) विजित जातियों का सम्पूर्ण उन्मूलन, जैसे यूरोपीय लोगों ने अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि में किया है, (२) दासीकरण, जैसे प्राचीन ग्रीक तथा रोमन जातियों ने किया था और (३) कुछ अयोग्यताओं के साथ समाजीकरण। प्राचीन भारतीय आर्यों ने तीसरी नीति का अवलम्बन किया। उन्होंने विजित जातियों को अपने समान अधिकार नहीं दिया, किन्तु उनको अपने समाज का अंग बना लिया। वर्णोत्कर्ष के सिद्धान्त के अनुसार समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपने सामाजिक विकास की सुविधा प्राप्त थी। अन्त्यज से शूद्र और शूद्र से क्रमशः वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण बनना संभव था। इसी प्रकार ब्राह्मण से क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और शूद्र से अन्त्यज वनना भी। इससे प्रजातीय कटुता नष्ट होकर समाजीकरण का मार्ग खुल गया और वर्जनशीलता कम हो गई।

समाज का स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण और समाज में उनका स्थान किसी जाति के नैतिक विकास का एक मानदण्ड समझा जाता है। ऋग्वैदिक देव-ण्डल में अदिति आदित्यों की माता थी। द्यावा-पृथिवी में पृथ्वी सभी देवताओं की जननी थी। उषा, श्रद्धा, वाक्, आदि की उदात्त कल्पनाएँ ऋग्वेद में प्रस्तुत हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ऋग्वेद में स्त्रियों के सम्बन्ध में बहुत-से उल्लेख पाये जाते हैं। कन्या, पत्नी और माता के रूप में नारी का समाज में महत्त्व था। वैवाहिक समस्या को लेकर पिता कन्या के जन्म से गम्भीर अवश्य हो जाता था, परन्तु उसके लालन-पालन और शिक्षा में कोई कमी नहीं होती थी। विश्ववारा, घोषा, अपाला, लोपामुद्रा आदि विदुषी स्त्रियाँ वर्त्तमान थीं, जो कई वैदिक सूक्तों की ऋषि मानी जाती थीं। ये ब्रह्मवादिनी महिलाएँ थीं। विवाह-योग्य कन्या की सूर्या (सूर्य के प्रकाश) के रूप में अद्भुत कल्पना है।[1] विवाह होने पर पत्नी के रूप में नववधू का परिवार में भव्य स्वागत होता था। वह दम्पती के रूप में गृह (दमस्) की स्वामिनी होती थी। उसका साम्राज्य केवल पति पर ही नहीं, अपितु ससुर, सास, देवर, ननद, नौकर-चाकर, पशु आदि सभी पर होता था। सभी धार्मिक कार्यों में पत्नी पति की सहधर्मिणी थी। पुरुष का एक ही विवाह आदर्श माना जाता था। पतिव्रता की समाज में प्रतिष्ठा थी। परस्त्री-गमन पाप और अपराध समझा जाता था। माता का स्थान समाज में प्रतिष्ठा और आदर का था। वह सारे समाज के लिए साँचा और मापदण्ड थी। इसीलिए ऋग्वेद में प्रकाश-पुञ्ज आदित्यों की माता (स्रोत) की कल्पना अदिति के रूप में की गयी है। पृथिवी-माता व्यापकता, उदारता और सहिष्णुता का प्रतीक है। किन्हीं विशेष सन्दर्भों में स्त्रियों के ऊपर व्यंग्य भी है। मेधातिथि के दाता प्रायोगि जिस समय पुरुष से स्त्री बने, उस समय इन्द्र ने कहा—"स्त्री के हृदय पर शासन करना कठिन है। उसकी बुद्धि छोटी होती है।"[2] ऋग्वेद के पुरूरवा-उर्वशी-संवाद में स्वयं उर्वशी स्त्रियों के सम्बन्ध में कहती है—"स्त्रियों से स्थायी मत्री होना संभव नहीं। स्त्रियों का हृदय भेड़िये के समान होता है।"[3] एक स्थान में कहा गया है कि 'स्त्रैण पुरुष ही स्त्री की प्रशंसा करता है।' जैसा कि पहले कहा गया है, ये उद्गार विशेष सन्दर्भ के हैं। पुरुष के स्त्रैण बनने पर इन्द्र का क्रोध स्वाभाविक है। उर्वशी अपने पीछा करनेवाले पुरूरवा से पिण्ड छुड़ाने के लिए स्वयं स्त्री-जाति की निन्दा करने लगी। अन्तिम कथन कामान्ध पुरुष को लक्ष्य करके है। ये कथन सामान्य सामाजिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

आर्थिक और राजनीतिक जीवन में भी नैतिक विचारों और आचरण के उल्लेख ऋग्वेद में यत्र-तत्र पाये जाते हैं। सबसे निर्दोष और परिश्रम का व्यवसाय कृषि थी। ऐसा माना जाता था कि आर्यों को कृषिकर्म की दैवी आज्ञा थी। 'अश्विनद्वय ने मनुष्यों को कृषि-कर्म की शिक्षा दी।' अन्यत्र कहा गया है कि 'अश्विनद्वय ने आर्य-मानव के लिए हल द्वारा खेत जुतवाकर, उसमें यव वपन

१. ऋग्वेद, १०. ८५।
२. वही, ८. ३३. १७।
३. ऋग्वेद, १०–९५ १५; न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कराकर, अन्न के लिए वृष्टि करके उसको (नैतिक जीवन के लिए) विपुल प्रकाश प्रदान किया।' जूआ अथवा विना परिश्रम के, केवल संयोग और धूर्त्तता से, धन-संग्रह करनेवाले की निन्दा की गई है और उसे कृषि करने का उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार अधिक ब्याज की भी भर्त्सना की गई है। बलात् परसत्त्वापहरण करनेवाले दस्युओं और कृपण पणि (वणिकों) की भी निन्दा की गई है।

क्योंकि, समाज में असामाजिक तत्त्व वर्त्तमान थे, अतः उनसे रक्षा और उनके निराकरण के लिए राजसत्ता और राजा की उपयोगिता भी मानी गई है। परन्तु इसका आधार था विशः अथवा जनता की इच्छा और राजा का न्यायोचित आचरण। ऋग्वेद के राजस्तुति नामक सूक्त[1] में कहा गया है—"तुमको हमने राष्ट्रपति चुना। तुम इसके अधीश्वर बनो। अचल और स्थिर होकर रहो। विशः (जनता) तुम्हारी आकांक्षा करे। तुम राजत्व से (अपने अनैतिक आचरणों के कारण) भ्रष्ट न हो।" राज्य की कल्पना में सामूहिक विचार, सम्मति और विवेक की महत्ता स्वीकृत की गई है। समिति और सभा सार्वजनिक संस्थाएँ थीं और जो जनता की सत्ता और विचार का प्रतिनिधित्व करती थीं। उनसे आदिष्ट और संचालित होकर ही राजा राज्य का संचालन करता था। राजा का आदर्श देवत्व में था। इन्द्र और वरुण उसके आदर्श थे। इन्द्र लोकसंग्रह के लिए शक्ति और वरुण नीति और न्याय के प्रतीक थे। राजा का प्रभुत्व इन्हीं दैवी गुणों पर आधृत था। इन गुणों के परित्याग करने पर उसका कोई अधिकार और आदर नहीं होता था।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट हो जायगा कि ऋग्वैदिक काल में भारतीय नीति की आधार-शिलाएँ निश्चित और दृढ रूप से रख दी गई थीं। आर्य लोग बर्बरता और उदर-यौन-सम्बन्ध की आदिम सभ्यता से बहुत ऊपर उठ गये थे। उनमें सामाजिक और नैतिक चेतना प्रबुद्ध थी। यद्यपि जीवन में देववाद की प्रधानता थी, किन्तु 'दैवत' की कल्पना नैतिक जीवन का एक विश्वासमूलक प्रबल माध्यम था। परन्तु कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने, जिनका वैदिक साहित्य और जीवन-दर्शन का हल्का और ऊपरी ज्ञान था, वैदिक नीति का बहुत उथला मूल्यांकन किया है। उदाहरण के लिए, 'दि रेलिजन ऑफ् दि ऋग्वेद' नामक ग्रन्थ के लेखक ग्रिसवोल्ड ने लिखा है, "ऋग्वेद की नैतिक कल्पना मूलतः प्रजातीय है, जैसा कि समाज के प्रारम्भिक विकास में स्वाभाविक है। उनकी नीति आर्य बनाम दस्यु है।"[2] ऐसा लगता है कि लेखक ने वरुण, विराट् पुरुष, प्रजापति, हिरण्यगर्भ आदि देवताओं की उदात्त कल्पना पर पूरा ध्यान नहीं दिया। आर्यों ने 'आर्य' की प्रजातीय कल्पना को बहुत पीछे छोड़ दिया था। नहीं तो सारे विश्व को 'जिसमें विविध और विभिन्न प्रजातियाँ बसती हैं' आर्य बनाने 'कृण्वन्तो

१. वही, १०.१७३, १७४।
२. पृष्ठ ३४१।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विश्वमार्यम्' की बात वे कैसे सोचते ? वास्तव में दस्यु की कल्पना प्रजातीय नहीं, नैतिक है। अपने राजनीतिक शत्रुओं को भी दस्यु कहा जाता था। स्वयं ग्रिसवाल्ड आगे चलकर स्वीकार करते हैं, किन्तु फिर भी ऊंचे कर्त्तव्य-बोध के संकेत ऋग्वेद में पाये जाते हैं :

> "मित्र, साथी, भाई,
> सजातीय, अपरिचित के विरुद्ध
> जो कुछ अपराध हमने किया है,
> हे वरुण! उनसे हमें मुक्त करो।"[1]

२. उत्तरवैदिक काल में नीति : कर्मकाण्डीय तथा दार्शनिक रूप

यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों के समय में भारतीय धर्म और फलतः भारतीय नीति में परिवर्त्तन हुआ। ऋग्वैदिक धर्म सरल और समर्पणप्रधान था। इसका आधार देववाद था। धार्मिक और सामाजिक समस्याओं के सरल होने से नीति भी सरल थी। उत्तरवैदिक काल में धर्म और नीति दोनों में जटिलता आई। अब धर्म वेदप्रधान हो गया। वेद का प्रामाण्य सभी विषयों पर लागू होने लगा। वेदमन्त्रों के उच्चारण और उनके सहगामी यज्ञों द्वारा विशेषफल-प्राप्ति के लिए देवता विवश किये जा सकते थे। यज्ञों का अत्यन्त विस्तार हुआ। नित्ययज्ञ, ऋतुयज्ञ, अनेक प्रकार के नैमित्तिक यज्ञों आदि का अनुष्ठान होने लगा। कर्मकाण्ड बोझिल हो गया। उसमे जटिलता और बहुलता आ गई। वेदों के विधान ही धर्म, कर्म और नीति में प्रमाण और उनके आधार बन गये।

परन्तु यह समझना कि वैदिक कर्मकाण्ड के विस्तार से नीति लुप्त हो गई, भूल होगी। कर्मकाण्ड का आधार भी लोकमंगल ही था। मनुष्य की आस्थाओं और भावनाओं पर वह अवलम्बित था। इसलिए कर्मकाण्ड के भीतर से ही नीति का विकास होने लगा। इस दिशा में प्रथम चरण था यज्ञों का प्रतीकवाद। यज्ञ केवल भौतिक अभिनय अथवा प्रदर्शन-मात्र नहीं थे। वे विश्व-प्रक्रिया के प्रतीक थे। विश्व की प्रक्रिया में ऋत, सत्य तथा विश्व के धारण और पालन का विधान निहित था। यज्ञ इन्हीं के रूपक थे। यज्ञवेदी इस प्रक्रिया का केन्द्र बन गई। ऋत्विज् इस प्रक्रिया के माध्यम, देवता इसके वाहक और स्वर्ग

---

१. अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद् भ्रातरं वा।
वेशं वा नित्यं वरुणारणं वा यत्सीमागश्चकृम शिश्रथस्तत् ॥
ऋग्वेद, ५.८५.७।

द्रष्टव्य साहित्य—(१) ऋग्वेदसंहिता (सायणभाष्य-सहित), २. ग्रिसवोल्ड : दि रेलिजन ऑफ् दि ऋग्वेद, ३. ब्लूमफील्ड : दि रेलिजन ऑफ् दि वेद, (४) ए०बी० कीथ : दि रेलिजन ऐण्ड फिलॉसफी ऑफ् दि वेद ऐण्ड दि उपनिषद्।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सम्पूर्ण सुख-प्राप्ति की स्थिति—इसके लक्ष्य हो गये। यज्ञ द्वारा इसी प्रक्रिया की स्मृति और भावना जागरित की जाती थी। प्रजापति, विष्णु और रुद्र यज्ञ के प्रधान देवता थे, जो सृष्टि पालन और प्रलय के अधिपति माने जाते थे। इनके लिए किये गये कर्मकाण्कीय अनुष्ठानों द्वारा इन्हीं विधाओं का परिशीलन होता था। यज्ञार्थ कर्म करने की परम्परा बन गई। इससे निःस्वार्थ काम करने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। सम्पूर्ण जीवन यज्ञ है, यह मान्यता दृढ होती गई। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार सर्वमेध यज्ञ द्वारा आध्यात्मिक स्वातंत्र्य प्राप्त होता है। अतः सर्वमेध द्वारा सम्पूर्ण समर्पण की प्रथा प्रचलित हुई।

मनुष्य के कर्त्तव्यों के सिद्धान्तीकरण का प्रथम प्रयास ब्राह्मण-साहित्य में पाया जाता है। विश्व-प्रक्रिया में मनुष्य कोई आकस्मिक घटना नहीं है। वह कोरा और अनियंत्रित नहीं है। अपने सहज कर्त्तव्यों को लेकर वह जन्म लेता है। वह तीन ऋणों को लेकर संसार में आता है। वे ऋण हैं—१. ऋषि-ऋण, २. देव-ऋण और ३. पितृ-ऋण। परम्परा से विकसित ज्ञान और आचार हमको ऋषियों से मिलता है, अतः हम उनके ऋणी हैं। संसार का सुख और समृद्धि हमें देवताओं से उपलब्ध होती है, अतः हम उनके कृतज्ञ हैं। हमारा अस्तित्व पितरों द्वारा प्रचारित संतान-परम्परा अथवा प्रजातीय परम्परा पर आधृत है, अतः हम उनके भी आभारी हैं। इन ऋणों का चुकाना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। ऋषि-ऋण स्वाध्याय द्वारा, देव-ऋण यज्ञ द्वारा और पितृ-ऋण प्रजोत्पादन द्वारा चुकता है।[1] यह ऋणबोध और ऋणोद्धार की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहनी चाहिए। तभी सृष्टि-प्रक्रिया सुचारु रूप से चल सकती है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में तीन ऋणों के साथ-ही-साथ नित्य पञ्चमहायज्ञों के अनुष्ठान का भी विकास हुआ। इन पञ्च महायज्ञों में १. ब्रह्मयज्ञ २. देवयज्ञ, ३. पितृ-यज्ञ, ४. अतिथियज्ञ और ५. भूतयज्ञ सम्मिलित हैं।[2] ब्रह्मयज्ञ का अर्थ है ब्रह्म (वेद) अथवा ज्ञान का यज्ञ। ऋषि-ऋण के समान यह यज्ञ भी स्वाध्याय से अनुष्ठित होता है। स्वाध्याय का शब्दार्थ है अपने 'स्व' अर्थात् आत्मा का अध्ययन परन्तु इसके लिए वेद अथवा धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है। इस यज्ञ में परम्परा से प्राप्त ज्ञान और साहित्य का अध्ययन, उसका संरक्षण और परिवर्द्धन तथा भावी पीढ़ी के लिए उसका संक्रमण होता रहता है। इस 'स्व' में केवल व्यक्ति का ही नहीं, समष्टि का अध्ययन और परिशीलन होता है। देवयज्ञ अग्निहोत्र आदि यज्ञों द्वारा सम्पन्न होता है। इनसे केवल देवताओं के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन और इष्ट-फल-

---

१. जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः। तैत्तिरीयसंहिता, ६.३.१०.५।

२. पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते सतति सन्तिष्ठन्ते देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञः।—तैत्तिरीय आरण्यक। २.१०७।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सिद्धि ही नहीं, किन्तु भौतिक जगत् का ज्ञान और परिशोधन भी होता है। पितृयज्ञ का अनुष्ठान पितरों के प्रति कृतज्ञताज्ञापन, श्राद्धकर्म, तर्पण और सन्तानोत्पत्ति के द्वारा होता है। प्रजातीय कर्त्तव्य ही इसका उद्देश्य है। अतिथि-यज्ञ द्वारा समाज के ऐसे व्यक्तियों और समूहों का आतिथ्य अथवा पालन होता है जो स्वयं अर्थार्जन नहीं करते। ब्रह्मचारी, परिव्राजक, चरक आदि का पालन इसी यज्ञ द्वारा होता था। यह सामूहिक अथवा सामाजिक कर्त्तव्य था। प्रत्येक घर के भोजन का उत्तमांश इन अतिथियों को प्राप्त होता था। भूतयज्ञ में सृष्टि के समस्त जीवधारियों के प्रति अपने कर्त्तव्य-पालन की भावना है। प्रतीक रूप में निम्न कोटि के प्राणियों का पोषण करना इसका उद्देश्य था। परवर्त्ती धर्मशास्त्र के अनुसार श्वान, श्वपच, कृमि और पापरोगियों (असाध्य रोगियों) को भोजन देना भूत-यज्ञ में सम्मिलित थे। प्रत्येक गृहस्थ के लिए पञ्चमहायज्ञ नित्य कर्म थे, वैकल्पिक नहीं। इनके न करने से अपुण्य अथवा पाप होता था।

तीन ऋण और पञ्चमहायज्ञों के सिद्धान्तों को स्वीकार करने तथा उनके चुकाने और अनुष्ठान करने से मनुष्य विश्व के साथ अपना समुचित सम्पर्क और सामञ्जस्य स्थापित करता था। संसार में एकाकी और स्वार्थी होने की प्रक्रिया इनसे दब जाती थी। इनके द्वारा अपने सामाजिक सम्बन्धों और कर्त्तव्यों का समुचित रीति से पालन होता था। सृष्टिचक्र के समान कर्त्तव्य-चक्र भी निरन्तर चलता रहता था। इन कर्मकाण्डीय धर्मों का विकास सामान्य धर्म में भी नरिलक्षित होता था।

यज्ञों का प्रथम उद्देश्य मनुष्य में देवत्व की भावना उत्पन्न करना, अर्थात् अपने में देवोचित गुणों का विकास करना था।[1] यज्ञ केवल बाह्याडम्बर नहीं, पुण्य और सत्कर्म का अनुष्ठान था।[2] ऋत अथवा व्यवस्था का पालन और सत्य का भाषण एवं आचरण देवत्व के अभिन्न अंग थे। सत्य धार्मिक और नैतिक दोनों प्रकार के कर्त्तव्यों का आधार था। अग्नि, वरुण और वाक् वचन के अधिपति देवता हैं। वे असत्य भाषण और असत्याचरण से अप्रसन्न होते हैं। अनियंत्रित यौन सम्बन्ध और व्यभिचार की सर्वत्र निन्दा की गई है। तपस्या की प्रशंसा की गई है। इसके द्वारा ही देवताओं ने दिव्य पद प्राप्त किया था।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में कर्त्तव्य कर्मों को दो वर्गों में बाँटा गया है—१. इष्ट और २. पूर्त्त। विविध यज्ञकर्म इष्ट के अन्तर्गत थे। प्रथम का फल अदृष्ट अथवा अपूर्व था। इसके करने से कोई दृश्य फल नहीं। नहीं करने से अपुण्य अथवा पाप होता था। लोकोपकारी कार्य, दान, धर्मशाला, पांथशाला, वापी, कूपादि का निर्माण इत्यादि पूर्त्त के अन्तर्गत सम्मिलित थे। इनका लौकिक फल

१. दे० बृहद्देवता।
२. अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। अथर्ववेद; ऐतरेय ब्राह्मण (१. ४.३) के अनुसार यज्ञ और मंत्रों के उच्चारण से वायुमण्डल में परिवर्त्तन होता है और सम्पूर्ण विश्व में धर्मचक्र चलने लगता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

स्पष्ट था। पूर्त्त के भी कर्मकाण्डीय संस्कार होते थे। जीवन में ये दोनों प्रकार के कर्त्तव्य आवश्यक माने जाते थे।

तीन ऋणों से मुक्ति पाने, पञ्चमहायज्ञों का अनुष्टान करने और विविध प्रकार के इष्टापूर्त्त कर्मों के सम्पादन तथा अन्य जीवन के उच्चतर मूल्यों की प्राप्ति के लिए इस युग में आश्रम-व्यवस्था का प्रवेश सामाजिक जीवन में हुआ। आश्रम-व्यवस्था से व्यक्ति का क्रमिक संस्कार किया जाता था, जिससे वह अपने सामाजिक कर्त्तव्यों के पालन में समर्थ हो सके। इस व्यवस्था का आधार शारीरिक और मनोवैज्ञानिक दोनों था। जीवन चार आश्रमों में विभाजित था—१. ब्रह्मचर्य २. गार्हस्थ्य ३. वानप्रस्थ और ४. परिव्राजक (संन्यास)। ब्रह्मचर्य-आश्रम में विद्यार्थी कठोर व्रत, विनय और अनुशासन का जीवन बिताता हुआ वेदों और अन्य शास्त्रों का अध्ययन करता था। ऋषियों द्वारा परम्परा से सञ्चित ज्ञानराशि की उसे प्राप्ति होती थी। यही उसकी ऋषि-ऋण से मुक्त होने और ब्रह्मयज्ञ करने की तैयारी थी। पुष्ट शरीर, वलिष्ठ और संस्कृत मन एवं वुद्धि तथा प्रबुद्ध प्रज्ञा लेकर वह गार्हस्थ्य में प्रवेश करता था। विवाह करके अपनी पत्नी के साथ वह सामाजिक कर्त्तव्यों में प्रवृत्त होता था। सन्तानोत्पत्ति करके पितृ-ऋण से मुक्त होने और पञ्चमहायज्ञों के अनुष्ठान का उपयुक्त आश्रम गार्हस्थ्य ही था। गार्हस्थ्य में अपन धार्मिक तथा नैतिक कर्त्तव्यों का सम्पादन कर व्यक्ति संक्रिय जीवन से तटस्थ होकर वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करता था। यह क्रमशः त्याग, तपस्या और जीवन के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन का समय था। जिस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम में गार्हस्थ्य की तैयारी होती थी वैसे ही वानप्रस्थ में संन्यास की। वास्तविक विरक्ति और ज्ञान होने पर व्यक्ति संन्यास आश्रम में प्रवेश करता था। इसके लिए वन के आश्रम का भी त्याग आवश्यक था। इस आश्रम में संसार के सभी सम्बन्धों और सम्पत्ति के त्याग की अपेक्षा की जाती थी। संन्यासी परिव्राजक होकर विचरण करता था। उसका चरम उद्देश्य था ज्ञानोपलब्धि द्वारा ब्रह्मनिष्ठ होना। इन आश्रमों के द्वारा व्यक्ति के निजी और सामाजिक जीवन की एक संतुलित व्यवस्था प्रस्तुत होती थी। इन आश्रमों के वाह्य कर्मकाण्डीय क्रिया-कलापों के भीतर से वास्तविक धर्म और नीति की धारा प्रवाहित होती रहती थी। मनुष्य को सच्चा आनन्द और शान्ति इसी धारा में आप्लावित होने से मिलती थी। कर्मकाण्ड के इसी नैतिक मेरुदण्ड ने भारतीय धर्म को इतने दीर्घकाल तक जीवित रखा है। कर्मकाण्ड और नीति में सन्तुलन धर्म की एक विशेषता थी। सभी आश्रमों में सत्य, पवित्रता, पूर्वजों के प्रति आदर और श्रद्धा, मानव-प्रेम, जीवों के प्रति दया और चौर्य, हत्या, व्यभिचार आदि के त्याग की अपेक्षा की गई है। नैतिक जीवन के मूल तत्त्वों का संरक्षण और संवर्द्धन इस व्यवस्था का अन्तिम उद्देश्य था। इस सम्बन्ध में ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्त में आचार्य द्वारा शिष्य को दिया गया अनुशासन नैतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व का है:

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वेदमनूच्च्यार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति ।।
सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः ।।
आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः ।।
सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् ।।
भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ।।१।।

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव ।
आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यवद्यानि कर्माणि ।
तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । यान्यस्माकं सुचरितानि ।
तानि त्वयोपास्यानि ।।२।।

नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः ।
तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् ।
श्रद्धया देयय् । अश्रद्धयाऽदेयम् ।
श्रियाऽदेयम् । ह्रियाऽदेयम् ।
भिया देयम् । संविदादेयम् ।
अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा
वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ।।३।।

ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः ।
युक्ता आयुक्ताः अलूक्षाः धर्मकामाः स्युः ।
यथा ते तत्र वर्त्तेरन् । तथा तत्र वर्त्तेथाः ।
अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः ।
युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः ।
यथा ते तेषु वर्त्तेरन् । तथा तेषु वर्त्तेथाः ।
एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषद् ।
एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ।।४।।[1]

[वेद का व्याख्यान करके आचार्य अन्तेवासी (छात्र) को अनुशासन देते हैं :
सत्य बोलो । धर्माचरण करो । स्वाध्याय से प्रमाद न करो ।
आचार्य को प्रिय दक्षिणा देकर प्रजातंतु का व्यच्छेद न करो ।।
सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए । धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए ।
कुशल से प्रमाद नहीं करना चाहिए ।
समृद्धि से प्रमाद नहीं करना चाहिए । स्वाध्याय और प्रवचन से प्रमाद नहीं करना चाहिए ।
देव और पितृ कार्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए । माता को देवी समझो । पिता को देव समझो ।

१. तैत्तिरीयोपनिषत्, शिक्षाध्याय, एकादश अनुवाक् ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आचार्य को देव समझो। अतिथि को देव समझो। जितने भी अनिन्दनीय कार्य हैं, उनका सेवन करो। उनसे इतर का नहीं। जो हमारे सुचरित हैं। वे ही तुम्हारे द्वारा अनुकरणीय हैं। इतर नहीं।
जो कोई हममें से श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं उनका आसन से सम्मान करना चाहिये।
श्रद्धा से देना चाहिए। अश्रद्धा से नहीं देना चाहिए।
शोभन ढंग से देना चाहिए। हृदय से देना चाहिए।
भय से नहीं देना चाहिए। ज्ञानपूर्वक देना चाहिए।
यदि तुम्हें कर्म के बारे में कोई विचिकित्सा हो
अथवा वृत्ति के बारे में विचिकित्सा हों।
तो जो विवेकशील ब्राह्मण,
युक्त, आयुक्त, मृदु और धर्मशील हों।
वे वहाँ जैसा व्यवहार करें वैसा तुम्हें व्यवहार करना चाहिए।
आगे अनाख्यात विषयों में तो जो विवेकशील ब्राह्मण
युक्त आयुक्त, मृदु और धर्मशील हों।
वे उन विषयों में जैसा व्यवहार करें उनमें वैसा ही तुम्हें वरतना चाहिए।
यही आदेश है। यही उपदेश है। यही वेदोपनिषत् है।
यही अनुशासन है। इसी प्रकार इसकी उपासना करना चाहिए। इसी प्रकार यह उपास्य है।]

उत्तर वैदिक काल में सामाजिक वर्गों की स्थिति और परस्पर सम्वन्ध में भी परिवर्तन हुआ। मूल वर्ण-व्यवस्था श्रम-विभाजन के आधार पर आर्यों के वीच ही हुई थी। यह विभाजन आधारवत् था लम्बवत् नहीं। एक ही परिवार में कई वर्णों के लोग साथ रहते थे। ऊँच-नीच का भाव नहीं था। वर्ण-परिवर्तन संभव और सरल था। समाज तरलावस्था में था। किन्तु उत्तर वैदिक काल में सामाजिक वर्ग दृढ़ और स्थिर होने लगे। वर्ण क्रमशः जन्मगत होने लगा। इसके कई कारण थे। एक तो एक ही परिवार में एक व्यवसाय को स्थायी रूप से वनाये रखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति और दूसरे उच्च वर्गों का निहित सामाजिक और आर्थिक स्वार्थ। तीसरे समाज में क्रमशः आर्येतर तत्त्वों का प्रवेश। रक्त की शुद्धि और प्रजातीय अभिमान बनाये रखने के लिए सामाजिक भेद-प्रभेद स्थायी होने लगे। इससे समाज में वर्जनशीलता बढ़ने लगी।[१] किन्तु समाज-अभी विलकुल स्थिर और जड़ नहीं था। अभी वेद शूद्रों और स्त्रियों के लिए वर्जित नहीं थे। यजुर्वेद में उद्घोष है, "यह वेद की कल्याणी वाणी सम्पूर्ण जनता के लिए है। ब्राह्मण-राजन्य के लिए शूद्र और वैश्य के लिए।" शतपथ ब्राह्मण का कथन है, "ओ३म् से ब्राह्मण, भूः से क्षत्रिय, भुवः से वैश्य और स्वः

१. यथेमां वाचं कल्याणीमा वदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च॥ यजुर्वेदः, २६.२।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

से शूद्र उत्पन्न हुआ।"[1] अन्तर्वर्ण-विवाह अभी संभव था। दासीपुत्र कवष ऐलूष मंत्र-द्रष्टा ऋषि था।[2] राज्याभिषेक के नव रत्निन् (परवर्ती मंत्री) में से एक शूद्र होता था।[3]

ऐतरेय ब्राह्मण में एक ऐसा प्रसंग हैं जिससे अनुमान किया जाता है कि समाज में वैश्यों और शूद्रों की स्थिति धीरे-धीरे नीचे खिसक रही थी। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार समाज का केन्द्र राजन्य था। उसी के चारों ओर सारा समाज घूमता था। ब्राह्मण सोमपायी (सोम पीनेवाला) और यथाकामचारी (इच्छानुसार विचरण करनेवाला) था। वैश्य दूसरे का भोजन (अन्यस्य खाद्यः) था। शूद्र को इच्छानुसार उत्थापित किया जा सकता था और इच्छानुसार मारा जा सकता था (यथाकामोत्थायः यथाकामवध्यः)।[4] यदि 'खाद्य' और 'वध्य' रूपक हैं तो इसका अर्थ यह है कि वैश्य दूसरों को भोजन देनेवाला और शूद्र विधेय और मर कर भी दूसरों की सेवा करनेवाला था। सभ्यताओं की नींव में असंख्य प्राणी गले-पचे हैं। परन्तु यह रूपक भी भयावह है। वैश्यों और शूद्रों के साथ स्त्रियों की सामान्य स्थिति भी कुछ निम्नगामिनी थी। उन्हे निरिन्द्रिया (दुर्बल) और अदायादा (सम्पत्ति में दाय लेने के लिए अयोग्य) कहा गया है,[5] यद्यपि गार्गी, मैत्रेयी जैसी ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का अभी अभाव नहीं था।

यदि हम राजनीतिक क्षेत्र में नीति का विचार करें तो ज्ञात होगा कि अभी तक राष्ट्र प्रजा की सम्पत्ति थी।[6] राज कर्तारः (राजा बनानेवाले) राजाओं का चुनाव करते थे।[7] राजानः (राजा होने की क्षमता रखनेवाले समान लोग) संख्या में बहुत थे। राजा नियुक्त, अपदस्थ और पुनः पदस्थ किया जा सकता था। सभा और समिति प्रजापति की दुहिताएँ थीं[8] जिनकी अवहेलना राजा नहीं कर सकता था। राज्याभिषेक के द्वारा राजा के कर्तव्य और कार्य धर्म के अनुसार निश्चित होते थे। परन्तु ज्यों-ज्यों जान राज्य भौमिक होते जा रहे थे त्यों-त्यों जनता की शक्ति कम और राजा की शक्ति बढ़ती जा रही थी। धर्म राज्य को वल देता जा रहा था। अश्वमेध, राजसूय, वाजपेय आदि राजनीतिक कर्मकाण्ड राज्य की सत्ता को पुष्ट करते थे। चक्रवर्ती और सार्वभौम सम्राटों द्वारा स्थानीय राजनीतिक चेतना लुप्त हो रही थी।

---

१. ५.४.६६।
२. ऐतरेय ब्राह्मण, २.१९.३।
३. तैत्तिरीय संहिता, १.८.९–१-२।
४. ऐतरेय ब्राह्मण
५. तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीरपि, तैत्तिरीय संहिता ६-५-८-२।
६. त्वां विशो वृणतां राज्याय। अथर्ववेद, ८-४-२।
७. वही, ३.५.६–७।
८. वही, ७-१३-१।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अभी तक नीति को देववाद, सर्वेश्वरवाद और वेदवाद प्रभावित करते थे। अभी नीति का कोई दार्शनिक और सुव्यवस्थित दृष्टिकोण नहीं बना था। सबसे पहला दर्शन जिसने भारतीय नीति को प्रभावित किया वह उपनिषद्-दर्शन है। बहुत-से पाश्चात्य लेखकों की शिकायत है कि उपनिषदों में नीति के ऊपर बहुत कम विवेचन है। दर्शन और नीति का जितना घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए उतना उपनिषदों में नहीं पाया जाता। परन्तु वास्तव में आश्चर्य इस बात का नहीं है कि उपनिषदों में नीति की चर्चा कम है; आश्चर्य इस बात का है कि उपनिषदों में इतनी चर्चा है नीति की, क्योंकि भारत में यह मान्यता है कि दार्शनिक का जीवन नैतिक होना ही चाहिए। नैतिक जीवन स्वयं-सिद्ध है, विवेच्य नहीं। किन्तु जितनी भी चर्चाएँ हैं वे नीति की दृष्टि से मौलिक हैं। यदि हम जान लें कि उपनिषदों के अनुसार जीवन का लक्ष्य क्या है तब औपनिषदिक नीति को समझने में सुविधा होगी। यद्यपि उपनिषद् के पूर्ववर्ती साहित्य में जीवन के मूल्यों के सम्बन्ध में सिद्धान्त स्थिर और सुनिश्चित नहीं पाये जाते परन्तु यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन जीवन के मूल्य अर्थ और काम थे जो धर्म से प्रभावति और नियंत्रित होते थे। ऋग्वेद के वरुण-सूक्त में एक सर्वदर्शी नैतिक देवता की कल्पना है जिसके साहचर्य में उसका पुजारी रहना चाहता है। पुरुष-सूक्त में सर्वव्यापी विराट् पुरुष की कल्पना है जो सभी कर्मों का स्रोत और अधिष्ठान है। ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड में प्रजापति सम्पूर्ण प्रजा का पिता और हितचिन्तक है। किन्तु इन सभी जीवन-धाराओं में बाह्य चिन्तन अधिक है। अतः नीति का आधार भी बाहरी शक्तिमान् दिव्य शक्तियाँ हैं। उपनिषदों में जीवन अन्तर्मुख हुआ। जीवन का जो आधार अथवा स्रोत बाहर ढूंढ़ा जा रहा था वह भीतर ही मिल गया। वह था सर्वात्मवाद अथवा ब्रह्मवाद। ब्रह्मानुभूति अथवा आत्मा और ब्रह्म का अभेद ही जीवन का परम लक्ष्य बन गया। यह पूर्ववर्ती सभी धर्म, अर्थ और काम का अतिक्रमण कर गया। पर यही है जीवन का ध्येय और फलतः नीति का भी लक्ष्य। यही परमानन्द अथवा मोक्ष है। मोक्ष है विश्व की सीमाओं और बन्धनों से मुक्ति। विश्व अपने आप में ध्येय अथवा लक्ष्य नहीं है। वह ब्रह्म से परिस्फुटित हुआ है; अतः वह अपने स्रोत ब्रह्म में ही विश्राम ढूंढ़ता है। अतः सम्पूर्ण विश्व में सान्त व्यक्तित्व के विस्तार और उसको अनन्त बनाने का प्रयत्न और साधना दिखायी पड़ती है।

जीवन के अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म की प्राप्ति के लिए उपनिषदों में अनेक उद्गार भरे पड़े हैं :

> "जिस प्रकार सभी पक्षी उस वृक्ष की ओर जाते हैं जिनमें उनका घोंसला बना होता है उसी प्रकार सारा विश्व परब्रह्म की ओर जाता है।"[१]

---

१. स यथा सोम्य वयांसि वासो वृक्षं संप्रतिष्ठन्ते ।
एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ।। प्रश्नोपनिषत् ४.७ ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

"तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। मैं तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म की घोषणा करता हूँ। ऋत कहता हूँ। सत्य कहता हूँ। तुम वह मुझे प्राप्त हो। मुझ उद्घोष करनेवाले को प्राप्त हो। प्राप्त हो उद्घोष करनेवाले को।"[१]
"ॐ ही है शान्ति का स्थान। शान्ति। शान्ति। मैं सत्य बोलता हूँ।"[२]

उपनिषदों का सारा प्रयत्न है इस सुख-दुःख, राग-विराग, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि से मुक्त उस स्थिति को प्राप्त करना "जहाँ प्राणों को प्रसन्नता, मन को आनन्द, विपुल शान्ति और अमृत-तत्त्व मिलता है।" जीवन के जिन अवर मूल्यों के पीछे हम दौड़ते हैं वे हमारे अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष और विज्ञानमय कोष को संतुष्ट कर सकते हैं। किन्तु अन्तिम अमृत-तत्त्व के अन्तर्गत इन सभी का समावेश हो जाता है। अमृत-तत्त्व इन सभी बीच की मंजिलों को पार कर निर्वन्ध आनन्दमय अवस्था में पहुँच जाता है। इस यात्रा के बीच में ही ठहर कर भ्रमवश किसी अनित्य को अन्तिम ध्येय मानना मूर्खता और अभाग्य है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उपनिषदों के अनुसार जीवन का उच्चतम लक्ष्य अध्यात्म है नीति नहीं। नीति अध्यात्म का साधन है। कर्तव्य-पालन जीवन की आध्यात्मिक पूर्णता की एक सीढ़ी है। यह वहीं तक उपयोगी है जहाँ तक यह अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक है। वास्तव में नीति भी व्यावहारिक जीवन में मनुष्य के हृदय में स्थित आध्यात्मिक प्रेरणा की ही अभिव्यक्ति है। सनातन सत्ता के अनुशासन का स्वीकरण और पालन ही सामाजिक नीति है जो व्यक्ति को शुभ कर्मों में नियुक्त करती है। इस सनातन और सर्वान्तर्यामी सत्ता म अनास्था और अविश्वास उत्पन्न होने पर नीति का आधार खिसक जाता है और उसका अवलम्ब टूट जाता है।

कुछ लोगों की यह मान्यता है कि उपनिषदों के सर्वात्मवाद अथवा ब्रह्मवाद के साथ सामाजिक अथवा व्यावहारिक नीति का सामञ्जस्य नहीं बैठता। प्रायः यह प्रश्न होता है कि 'यदि यह सब कुछ ब्रह्म ही है; यहाँ और कुछ विभिन्न अथवा विविध नहीं है तो समाज में नैतिक सम्बन्धों का उदय कैसे होगा जिनके भीतर द्वैत, भेद और वैभिन्य निहित हैं? यदि वह चरम सत्ता पूर्ण है और सर्वव्यापी है तो उस सर्वगत पूर्ण को प्राप्त करने के लिए अभ्यास और साधना तथा नैतिक आचरण की आवश्यकता ही क्या है? ऐसे प्रश्न उपनिषदों के दशन को ठीक तरह से न समझने के कारण उत्पन्न होते हैं। उपनिषदों का ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद पारमार्थिक है। वह व्यवहार में अनेकत्व और अच्छे और बुरे के भेद का निषेध नहीं करता। वह केवल ब्रह्म को दृष्टि में रखकर समग्र सामाजिक सम्बन्धों और व्यवहारों को उचित और न्याय्य बनाने की प्रेरणा करता है। उसके मत में अनकत्व और भेद अन्तिम नहीं माध्यमिक हैं, अतः

१. तैत्तिरीयोपनिषत् १.४।
२. वही।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ब्रह्मवाद में वे सभी विलीन हो जाते हैं। यदि विश्व की अनेकता और विविधता मौलिक और सनातन हैं तो उनसे उत्पन्न संघर्ष, अन्याय और अत्याचार भी सनातन हैं। इस पररिस्थिति में मानव-प्रेम, विश्व-बन्धुत्व और विश्व की एकता के सभी प्रयत्न विफल और अनावश्यक हैं। यदि मनुष्य सचमुच स्वभाव से ही एक दूसरे से भिन्न और एक दूसरे के विरोधी हैं और यदि वास्तव में विश्व के मूल में अन्तर्निहित कोई एकसूत्रता नहीं है तो किसी भी नैतिक आदर्श की पूर्ति असंभव होगी। हम अपने पड़ोसी को इसीलिए प्रेम करते हैं कि सभी वाहरी भेदों—नाम, रूप, राग-द्वेष, स्वार्थ आदि के होते हुए भी हम तत्त्वतः एक ह। जब उपनिषदें अपनी तुच्छ सीमाओं के अतिक्रमण की बातें करती हैं तो उनके लिए यह निरर्थक प्रलाप नहीं। वास्तव में नैतिकता आत्म-विस्तार और आत्म-स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति है। इन्द्रिय-जगत् और क्षुद्र व्यक्तिगत बन्धनों से ऊपर उठ जाना ही मोक्ष है। मोक्ष का मार्ग आत्म विकास का मार्ग है। इसी मार्ग पर चलने का नाम है नैतिक जीवन।

उपनिषदों के नैतिक आदर्शवाद के विरोध में एक और शंका उठायी जाती है। यदि मनुष्य स्वभावतः दिव्य, शुद्ध और प्रबुद्ध है तो फिर नैतिक प्रयत्नों की जीवन में क्या आवश्यकता है। परन्तु जब उपनिषदों में यह कहा कया है कि ईश्वर सबके हृदय में स्थित है अथवा मानव प्रकृत्या दिव्य है तब इसका अर्थ यह नहीं कि उसको अनुभव करने के सभी प्रयत्न समाप्त हो गये। ईश्वर इस रूप में मानव में दृष्टिगोचर हो नहीं बैठा है कि बिना चेतना, प्रयत्न और अनुभूति के उसकी अभिव्यक्ति संभव है। मानव में ईश्वर अव्यक्त और संभावित है। वह केवल साधना और प्रयास से ही पाया जा सकता है। यदि मानव ऐसा नहीं करता है तो वह अपने कर्तव्य से च्युत होता है। यह ठीक है कि उपनिषदों में यह कथन पाया जाता है कि 'वह विद्या, तपस्या, दान, यज्ञ आदि से नहीं प्राप्त होता। जिसका वह वरण करता है उसी को प्राप्त होता है।' किन्तु वरण की योग्यता प्राप्त करना बिना साधन और नैतिक आचरण के संभव नहीं। जिस प्रकार ऊपर हाथ फैलाये हुए और गोद में जाने के लिए आतुर बालक को माँ झुककर ऊपर उठा लेती है उसी प्रकार निश्छल, प्रयत्नशील साधक का वरण ईश्वर करता है। दिव्य, शुद्ध और प्रबुद्ध की साधना पार्थिव, अशुचि और जड़ से टकराती है। देवासुर-संग्राम इसी का रूपक है। इस संघर्ष में भाग लेनेवाले ही के लिए नैतिक जीवन का महत्त्व है। वास्तव में मनुष्य का पुरुषार्थ है इस संग्राम में भाग लेना। जब तक वह वाह्य द्वैत और द्वन्द्व से टकराता नहीं तब तक वह अद्वैत, शान्त और अमृत का अनुभव नहीं करता।

नीति के विभिन्न पक्षों पर उपनिषदों में विविध दृष्टियों से विचार हुआ है। इससे यह सिद्ध है कि उपनिषत्कार जीवन के नैतिक पक्ष से कभी उदासीन नहीं थे। उपनिषदों के परम ध्येय ब्रह्म की अनुभूति के लिए नीति साधन थी परन्तु थी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनिवार्य। नीति के विना आध्यात्मिक उन्नयन असंभव समझा जाता था। निम्नांकित रूपक से यह बात स्पष्ट हो जायेगी :

"आत्मा को रथी जानो और शरीर को तो रथ।
बुद्धि को सारथी और मन को प्रगह (लगाम) ।।३।।
इन्द्रियों को घोड़ा कहा गया है और विषयों को मार्ग।
मन और इन्द्रिययुक्त आत्मा को मनीषियों ने भोक्ता कहा है ।।४।।
जो अविज्ञानवान् होता है सदा अयुक्त मन से।
उसकी इन्द्रियाँ दुष्ट घोड़ों के समान सारथी के लिए अवश्य होती हैं ।।५।।
जो सदा संयमित मन से विज्ञानवान् होता है।
उसकी इन्द्रियाँ अच्छे घोड़ों के समान सारथी के वश में होती हैं ।।६।।
जो अविज्ञानवान् होता है सदा अमनस्क और अशुचि।
वह न तो परम पद को प्राप्त होता है और न संसार को पार करता है ।।७।।
किन्तु जो विज्ञानवान् होता है सदा समनस्क और शुचि।
वह तो परम पद प्राप्त करता है जहाँ से पुनः लौटना नहीं होता ।।८।।[1]

अध्यात्म और मोक्ष का मार्ग नीति और संयम का होता है। इसके विपरीत देहात्मवादी भोग का मार्ग असुरों का मार्ग होता है :

"तब शान्त हृदय विरोचन असुरों के पास गया और इस सिद्धान्त का उपदेश किया कि देहात्म ही पूजनीय है देहात्म ही परिचर्या करने योग्य है। जो देहात्म की पूजा करता है और देहात्म की परिचर्या करता है वह इहलोक और परलोक दोनों प्राप्त करता है। इसलिए आज भी दान न देनेवाले, आस्थाहीन, यज्ञहीन पुरुष को असुर कहा जाता है, क्योंकि यह असुरों का सिद्धान्त है।"[2]

---

१. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।३।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।४।।
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्युयुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ।।५।।
यस्तु विज्ञानवानभवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणिवश्यानि सदश्वा इव सारथेः ।।६।।
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ।।७।।
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ।।८।। कठोपनिषत् १.२.३-८।

२. छान्दोग्योपनिषत् ८.८.४-५

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वास्तव में केवल बुद्धि पाने से अथवा किसी मतवाद से मनुष्य का नैतिक और आध्यात्मिक विकास नहीं होता, यदि वह अपनी बुद्धि का उपयोग उसी प्रकार करता है जिस प्रकार पशु अपनी इन्द्रियों का। मानव विकास के लिए मन का निग्रह और बुद्धि का परिष्कार आवश्यक है। अनियंत्रित इन्द्रिय सुख और भोग के कारण पुरुष अपने मानव पथ से भ्रष्ट हो जाता है। परिष्कृत और शुद्ध बुद्धिवाला पुरुष यह अनुभव करता है कि समष्टिगत हित के विरुद्ध व्यक्ति का अपना कोई स्वार्थ नहीं है और वह राग-द्वेष और नियति से तभी मुक्ति पा सकता है जब वह देहात्मवादी विषय-भोग से अपने को पृथक् कर लेता है। स्वार्थमय कर्मों में आसक्ति के द्वारा मनुष्य अपने वन्धन की शृंखला को लम्बी करता जाता है। निःस्वार्थ विश्व प्रेम और लोकहित की कामना वन्धन की कड़ियों को तोड़ देती है और देह रूपी कारागार का द्वार खोल देती है। तव सारा विश्व आनन्दमय हो जाता है।

उपनिषदों में जहाँ कर्म-त्याग का उपदेश किया गया है वहाँ तुच्छ स्वार्थमय कर्मों का ही, सभी कर्मों का नहीं। विराग अथवा विरक्ति का अर्थ है सांसारिक वन्धन उत्पन्न करनेवाले कर्मों से विरक्ति किन्तु साथ ही परम पद अथवा ईश्वर में विशिष्ट अनुरक्ति। इसी प्रकार जहाँ कामनाओं को त्यागने का उपदेश है वहाँ उसका उद्देश्य है स्वार्थमय कामनाओं के त्याग का। कर्म तथा कामना का उद्देश्य क्या है, यह विशेष महत्त्व का है। यदि मनुष्य की कामना भोग की है तो वह विषयीं वन जाता है; यदि सौन्दर्य की है तो वह कलाकार और यदि ईश्वर की है तो वह सन्त हो जाता है। उपनिपदों में यह कहा गया है कि सारा विश्व ही ब्रह्म की कामना का विलास अथवा विस्तार है। "जब ब्रह्म अकेला था तो उसको आनन्द नहीं मिलता था। उसने सोचा, 'एक हूँ; वहुत हो जाऊँ" इसी प्रकार कहा गया है कि 'सर्वप्रथम आत्मा ही अकेला था और कुछ नहीं। ऐसा देखकर उसने कामना की कि 'लोक का सृजन करूँ।' उसने इन लोकों का सृजन किया।"[1] इस आत्म-सृजन की कामना से सारा विश्व फूट पड़ा। आध्यात्मिक आनन्द और लोकमङ्गल की कामना दोनों ही ब्रह्म की कलाएँ हैं। उपनिषदों को कहीं-कहीं तपस्या को आत्मानुभूति का साधन वतलाया गया है। किन्तु यहाँ भी तप का अर्थ है आत्मा को शरीर के परावलम्वन से मुक्त कर उसकी अपनी आन्तरिक शक्ति को वढ़ाना, कठोर चिन्तन और बुद्धि का प्रदीप्तीकरण।[2] तप के ही साथ-साथ दान, आर्जव, अहिंसा, सत्यवचन आदि का भी उपदेश है।[3] एक स्थान पर तो यह कहा गया है कि श्रद्धा ही तप है।[4] इसलिए

१. ऐतरेयोपनिषत्, १.१-२।

२. यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतत्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते।। मुण्डकोपनिषत् १.१-९।

३. छान्दोग्योपनिषत् ३.१६; तैत्तीरीयोपनिषत् १.९।

४. छान्दोग्योपनिषत्। ५.१०।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तपस्या के लिए संसार छोड़कर किसी वन में अथवा पर्वत पर जाने की आवश्यकता नहीं और न शरीर को अनावश्यक कष्ट देने की। सावधानी और संयम से आत्म-शक्ति को उदीप्त करना पर्याप्त है।

बुद्धि और आत्मा को मलिन करनेवाले विषय-विलास और शरीर को सुखाकर बुद्धि को भी क्षीण करनेवाली तपस्या के बीच उपनिषदों ने संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया है। अतिवाद को छोड़कर समुच्चय अथवा समन्वय का मार्ग उनमें दिखायी पड़ता है। ईशोपनिषद् में अध्यात्म के साथ जीवन के भोग और त्याग का सुन्दर समन्वय पाया जाता है :

> "यह सम्पूर्ण विश्व ईश (ईश्वर) से आवास्य (ओतप्रोत) है। जगत् में जो कुछ (दृश्य) है वह चलायमान है। (इसलिए संसार का) त्याग के साथ भोग करो। किसी दूसरे के सत्व का लोभ न करो (यह सांसारिक धन-वैभव किसका है ?)। (शुभ) कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की कामना करो। ऐसा करते हुए तुम्हारे ऊपर 'कर्म का बन्धन नहीं होगा।"[१]

मुण्डकोपनिषत् में भारद्वाज ने विषयभोग और कायक्लेश दोनों अतिवादी मार्गों का विरोध किया है। वास्तव में शरीर को कष्ट देनेवाली घोर तपस्या त्याग का परिचायक नहीं है; यह एक दूसरे प्रकार की उलटी आसक्ति और व्यक्तिगत स्वार्थ है। यह विश्व की शक्तियों के कर्षण और संघर्षण द्वारा व्यक्तिगत मोक्ष का मार्ग है। यह कहना कि संसार के असंख्य लोग के दुःख और बन्ध-मोक्ष से एक व्यक्ति का पृथक् मोक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण है एक प्रकार धार्मिक दम्भ और नैतिक संकीर्णता तथा स्वार्थ है। उपनिषदों ने बराबर लोक-संग्रह के लिए अनासक्ति के साथ काम करने का उपदेश किया है।

उपनिषदों ने न केवल आध्यात्मिक कल्याण के लिए नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, अपितु उन्होंने सामान्य और विशिष्ट कर्तव्यों की आचार-संहिता भी प्रस्तुत की है। उपनिषदों में वे सारे कार्य नैतिक माने गये हैं जिनमें मनुष्य राग-द्वेष से मुक्त होता है, जहाँ न्याय और युक्ति की प्रधानता होती है, जहाँ मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थों का अतिक्रमण करता है, जहाँ वह अपने संकीर्ण व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाता है, जहाँ लोकमंगल ही प्रेरकशक्ति होता है और जहाँ व्यक्ति अन्तर्यामी सर्वव्यापी सत्ता द्वारा नियुक्त विश्व-संचालन की योजना में अपने को सहकारी समझता है। इसके विपरीत सारे कार्य अनैतिक हैं। संयम,

---

१. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयिनात्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।। ईशोपनिषत्, १-२।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उदारता और दया सद्गुण हैं।[१] ध्यान, दान, शील, अहिंसा, सत्य सदाचार के मुख्य गुण माने गये हैं।[२] भूत-दया और भूत-हित पर बहुत बल दिया गया है। निरामिष शुद्ध भोजन आचार का एक अंग माना गया है क्योंकि यह विश्वास था कि मनुष्य का मन और बुद्धि दोनों ही शरीर पर अवलम्बित हैं। अतः आहार-शुद्धि में ही सत्त्वशुद्धि मानी जाती थी। शम, दम, संयम, नियम की व्यवस्था उपनिषदों में पायी जाती है। परन्तु बलात् संयम और स्वतः संयम में भेद किया गया है। इसी प्रकार तपस्या और संन्यास में भी अन्तर माना गया है। तपस्या एक प्रकार का बलात् संयम है; संन्यास स्वतः संयम है। इसीलिए वानप्रस्थ में तपस्या और संन्यास-आश्रम में संन्यास का विधान किया गया है। चित्त की शुद्धि के लिए ध्यान, चिन्तन और एकाग्रता की आवश्यकता समझी गयी है। "वह अग्र और सूक्ष्म बुद्धि से ही देखा जा सकता है।"[३] परन्तु ध्यान और चिन्तन का महत्त्व इसलिए नहीं कि मनुष्य विश्व की वास्तविकता से आँखें मूंद ले; इसलिए कि वह विश्वात्मा से तादात्म्य स्थापित करे।

उपनिषदों ने वर्णाश्रम-धर्म को साधन-रूप में स्वीकार किया है। वैसे आश्रम और वर्ण नामक संस्थाओं का उदय सामाजिक कारणों से हुआ, परन्तु वैदिक कर्मकाण्ड ने उन्हें धर्म का माध्यम बनाया। उसी प्रकार उपनिषदों ने उन्हें आध्यात्मिक आदर्श का माध्यम बनाया। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास चार आश्रम वास्तव में मानव-जीवन की चार अवस्थाएँ हैं, जिनके द्वारा पशुता और पार्थिवता से मनुष्य मुक्त और परिष्कृत होकर पूर्ण आध्यात्मिक जीवन के लिए तैयार होता है। मानव शरीर और मानव जीवन को अध्यात्म का माध्यम बनाना ही आश्रम-व्यवस्था का उद्देश्य है। अध्यात्म से प्रकाशित जीवन ही मानव कहलाने का अधिकारी है। अध्यात्म का प्रकाश ग्रहण करने के लिए कठोर नैतिक साधना की आवश्यकता होती है। जीवन की प्रथम अवस्था ब्रह्मचर्य में ही कठोर नैतिक साधना का संस्कार डाला जाता है। यह धर्म-पुरुषार्थ का प्रथम अधिष्ठान है। गृह का त्याग, व्रतों का पालन, गुरुसेवा, भिक्षाचरण, नित्य अग्न्याधान, नियमित वेदाध्ययन, ऋजुता, शुचिता आदि ब्रह्मचर्य के मुख्य अङ्ग थे। यह साधना इसलिए थी कि मनुष्य उचित शिक्षण और दृष्टिकोण के साथ दूसरे आश्रम गार्हस्थ्य में प्रवेश कर सके। पहले आश्रम में समाज और संसार का प्राथमिक त्याग था। गार्हस्थ्य में समाज और संसार का त्याग नहीं किन्तु समाज और संसार में त्याग की साधना थी। गार्हस्थ्य धर्म, अर्थ और काम के पुरुषार्थ का अधिष्ठान था। गृह-सम्पत्ति, पुत्र-कलत्र और समस्त सामाजिक सम्बन्धों और दायित्व को लेकर

---

१. बृहदारण्यकोपनिषत् ५-२।

२. छान्दोग्योपनिषत् ३, १७, १-६.१२।

३. एष सर्वेषु भूतेषु गूढो आत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ कठोपनिषद् १.३.१२।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

गृहस्थ चलता था। परन्तु विवाह स्वयं एक पवित्र संस्कार था। पति-पत्नी का साहचर्य जहाँ एक ओर याज्ञिक अनुष्ठान था तो दूसरी ओर जीव और ब्रह्म के तादात्म्य का रूपक। स्त्री-पुरुष का प्रेम, वच्चों के लिए वात्सल्य, धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान, सामाजिक कर्तव्यों का वोध और पालन ये सव मिलकर स्वतः आध्यात्मिक साधना के रूप थे। किन्तु गार्हस्थ्य की साधना माध्यमिक थी। इसको क्रमशः छोड़कर आगे चलना आवश्यक था। अव अन्तिम त्याग और संन्यास के लिए अग्रसर होना था। अतः गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों को पूरा करके वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना होता था। इसके अपवाद भी थे। उपनिषदों में यह कथन भी पाया जाता है कि जिस दिन भी संसार से उत्कट वैराग्य हो उसी दिन से कोई परिव्राजक अथवा सन्यासी हो सकता है।[1] ऐसा लगता है कि अभी उपनिषदों के समय तक वानप्रस्थ और संन्यास का स्पष्ट पृथक्करण नहीं हुआ था। अतः वैरवानस और परिव्राजक शब्दों का ही अधिक प्रयोग पाया जाता है। जीवन के अंतिम भाग में प्रत्येक गृहस्थ से संसार से विरक्त होने की अपेक्षा की जाती थी। वानप्रस्थ, वैरवानस अथवा परिव्राजक सांसारिक प्रलोभनों और आसक्तियों से मुँह मोड़ कर पूर्ण आध्यात्मिक अनुभूति की ओर चल पड़ता था। यदि ब्रह्मचारी का जीवन त्याग, तपस्या और अनुशासन का था तो परिव्राजक का जीवन पूर्ण संन्यास, कठोर अनुशासन किन्तु आध्यात्मिक स्वाराज्य का था। वह गैरिक वस्त्र पहन और मुण्डित शिर हो पर्यटन करता था। वह न कोई घर—स्थायी आवास—रखता था और न सम्पत्ति-सञ्चय करता था। भिक्षा-वृत्ति ही उसकी आजीविका थी। आन्तरिक तथा वाह्य पवित्रता और दरिद्रता उसके मुख्य लक्षण थे। ऋजुता और विनम्रता उसके स्वभाव में थी। सम्पूर्ण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा का परित्याग कर मंन्यासी आत्मनिष्ठ अथवा ब्रह्मनिष्ठ होता था। परन्तु संन्यास संसार से विद्रोह अथवा उसकी अवज्ञा नहीं थी; उससे ऊपर उठना था। जिस प्रकार सूर्य क्षितिज से ऊपर उठ कर पृथ्वी को भासमान करता है उसी प्रकार संन्यासी सभी सम्पत्ति और अधिकार को छोड़कर भी अपने त्याग और ज्ञान से समाज को प्रकाशित करता है।

जिस प्रकार आश्रम-व्यवस्था वैयक्तिक आध्यात्मिक साधना का माध्यम थी उसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था सामाजिक अथवा सामूहिक आध्यात्मिक साधना का। इसके अन्तर्गत समाज के विविध वर्गों के कर्तव्य निश्चित थे। प्रत्येक व्यक्ति का अपने सामाजिक कर्तव्यों का पालन करना पड़ता था। सामाजिक कर्तव्यों के विभाजन का आधार योग्यता अथवा पात्रता थी। केवल जन्म से कोई ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य अथवा शूद्र नहीं हो सकता था। इसके लिए नैतिक योग्यता आवश्यक थी। छान्दोग्योपनिषद् में सत्यकाम जावाल के ब्राह्मण होने की मनोरंजक कथा है :

> "सत्यकाम जावाल ने (अपनी) माता जवाला को सम्वोधित करते हुए कहा, 'माँ, मैं ब्रह्मचारी होना चाहता हूँ। किस गोत्र का मैं हूँ ?'

---

१. यदहरेव विरजेत् तदहरेव परिव्रजेत्।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उसने कहा, 'वत्स, मैं यह नहीं जानती कि तुम किस गोत्र के हो। यौवन में मैं परिचारिणी थी। बहुतों की सेवा करती थी। तव तुम को प्राप्त किया। इसलिए मैं नहीं जानती कि तुम किस गोत्र के हो। मैं जवाला नामकी हूँ। तुम्हारा नाम सत्यकाम है। तुम्हें अपने को सत्यकाम जावाल कहना चाहिए।' सत्यकाम ने हरिद्रुम के पुत्र (आचार्य) गौतम से कहा, 'भगवन्, मैं आपका ब्रह्मचारी होना चाहता हूँ।' (गौतम ने उससे) पूछा, 'हे सोम्य, तुम्हारा गोत्र क्या है?' उसने उत्तर दिया, 'मैं इसको नहीं जानता कि किस गोत्र का हूँ। माता से पूछा। उन्होंने उत्तर में कहा, 'यौवन में मैं परिचारिणी थी। बहुतों की सेवा करती थी। तव तुमको प्राप्त किया। इसलिए मैं नहीं जानती कि तुम किस गोत्र के हो। मैं जवाला नाम की हूँ। तुम्हारा नाम सत्यकाम है।' इसलिए मैं सत्यकाम जावाल हूँ।' (गौतम ने) सत्यकाम जावाल से कहा, 'ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई इतना सत्य बोलने में समर्थ नहीं। जाओ और समिधा लाओ। मैं तुम्हारा उपनयन करूँगा क्योंकि तुम सत्य से विचलित नहीं हुए।"[१]

उपनिषदों की दृष्टि में वर्णों का विभाजन व्यावहारिक था पारमार्थिक नहीं। क्योंकि एक ही ब्रह्म सभी मनुष्यों मे समान रूप से व्याप्त है अतः मनुष्य मनुष्य के बीच कोई वास्तविक और मौलिक भेद नहीं। इसलिए सत्य की साधना में सभी को समान अधिकार है। उपदेश सुनने और उपदेश करने की पात्रता और योग्यता सभी वर्णों में है। धर्म और दर्शन के उच्चतम सिद्धान्त केवल ब्राह्मणों तक सीमित नहीं थे। गुप्त रहस्यों और गूढ़ प्रश्नों के समाधान के लिए ब्राह्मण भी नम्रता के साथ क्षत्रियों के पास जाते थे और क्षत्रिय बड़े आदर के साथ उनका समाधान करते थे।[२] मिथिला के जनक और काशी के अजातशत्रु ऐसे ही परम ज्ञानी राजा थे। दार्शनिक परिषदों में ब्राह्मण-क्षत्रियों के अतिरिक्त सामान्य लोग भी भाग लेते थे। दार्शनिक क्षेत्र में पुरुषों के समान स्त्रियों को भी अधिकार प्राप्त था। मैत्रेयी और गार्गी गंभीर आध्यात्मिक प्रश्नों पर विचार करती हुई तथा वाद-विवाद में भाग लेती हुई पायी जाती है।[३] वर्ण और लिङ्ग की उपनिषदों की दृष्टि से यही उपयोगिता थी कि वे व्यक्ति को उसके बौद्धिक तथा सांस्कृतिक स्तर के अनुसार आध्यात्मिक विकास का अवसर देते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामान्य तथा विशिष्ट नैतिक कर्तव्यों की अपेक्षा ज्ञान के ऊपर उपनिषदों का अधिक वल है। उपनिषदें ज्ञान को ही मोक्ष का चरम साधन मानती हैं: तरति शोकम् आत्मवित् (आत्मा को जाननेवाला ही

१. चतुर्थ अध्याय, चतुर्थ खण्ड, १–५।
२. कौशीतकि उपनिषत् १.४.२; बृहदारण्यकोपनिषत् ३.७; छान्दो० ५.३-७।
३. बृहदारण्यकोपनिषत् २.४।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

शोक को पार करता है), ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति (ब्रह्म को जाननेवाला स्वयं ब्रह्म हो जाता है), तत्र को शोकः को मोहः एकत्वयनुपश्यतः (एकत्व देखनेवाले को कहाँ शोक और कहाँ मोह ?) आदि। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जीवन में नीति का कोई स्थान नहीं। जीवन में ज्ञान और नीति दोनों आवश्यक हैं। ज्ञान और नीति में अन्तर इतना ही है कि ज्ञान मोक्ष का मुख्य तथा प्रत्यक्ष साधन है; नीति गौण और अप्रत्यक्ष। वास्तव में अज्ञान के कारण ही अनैतिक व्यवहार होते हैं। यदि मनुष्य अपने स्वरूप को ठीक तरह से समझ ले और विश्व से उसका क्या सम्बन्ध है इसे जान ले तो उससे अनैतिक काम हो ही नहीं सकते। उससे स्वतः और अप्रयास नैतिक कार्य होते रहते हैं। जब तक मनुष्य को पूर्ण ज्ञान नहीं होता तब तक वह परम्परा और धर्मशास्त्र के आधार पर प्रयत्न के साथ कर्तव्यों को पालन करता है। मनुष्य को ज्ञान-प्राप्ति अथवा ब्रह्मानुभूति होने पर कर्तव्य-बोध उसके स्वभाव में आ जाता है; फिर प्रयास और आदेश की आवश्यकता नहीं होती।

उपनिषदों में नीति को ज्ञान की उपेक्षा गौण स्थान मिलने के कारण कई आलोचक विद्वानों ने यह धारणा बना ली कि उपनिषदों ने नीति की अवहेलना की है। डॉयसन नामक विद्वान् ने अपने ग्रन्थ 'फिलॉसफी ऑफ दी उपनिषद्स' में यह लिखा है कि 'नीति न केवल पूर्णज्ञानी के लिए अनावश्यक है, किन्तु सामान्य साधक के लिए भी' :

> "नैतिक आचरण प्रत्यक्ष रूप से उस ज्ञान की प्राप्ति में सहायक नहीं है, जिससे मोक्ष की अनुभूति होती है; केवल अप्रत्यक्ष रूप से है। क्योंकि यह ज्ञान बाहर से नहीं होता, जिसका पहले कोई अस्तित्व नहीं था और (नैतिक) उचित प्रयत्न से उत्पन्न किया गया। यह उसका प्रत्यक्ष मात्र है जो सनातन रूप से पहले से ही वर्तमान था।"[1]

परन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि उपनिषदों में जिस ज्ञान की चर्चा की गयी है वह संकीर्ण अर्थ में नहीं है। उनमें जहाँ केवल कर्मकाण्ड को ब्रह्मानुभूति के लिए अपर्याप्त बतलाया गया है वहाँ कोरे ज्ञान को भी :

> "यह आत्मा न प्रवचन से प्राप्त होता है, न मेधा से और न बहुश्रुत होने से।"[2]

उपनिषदों के ज्ञान में नैतिक आचरण अन्तर्निहित अथवा पूर्वनिहित है। आध्यात्मिक साधना में प्रविष्ट होने के लिए चित्त की शुद्धि और नैतिक आचरण अनिवार्य है और साधना के समय सहायक :

> "यह आत्मा बलहीन से प्राप्य नहीं और न प्रमाद, तप अथवा बाह्य

---

१. पृ० ३६२।

२. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। मुण्डकोपनिषत् ३.२.३।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

• Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

चिह्न-धारण से। जो विद्वान् इन उपायों (नैतिक और बौद्धिक) से प्रयत्न करता है उसी का आत्मा ब्रह्मधाम में प्रवेश करता है।"[१]

"यह आत्मा सत्य से प्राप्य है, तप, सम्यग्ज्ञान और नित्य ब्रह्मचर्य से। यह अन्तः शरीर में ज्योतिर्मय शुभ्र स्थित है, जिसे (ऐसे) यतिगण देखते हैं जिनके सभी दोष क्षीण हो गये हैं।"[२]

उपनिषदों में जिन नैतिक गुणों पर जोर दिया गया है वे केवल त्यागात्मक और निषेधात्मक ही नहीं हैं, क्रियात्मक भी। सुचरित अर्थात् सत्कर्मों का बराबर उपदेश किया गया है। दान, आतिथ्य और परोपकार की प्रशंसा की गयी है। एक और बात भी ध्यान देने की है। तपस्या के साथ तथा उसके बदले क्रियात्मक नैतिक आचरणों का महत्त्व उपनिषदों में स्वीकार किया गया है और यह बतलाया गया है कि सभी सद्गुण एक प्रकार के तप हैं। "ऋत तप है; सत्य तप है; श्रुत तप है : शान्ति तप है; दान तप है; यज्ञ तप है. . .।"[३] "जिस प्रकार प्रफुल्लित वृक्ष की गन्ध दूर तक जाती है उसी प्रकार पुण्य कर्म की गन्ध भी दूर तक जाती है।"[४] उपनिषदों में यह कहा गया है कि मनुष्य में इच्छा-स्वातंत्र्य है और वह अपने शुभाशुभ कर्मों से अपनी अध्यात्मिक स्थिति को प्रभावित करता है। यह असंगत और अन्यायपूर्ण होगा यदि हम उपनिषदों में आधुनिक सामाजिक आदर्शों के अनुसार समाज-सेवा की एक सुव्यवस्थित योजना ढूंढ़ने की चेष्टा करते हैं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं की उपनिषदें मनुष्य की पवित्रता, ज्ञान और पूर्णता का विधान हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। पवित्र, प्रबुद्ध और पूर्ण पुरुष ही लोक-नीति और लोक-कल्याण के निर्माता हो सकते हैं। पवित्रता, ज्ञान और पूर्णता के अभाव में लोक कल्याण की यांत्रिक योजना निष्प्राण और मूल्यरहित है।[५]

---

१. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्म धाम ।।वही ३.२.४।

२. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ।। वही, ३.१.५।

३. ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दानं तपो यज्ञास्तपो
भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्यैतत्तपः ।। महानारायणोपनिषत्। ८.१।

४. यथावृक्षस्य संपुष्पितस्य दूराद्गन्धो वात्येवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद्गन्धो वाति। वही ८.२।

५. द्रष्टव्य साहित्यः—(१) अथर्ववेद (२) शतपथब्राह्मण (३) ऐतरेय ब्राह्मण (४) अष्टाविंशति-उपनिषद् (५) हॉपकिन्स : दि रेजिजन्स आफ इंडिया, अध्याय ६, (६) हॉपकिन्सः एथिक्स ऑफ इंडिया, (७) डॉयसनः दि फिलॉसफी ऑफ दि उपनिषद्स (८) राधाकृष्णन्ः इंडियन फिलॉसफी जिल्द १ अध्याय ३ और ४।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

३. महाभारत में नीति : कर्मयोग

महाभारत के समय भारतीय नीति एक विशिष्ट स्थिति में पहुँची। भारतीय युग-परम्परा के अनुसार महाभारत युद्ध द्वापर के अन्त में हुआ था। द्वापर का अर्थ है द्विविधा, द्वैत, द्वन्द्व और संघर्ष। द्वापर वह युग है जिसमें इन वृत्तियों का प्रावल्य हो। अतः महाभारत कौरव-पाण्डवों का केवल गृह-युद्ध नहीं था। यह एक युग-व्यापी महान् विश्व-युद्ध था। कौरव-पाण्डव तो इसके प्रतिनिधि अथवा प्रतीक मात्र थे। प्रायः ऐसे युग को संकट-काल अथवा संक्रमण-काल कहा जाता है। ऐसे काल में जीवन के सभी प्रश्न और समस्त समस्याएँ उलझी रहती हैं। संशय, दुविधा, द्वन्द्व, संघर्ष आदि से सम्पूर्ण वातावरण व्याप्त रहता है। प्राचीन मान्यताएँ टूटने लगती हैं। नयी अभी बन नहीं पाती हैं। इसलिए जीवन की ऐसी कोई विषम परिस्थिति नहीं है जो महाभारत में चित्रित न हो और जिसका समाधान न प्रस्तुत किया गया हो।[१] कार्याकार्य के सम्बन्ध में विचिकित्सा और उसका समाधान ही नीति-शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। वैसे तो महाभारत के प्रत्येक पर्व में नैतिक समस्याएँ उठायी गयी हैं और उनका समाधान प्रस्तुत किया गया है। शायद ही कोई ऐसा अध्याय हो जिसमें धर्म अथवा नीति का उल्लेख न हो। परन्तु विशेषकर वनपर्व, सभापर्व, भीष्मपर्व, शान्तिपर्व और अनुशासनपर्व में नीति की व्याख्या विशद रूप से की गयी है। भीष्मपर्व के प्रारम्भ में युद्ध के पूर्व अर्जुन का व्यामोह, कार्याकार्य के सम्बन्ध में उनकी शंका, अज्ञानमूलक प्रज्ञावाद अथवा पण्डितवाद और भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा उनका समाधान नैतिक विवेचना का केन्द्रस्थल है। यही गीता का प्रतिपाद्य विषय है। मुख्यतः इसी के आधार पर महाभारतीय नीति का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जायेगा। गौणतः अन्य स्थलों से भी सामग्री का उपयोग होगा।

गीता का पहला विषय है : नैतिक जिज्ञासा और नैतिक उपदेश की योग्यता और पात्रता किसमें होती है ? मनुष्य के बौद्धिक और नैतिक विकास की मोटे तौर पर तीन अवस्थाएँ होती हैं—(१) मूढ़, (२) जागरूक और (३) सिद्ध। मूढ़ को संसार के दुःख सताते नहीं, लोक-कल्याण की उसे चिन्ता नहीं होती और न उसको सत्यासत्य, शुचि-अशुचि, उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय के सम्बन्ध में जिज्ञासा ही होती है। इसका कारण यह है कि मूढ़ तमोगुण से अभिभूत होता है जिसका प्रधान लक्षण है जडत्व। जागरूक में रजोगुण की प्रधानता होती

१. महाभारत के आदिपर्व में इसको 'सूक्ष्मार्थन्याययुक्तं' और 'अनेक समयान्वितं' कहा गया है। यह भी कहा गया है कि इसमें धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र का प्रतिपादन हुआ है (आदि २)। महाभारत की प्रशंसा में तो यहाँ तक कहा गया है कि 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' (जो कुछ महाभारत में है, वही और स्थानों में है; जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र भी कहीं नहीं) (आदि, ६२.५३)।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उसका जीवन दुविधा, द्वन्द्व और संघर्ष का क्रीड़ा-क्षेत्र होता है। वास्तव में उसका मानस ही कुरुक्षेत्र है। उसके सामने संसार की समस्याएँ और प्रश्न अपने विकट रूप में प्रस्तुत होते हैं। सिद्ध में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, जिसके मुख्य लक्षण हैं प्रकाश, ज्ञान और प्रसाद। सिद्ध की सभी ग्रंथियाँ सुलझी होती हैं; उसकी सभी समस्याएँ हल हुई होती हैं। उसके सभी मानसिक द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। दुविधा और संशय से वह पीड़ित नहीं होता। यदि दूसरे शब्दों में कहा जाय तो मूढ़ पशु-धरातल पर होता है और सिद्ध देव-धरातल पर। सामान्य मानव का प्रतिनिधि अथवा प्रतीक जागरूक है जो न तो पशु है और न सिद्ध, किन्तु जिसमें अभी पशुत्व का अवशेष और देवत्व का आभास है। महाभारत युद्ध के समय जो दुविधा और जिज्ञासा हुई वह न तो भीम को, जो भोजन और अन्य वासनाओं के पशु-धरातल पर थे, और न युधिष्ठिर को जो धर्मराज बन चुके थे, जो सत्त्वगुण प्रधान थे और जो राग-द्वेष से विचलित नहीं हो सकते थे। महाभारत-युद्ध के पूर्व व्यामोह हुआ अर्जुन को जो बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से भीम और युधिष्ठिर के बीच में थे। अर्जुन में रजोगुण की प्रधानता थी। इसीलिए वह निज-पर, लाभ-हानि, जय-पराजय, उचित-अणुचित, धर्म-अधर्म आदि की समस्याओं से उद्विग्न थे, जब कि ये समस्याएँ भीम और युधिष्ठिर को पीड़ित नहीं करती थीं। अर्जुन सत्त्वगुण की ओर उन्मुख थे। इसीलिए उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म की उन्हें विचिकित्सा भी थी। अर्जुन और कृष्ण का सख्य भी प्रतीकात्मक है। जो मनुष्य दिव्यशक्ति के साहचर्य का अपने अन्त-रात्मा में अनुभव करता है उसी के हृदय में नैतिक और धार्मिक प्रश्नों का उदय होता है और उसी को उनका समाधान भी मिल सकता है।

गृह-युद्ध के पूर्व कुरु-क्षेत्र के मैदान में, अपने स्वजन, बान्धवों और सम्बन्धियों को देखकर कुलक्षय और नैतिक विनाश की आशंका से अर्जुन को जो विषाद हुआ उसका चित्र गीता के द्वितीय अध्याय में इस प्रकार मिलता है :

> "वहाँ अर्जुन ने दोनों सेनाओं में पिता-सदृशों, पितामहों, आचार्यों, मातुलों, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, मित्रों, श्वसुरों तथा शुभ-चिन्तकों को स्थित देखा। कुन्ती के पुत्र (अर्जुन) वहाँ सभी बान्धवों को युद्ध के लिए पंक्ति-बद्ध देखकर और अत्यन्त करुणा से अभिभूत होकर विषाद करते हुए निम्नांकित वचन बोले ।।२६,२७।।"
>
> "हे कृष्ण ! युद्ध के लिए उपस्थित इन सज्जनों को देखकर मेरे अङ्ग ढीले हो रहे हैं। मुख सूख रहा है। शरीर में कम्प है। रोएँ खड़े हो रहे हैं ।।२८,२९।।"
>
> हाथ से मेरा धनुष गांडीव गिर रहा है। त्वचा जल रही है। खड़ा होने में असमर्थ हो रहा हूँ। मेरा मन भ्रमित हो रहा है ।।३०।।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हे केशव ! सभी निमित्त मुझे विपरीत दिखायी पड़ रहे हैं। युद्ध में अपने स्वजनों को मार कर हमे कल्याण नहीं दिखायी पड़ता ॥३१॥
हे कृष्ण ! न मैं विजय की कामना करता हूँ, न राज्य की और न सुख की। हे गोविन्द ! राज्य लेकर क्या होगा ? भोग और जीवन से भी क्या लाभ होगा ? ॥३२॥

× × ×

हे मधुसूदन ! मारे जानें पर भी इनको मारने की इच्छा नहीं करता तीनों लोकों के राज्य के लिए भी, फिर पृथ्वी की क्या बात ? ॥३५॥

× × ×

यद्यपि ये लोभ से अभिभूत चित्तवाले नहीं देखते हैं।
कुलक्षय से उत्पन्न दोष और मित्रद्रोह के पाप को ॥३८॥
हे जनार्दन ! कुलक्षय को देखनेवाले हम लोगों के द्वारा इस पाप से निवर्तन को क्यों नहीं समझना चाहिए ॥३९॥
कुलक्षय होने पर सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं।
धर्म के नष्ट होने पर अधर्म सम्पूर्ण कुल को अभिभूत कर देता है ॥४०॥
हे कृष्ण ! अधर्म की वृद्धि होने पर कुलस्त्रियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं।
हे वार्ष्णेय ! स्त्रियों के भ्रष्ट होने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है ॥४१॥

× × ×

हाय, हम महान् पाप करने को उद्यत हैं जो राज्य-सुख के लोभ से अपने स्वजनों को मारने के लिए उद्यत ॥४५॥
यदि मुझ बदला न लेनेवाले शास्त्रहीन को शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मार डालें तो कल्याणकर होगा ॥४६॥
शोक से उद्विग्न चित्तवाले अर्जुन ऐसा कहकर और वाण चढ़े धनुष को छोड़ कर युद्धभूमि में रथ के पिछले भाग में पड़ गये ॥४७॥

यदि अर्जुन के विषाद का विश्लेषण किया जाय तो आचार-सम्वन्धी निम्न-लिखित तथ्य प्रकट होते हैं :

(१) अर्जुन अपने क्षात्र-धर्म से विमुख हो रहा था।
(२) यह पथ-भ्रष्टता अपने स्वजनों और सम्बन्धियों की मृत्यु की आशंका से हो रही थी।
(३) इस आशंका से शारीरिक क्लीवता आ गयी थी।
(४) क्लीवता से झूठा वैराग्य उत्पन्न हो गया था।
(५) झूठे वैराग्य के लिए नैतिक दर्शन गढ़ा जा रहा था।
(६) कुलक्षय और वर्ण-संकर से धर्म के विनाश की आशंका प्रस्तुत की जा रही थी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

(७) दर्शन और धर्म का सहारा लेकर असमय युद्ध अपने कर्तव्य कर्म से संन्यास ले लिया गया था।

अब प्रश्न यह था कि इस नैतिक परिस्थिति का उपचार कैसे किया जाय। क्षात्र-धर्म की दुहाई देने से अर्जुन युद्ध के लिए तैयार होता नहीं, क्योंकि वह उच्चतर मानवधर्म के नाम पर हथियार डाल रहा था। यदि यह कहा जाता कि युद्ध में मनुष्य के मरने से कुछ नहीं होता, क्योंकि आत्मा अजरामर है तो अर्जुन मानता नहीं। कारण कि उसकी आसक्ति सम्बन्धियों और बान्धवों के शरीर से थी, उनकी आत्मा से नहीं। क्लीवता की भर्त्सना करने से कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि वह परम करुणा से द्रवीभूत होता जा रहा था। वैराग्य को असामयिक कहने से काम नहीं चलता, क्योंकि वैराग्य का कोई समय नियत नहीं। कुल-क्षय और विनाश की आशंका झूठी नहीं थी। प्रजाति की रक्षा के लिए गृह-युद्ध के लिए प्रेरणा नहीं मिल सकती थी। सामाजिक दर्शन और परम्परागत धर्म की दुहाई अर्जुन स्वयं दे रहा था; इनसे वह प्रभावित नहीं होता। प्रश्न बड़ा विकट था, परन्तु इसका समाधान अनिवार्य था। व्यक्तिगत लाभ, सामाजिक उपयोगिता, सुखवाद आदि कोई तथाकथित नीति के आधार काम नहीं दे रहे थे। भगवान् कृष्ण ने सोचा कि नीति का ऐसा आधार अर्जुन के सामने प्रस्तुत करना चाहिए जो सभी मतों और वादों का मूल हो और जिसके ऊपर ये सभी समर्पित किये जा सकें। देववाद, वेदवाद, कर्मकाण्ड, तप, सुखवाद आदि से सहारा नहीं मिल सकता था। इसके लिए अन्तर्मुख होने की आवश्यकता थी। इस दिशा में उपनिषदें ही सहायक हो सकती थीं। इसलिए भगवान् कृष्ण ने उन्हीं का दोहन किया। उनके अनुसार सम्पूर्ण विश्व का केन्द्रविन्दु और प्रेरक आत्मा है। उसी के अनुभव और प्राप्ति में जीवन की सफलता और पूर्णता है। उसी के लिए सम्पूर्ण कर्म किये जाते हैं। नीति का भी वही आधार और स्रोत है। अतः भगवान् ने नीति-सम्वन्धी सभी दुविधाओं और शंकाओं के समाधान के लिए जीवन का आध्यात्मिक आधार प्रस्तुत किया, जो सामयिक और सनातन दोनों है। नीति के आध्यात्मिक आधार पर मानव के कर्तव्य का निर्णय निम्नांकित क्रम से किया गया :

(१) स्वभाव
(२) स्वधर्म
(३) स्वकर्म

नीतिशास्त्र में 'स्वभाव' का प्रश्न मौलिक और महत्त्वपूर्ण है। स्वभाव का अर्थ है अपना भाव अथवा स्वरूप। जो अपने भाव अथवा स्वरूप को नहीं जानता वह अपने धर्म और अपने कर्तव्य को भी नहीं जान सकता। अतः उपनिषदों का स्थायी आदेश था : 'आत्मानं विद्धि' (अपने को जानो)। यदि अपने को नहीं जाना तो सारे संसार को जानने का प्रयत्न व्यर्थ है। अतः कर्तव्य-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

निरुपण को स्थगित कर सर्वप्रथम भगवान् ने आत्मा के स्वभाव अथवा स्वरूप पर ही अर्जुन को उपदेश दिया :

"हे अर्जुन ! जिनके लिए शोच नहीं करना चाहिए उनके लिए शोच करते हो और फिर भी पण्डितों के समान बातें करते हो। मृत और जीवित के लिए पण्डित लोग शोच नहीं करते ।।२.११।।
वास्तव में ऐसा कोई समय नहीं था जब मैं नहीं था तथा तुम और ये राजागण नहीं थे। और यह भी बात नहीं है कि हम सब आगे नहीं होंगे ।।२.१२।।
पुरुष के इस शरीर में जिस प्रकार कौमार, यौवन और जरा होते हैं उसी प्रकार एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर की प्राप्ति भी। इस सम्बन्ध में धीर व्यक्ति को मोह नहीं होता ।।२.१३।।

× × ×

न तो असत् का कभी भाव होता है और न सत का कभी अभाव। इन दोनों की वास्तविकता को तत्त्वदर्शी लोग जानते हैं ।।१६।।
जिस तत्त्व से यह विश्व तना गया है उसको अविनाशी समझो। इस अविनाशी तत्त्व का विनाश कोई कर नहीं सकता ।।१७।।
नित्य, नाश रहित और अनिर्वचनीय आत्मा के ये शरीर नाशवन्त हैं। इसलिए हे अर्जुन ! युद्ध करो ।।१८।।
जो इस आत्मा को मारनेवाला जानता है अथवा जो मरा हुआ मानता है वे दोनों नहीं जानते। यह आत्मा न मारता है और न मारा जाता है ।।२.१९।।
यह न कभी उत्पन्न होता है और न मरता है
और न कभी होकर होता है।
यह अज, नित्य, शाश्वत और आदिम है
शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता ।।२.२०।।

× × ×

हे भारत ! यह आत्मा सबके शरीर में नित्य और अवध्य है। इसलिए सभी जीवधारियों के शरीर के बारे में शोच करना तुम्हें योग्य नहीं ।।२.३०।।

अर्जुन का व्यामोह प्रथमतः अपने सम्बन्धियों और मित्रों के शरीर-नाश के बारे में था। इसलिए भगवान् कृष्ण ने आत्मा की अमरता और शरीर की नश्वरता का प्रतिपादन किया और यह स्पष्ट किया कि नश्वर शरीर को लेकर कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय नहीं हो सकता। कार्य-अकार्य का अन्तिम निर्णय आत्म-कल्याण की दृष्टि से ही हो सकता है। परन्तु यद्यपि तात्विक दृष्टि से आत्मा नित्य, अजर, अमर, विभु और सर्वव्यापी है, मनुष्य की प्रकृति के अनुसार उसका स्वधर्म बन जाता है। उसी स्वधर्म से मनुष्य के सामाजिक कर्तव्य निश्चित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

होते हैं। स्वधर्म और स्वभाव का सहज सम्वन्ध है। अतः स्वभाव अर्थात् आत्मिक कल्याण के लिए अपने स्वधर्म का पालन करना चाहिए :

"अपने स्वधर्म को देखकर भी तुम्हें विचलित नहीं होना चाहिए। धर्मयुद्ध से वढ़कर क्षत्रिय के लिए अन्य कुछ नहीं है ।।२.३१।।
अपने आप यह उन्मुक्त स्वर्ग का द्वार (युद्ध) प्रस्तुत हो गया है। हे पार्थ, भाग्यशाली क्षत्रिय ही ऐसे युद्ध को पाते हैं ।।२.३२।।
यदि तुम इस धर्मयुद्ध को नहीं करोगे तो अपने धर्म और कीर्ति को छोड़कर पाप को प्राप्त होगे ।।२.३३।।

× × ×

या तो युद्ध में मारे जाकर स्वर्ग प्राप्त करोगे अथवा विजयी होकर पृथ्वी का भोग करोगे। इसलिए हे कौन्तेय! युद्ध के लिए निश्चय करके उठो ।।२.३४।।
सुख और दुःख, लाभ और हानि तथा जय और पराजय इन सबको समान समझकर युद्ध में प्रवृत्त हो। इस प्रकार युद्ध करने से तुम्हें पाप नहीं लगेगा ।।२.३८।।

जव एक वार स्वधर्म का निर्णय हो गया तो आत्मिक कल्याण के लिए उसका करना अनिवार्य है। तव स्वधर्म के पालन में सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय का प्रश्न असंगत हो जाता है। सामान्य धर्म के सम्बन्ध में भ्रम होने के कारण स्वधर्म के पालन में कभी-कभी पाप-पुण्य की शंका उत्पन्न हो जाती है। परन्तु यह शंका भी व्यर्थ है। स्वधर्म-पालन से पाप लगता ही नहीं। जो आध्यात्मिक दृष्टि से स्वधर्म है वही व्यावहारिक अथवा सामाजिक दृष्टि से 'स्वकर्म' हो जाता है। परन्तु वास्तव में यह भी धर्म ही है। कर्म के सम्वन्ध में यह आशंका होती है कि इससे वन्धन उत्पन्न होता है अर्थात् इसके फलाफल से मनुष्य आवागमन के चक्र में पड़ जाता है। इसके उपचार में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि जिस प्रकार स्वधर्म सांख्य अथवा ज्ञान की दृष्टि से पालित होता है उसी प्रकार स्वकर्म वुद्धियोग द्वारा करना चाहिए; इससे कर्म-बन्धन का नाश हो जाता है। वुद्धि-योग का अर्थ है राग-द्वेष रहित शुद्ध अनासक्त कर्तव्य-बुद्धि। इसी से स्वधर्म का पालन होता है और स्वभाव की पूर्णता का अनुभव होता है :

"यह तुम्हारे लिए सांख्य की दृष्टि से कहा गया, अब बुद्धि-योग की, दृष्टि से सुनो जिससे वुद्धियुक्त होकर कर्म-बन्ध का नाश करोगे।२.३९
इस (अनासक्त कर्म) में प्रयत्न का कभी नाश नहीं होता और न उलटा फल होता है। इस धर्म का स्वल्प भी (जत्म-मृत्यु के) महान् भय से त्राण करता है ।।२.४०।।
हे कुरुनन्दन! इस वुद्धियोग में वुद्धि व्यवसायात्मिका और एकाग्र रहती है। अव्यवस्थित चित्तवाले मनुष्य की बुद्धि वहुत शाखावाली और अनन्त (छिन्न-भिन्न) होती है।२.४१।।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नीति का उच्चतम आदर्श गीता के कर्मयोग के सिद्धान्त में पाया जाता है। भगवान् कृष्ण ने गीता में आत्म-बोध के दो प्रचलित मार्गों—ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग—का स्पष्टीकरण किया है और अन्त में घोषणा की है कि इन दोनों में आत्म-सिद्धि के लिए कर्म-मार्ग ही सुलभ और श्रेयस्कर है। इस दार्शनिक विवेचन के अनुसार कोई भी व्यक्ति एक क्षण भी निष्क्रिय नहीं रह सकता। इसलिए कर्म के भौतिक त्याग के सारे प्रयत्न व्यर्थ हैं। कर्म के विरोध में सबसे बड़ा तर्क यह है कि इससे बन्धन उत्पन्न होता है; इसलिए मोक्ष के लिए इसका त्याग आवश्यक है। परन्तु भौतिक या शारीरिक धरातल पर जहाँ त्याग ही असंभव है वहाँ क्या किया जाय? इसका निराकरण भगवान् कृष्ण ने इस प्रकार किया है कि कर्म तो छूट नहीं सकता, परन्तु उसके बन्ध उत्पन्न करने की क्षमता नष्ट की जा सकती है। जिस प्रकार सर्प के दाँत तोड़ देने पर उसका विष समाप्त हो जाता है उसी प्रकार कर्म से कामना अथवा वासना रूपी दंश निकाल देने से वह विषरहित और ग्राह्य हो जाता है। इसलिए आजीवन अपने स्वधर्म का निष्काम भाव से पालन करना चाहिए। कर्म-फल की आशा न रखते हुए अपने कर्तव्य कर्म को करना ही योग है।

कर्मयोग में जिस अनासक्ति और मानसिक संतुलन की अपेक्षा है वे सतत अभ्यास से ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के अनासक्त और सिद्ध पुरुष को गीता में स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत, योगी आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है। "कोई पुरुष स्थितप्रज्ञ तब कहलाता जब वह सभी आकांक्षाओं का परित्याग करके अपने आत्मा में ही संतुष्ट रहता है। न तो दुःख से विचलित होता है और न सुख से प्रसन्न। वह आसक्ति, क्रोध और भय से रहित होता है। ऐसे सन्त को स्थितप्रज्ञ कहते हैं। वह सभी से प्रेम करता और दुःख एवं सुख से उद्विग्न नहीं होता। जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को भीतर समेट लेता है उसी प्रकार वह अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से वापस खींच लेता है। जब वह परम तत्त्व से अपना ऐक्य स्थापित कर लेता है तो विषय-सुखों की आकांक्षा भी समाप्त हो जाती है। जो पुरुष अपनी सभी आकांक्षाओं का परित्याग कर देता है और अहंकार और आसक्ति से रहित हो जाता है वह परम शक्ति को प्राप्त होता है।"[1] इसी प्रकार त्रिगुणातीत और योगारूढ़ पुरुषों के लक्षण भी गीता में बताये गये हैं।[2]

गीता के अनुसार उच्चतम आध्यात्मिक उपलब्धि नैतिक आचरण का बाधक नहीं, किन्तु उसका आधार और प्रेरक है। सिद्ध पुरुष अपने सांसारिक और

---

१. प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ गीता, २. ५५–५६, आगे

२. गीता, २.२२-२५; ६.२-४।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सामाजिक कर्तव्यों के पालन से विमुख नहीं होता। वह-लोक-संग्रह के लिए अपने सामाजिक कर्तव्यों का पालन करता है। प्रथमतः संसार के धारण के लिए कर्म करना आवश्यक है। दूसरे वह इसलिए भी कर्म करता है कि वह निम्न स्तर के पुरुषों के लिए समाज में आदर्श उपस्थित कर सके।

महाभारत के अन्य स्थलों में भी कर्म-सन्यास और कर्मयोग के सापेक्ष महत्त्व का विवेचन किया गया है। एक सम्प्रदाय कर्म-सन्यास और ज्ञानमार्ग पर अधिक वल देता है, दूसरा कर्मयोग और लोक-संग्रह के ऊपर। शान्तिपर्व में कर्म-सन्यास और ज्ञान मार्ग पर वल देनेवाले कई प्रसंग उपस्थित किये गये हैं। ब्राह्मण-पुत्र मेधावी अपने पिता से प्रश्न करता है: "पिताजी! मनुष्य का आयुष्य धीरे-धीरे कम होता जाता है। यह जानते हुए वुद्धिमान् मनुष्य को कौन-सा उपाय करना चाहिए? कृपया मुझको साफ-साफ समझाइए जिससे मैं धर्म का पालन कर सकूं।" पिता ने उत्तर दिया कि धर्मपालन के लिए चारों आश्रमों का क्रमशः अवलम्वन करना चाहिए। पुत्र ने फिर प्रश्न किया, "जीवन की सीढ़ी के एक-एक डंडे चढ़कर समय क्यों नष्ट करना चाहिए? मैं सन्तानोत्पत्ति नहीं करूँगा, क्योंकि मेरी सन्तति मुझे मुक्त नहीं कर सकेगी। परन्तु वह पुरुष, जिसने अपने मन और वचन पर संयम कर लिया है और जिसमें तपस्या, त्याग और योग निवास करते हैं, कोई भी सिद्धि प्राप्त कर सकता है। शास्त्रों ने भी कहा है कि "तत्त्वज्ञान से वढ़कर कोई तीक्ष्ण दृष्टि और उच्चतर सत्य नहीं है। आसक्ति से वढ़कर कोई दुःख नहीं और त्याग से वढ़कर कोई सुख नहीं। एकान्तवास, सब पर समदृष्टि, सत्याचरण, शिष्ट व्यवहार, हिंसा का त्याग, सादगी और कर्म-सन्यास ब्राह्मण की सर्वोत्तम सम्पत्ति है। हे ब्राह्मण! जव तुम मरोगे, तुम्हारी भौतिक सम्पत्ति तुम्हारे किस काम आयेगी? तुम्हारे सम्वन्धी और पत्नी तुम्हारा कौन-सा उपकार करेंगे? इसलिए अपने हृदय में स्थित होकर आत्म-ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करो? उस मार्ग का चिन्तन करो जिससे तुम्हारे पूर्वज परम पद को प्राप्त हुए हैं।"[१]

पराशर-गीता में भी कर्म-सन्यास के महत्त्व पर बल दिया गया है। "गृहस्थ आश्रम में रहनेवाला व्यक्ति रज और तम से वरावर सम्पृक्त रहता है। इसलिए वह सांसारिक विषयों में आसक्त हो जाता है। परन्तु वह व्यक्ति, जिसने ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो कर्म-फल की आकांक्षा छोड़कर सत्कर्म करता है, फलदायी किन्तु निषिद्ध कर्मों का त्याग करता है, सनातन सुख प्राप्त करता है। हे राजन्! प्रत्येक व्यक्ति सांसारिक पदार्थों से ऊव जाता है। जव उसकी सन्तति अथवा पत्नी की मृत्यु होती है अथवा जव वह स्वयं आधि-व्याधि से पीडित होता है, तव वह आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करता है। इस इच्छा की तृप्ति के लिए वह शास्त्रों का अध्ययन करता है और गंभीर अध्ययन के वाद

१. महाभारत, शान्तिपर्व (वम्वई संस्करण), २२७.५ आगे।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यह निश्चय करता है कि इस दिशा में तप की सबसे अधिक उपयोगी है।"[१] कपिल-गीता में भी अवान्तर से इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। सुलभा-जनक-सम्वाद में भी सन्यास और कर्म के सापेक्ष महत्त्व का विवेचन है। अन्त में जनक इस वात को स्वीकार करते हैं कि जव भी मनुष्य को जगत् की निस्सारता की अनुभूति हो, उसे संसार का त्याग कर देना चाहिये।[२]

कर्म-सन्यास के विरोध में महाभारत में एक प्रवल विचार-धारा पायी जाती है। मोक्ष के लिए सन्यास की उपयोगिता स्वीकार करते हुए भी गृहस्थाश्रम की वड़ी प्रशंसा की गयी है। यह कहा गया है कि मोक्ष प्राप्त करने के लिए क्रमशः चारों आश्रमों का पालन करना चाहिए। व्यक्ति के चरित्र, शिक्षण और विकास के लिए आश्रम सीढ़ियों का काम देते हैं। अति-सन्यास मार्ग की प्रतिक्रिया में महाभारत में यह भी कहा गया है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए गृहस्थाश्रम उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना सन्यास और मोक्ष-प्राप्ति के लिए स्वतः पर्याप्त है। यह भी कहा गया है कि इसकी अवज्ञा करके मोक्ष प्राप्त करना असंभव है। गृहस्थाश्रम के पक्ष में प्रमुख तर्क यह है कि यह अन्य आश्रमों का आश्रय है। गृहस्थ के पुरुषार्थ से ही अन्य आश्रमों का पालन होता है। ऋषि स्युमरश्मि ने कहा है, "सुख-दुःख में मानसिक सन्तुलन बनाये रखना मोक्ष-प्राप्ति में एक आवश्यक चरण है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश किये बिना इस स्थिति की प्राप्ति नहीं होती। जिस प्रकार सभी जीवधारी अपने जीवन के लिए अपनी माँ पर अवलम्बित होते हैं उसी प्रकार सभी आश्रम अपने अस्तित्व के लिए गृहस्थाश्रम पर अवलम्बित होते हैं।"[३] महाभारत के कई स्थलों पर ऐसे भी वचन पाये जाते हैं कि केवल वे ही इस आश्रम से भगना चाहते हैं जो आलसी होते हैं और अपने दायित्व के पालन करने में असमर्थ होते हैं: "वे आलसी और अज्ञानी पुरुष, जिनमें विश्वास और विवेक नहीं होते, जिनमें दूरदर्शिता और सामाजिकता का अभाव होता है, संसार का परित्याग करते हैं। इसका एकमात्र कारण यह है कि वे अपने सांसारिक कर्तव्यों से थके होते हैं।"[४] गृहस्थाश्रम के महत्त्व का दूसरा कारण यह था कि इसी के द्वारा सन्तान की उत्पत्ति होती है, जिससे वंश-परम्परा चलती है और पुत्र द्वारा दिये हुए पिण्ड-दान से पितरों का आत्मिक कल्याण होता है। जरत्कारू और मन्दपाल की कथाओं में गृहस्थाश्रम के इसी अंग की प्रशंसा की गयी है।[५]

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, २६० आगे

२. वही, ३०८ आगे।

३. महाभारत, शान्तिपर्व, २६१. ५ आगे

४. वही, १६०.१० आगे।

५. महाभारत, आदिपर्व, १४,१५; २२०.५–१४

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वास्तव में सन्यास और गार्हस्थ्य दोनों ही मानव नीति के विकास के लिए आवश्यक माने गये। सन्यास मनुष्य को निःस्वार्थ होने और अपनी सम्पत्ति को सामाजिक लाभ के लिए समर्पित करने की शिक्षा देता था; गार्हस्थ्य सामाजिक विनय और अनुशासन में व्यक्ति को स्थिर रखता था। दोनों ही एक-दूसरे के पूरक थे। गीता ने सामाजिक कर्तव्यों के पालन में सन्यास और कर्मयोग का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया।

जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय के लिए महाभारत में आश्रम-व्यवस्था का विधान किया गया है। मानव जीवन के चारों पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का समन्वय क्रमशः चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्म, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास—के पालन से सुचारु रूप से हो जाता है। इन पुरुषार्थों की जीवन में इस प्रकार उपलब्धि होनी चाहिए जिससे प्रथम तीन पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति में सहायक हो सकें। इस संतुलन के बिना मानव जीवन दुःखमय है: "इस संसार में सभी दुःखों का स्रोत यह जीवन व्यर्थ है। व्यक्ति को धर्म, अर्थ और काम अकेले ही प्राप्त करना होता है, अतः वह दुःखी रहता है; और यदि वह उनको पाने का प्रयत्न नहीं करता तो भी वह दुःखी रहता है। किसी के मत में मोक्ष सर्वोत्तम पुरुषार्थ है, किन्तु उसको प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। केवल अर्थ का अर्जन नरक की ओर ले जाता है।"[१] मानव जीवन की यह समस्या आश्रम व्यवस्था से हल हो जाती है। इसके द्वारा मनुष्य व्यक्तित्व का उत्तरोत्तर विकास होता है और अन्त में वह उच्चतम नैतिक आदर्श को प्राप्त होता है।[२]

महाभारत में वर्ण-धर्म का वर्णन भी नीति की दृष्टि से किया गया है। धर्म और नीति में कोई भेद नहीं किया गया है। विभिन्न वर्णों के व्यावसायिक कर्तव्यों के साथ उनके नैतिक आधार पर बल दिया गया है तथा सामान्य नैतिक आचरण का पालन आवश्यक बतलाया गया है। चारों वर्णों में ब्राह्मण का प्राधान्य इसलिए था कि उसके जीवन की नीति की उच्चतम प्रतिष्ठा थी। क्षत्रिय अप्रमाद, उत्साह, कर्मठता, प्रजा-रक्षण आदि गुणों से युक्त होने के कारण ही राजत्व का अधिकारी था। वैश्य व्यावसायिक कर्मशीलता के साथ नैतिक शुचिता के कारण समाज का आधार और आदरणीय वना हुआ था। समाज की सेवा में आवश्यक श्रमदान कर शूद्र भी प्रतिष्ठा का पात्र समझा जाता था।

महाभारत के नकुलोपाख्यान में वर्ण और जाति के झूठे अहंकार के विरुद्ध शील की महत्ता स्वीकार की गयी है:

> "हे महामति सर्प! 'जाति-शब्द का प्रयोग तो मनुष्यत्व के अर्थ में ही किया गया है। सभी वर्णों का इतना मिश्रण हो चुका है कि शुद्ध जाति (रक्त) की परीक्षा कठिन है। सभी पुरुष सभी जाति के

---

१. महाभारत, आदिपर्व, ८७.४; शान्तिपर्व, १२३

२. वही, १५७.२०-२३।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

स्त्रियों से सन्तान उत्पन्न करते आये हैं। इसलिए जो तत्त्वदर्शी हैं वे शील को ही प्रधान मानते हैं, (जाति को नहीं)।"[1]

सभी वर्णों के लिए निम्नलिखित नैतिक गुणों का पालन अनिवार्य वतलाया गया है :

"ऋजुता, सर्वभूतदया, अहिंसा, अप्रमाद, श्राद्ध-कर्म, अतिथि-सेवा, सत्य, शान्ति, पत्नि-व्रत, सन्तोष, शुचिता, अद्वेष, आत्म-ज्ञान, और जिज्ञासा।"[2] ये तथा अन्य नैतिक गुण धर्म के घटक और मानवीय आचार के मूल स्रोत माने गये हैं। धृतराष्ट्र, और दुर्योधन के बीच हुए एक संवाद में धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर का उल्लेख करते हुए वतलाया कि नैतिक गुणों के विना मनुष्य को समृद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। इसी सम्बन्ध में धृतराष्ट्र ने प्रह्लाद की कथा भी कह सुनायी कि उसने शील के द्वारा ही इन्द्र का साम्राज्य प्राप्त किया; शील ही धर्म, व्रत, सत्य और समृद्धि का मूल है।[3]

जहाँ एक ओर नैतिक आचरण पर जोर दिया गया है वहाँ नैतिक गुणों के अभाव को अधर्म वतलाया गया है। सनत्सुजात ने मनुष्य के बारह अनैतिक दुर्गुणों की गणना की है, जिनमें क्रोध प्रमुख है।[4] अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से पूछा "न चाहते हुए भी किससे प्रेरित होकर मनुष्य पाप करता है?" भगवान् ने उत्तर दिया, 'रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध के द्वारा। ये मनुष्य के सहज शत्रु हैं।'"[5] गीता में अन्यत्र कहा गया है, "संग से काम उत्पन्न होता है, काम से क्रोध, क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृति-विभ्रम, स्मृति-विभ्रय से वुद्धि-नाश और वुद्धि-नाश से मनुष्य का सम्पूर्ण विनाश होता है।"[6] इस अन्तिम विनाश से बचने के लिए असंग अथवा अनासक्ति ही एकमात्र साधन है। व्यक्ति के कल्याण का यही प्रेरक है। यही उच्चतम ज्ञान है। अनासक्ति तथा मानसिक संतुलन के विकास से मनुष्य का पुण्य अविनश्वर रहता है।[7] गीता के सोलहवें अध्याय में

---

१. जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
संकरत्वात्सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः॥
तस्माच्छीलं प्रधानेष्ठं विदुः ये तत्त्वदर्शिनः॥

२. महाभारत, शान्तिपर्व, २८५.२३-२४।

३. वही, १२४.६०।

४. महाभारत, ५.४३-७।

५. गीता, ३.३६-३७।

६. ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधात्भवति संमोहः सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृति भ्रंशाद्‌बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ गीता. २.६२-६३

७. महाभारत, शान्तिपर्व, २८३.३।

१०

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों का भेद वतलाते हुए सात्त्विक गुणों और नैतिक दुर्गुणों की लम्बी सूचियाँ दी गयी हैं :

"अभय, शुद्ध सात्त्विक वृत्ति, ज्ञान और योग (कर्म) में व्यवस्थित वुद्धि, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन (दूसरों को न ठगना), दया, प्राणियों में अलोलुपता, मृदुता, लज्जा (शील), अचपलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच अद्रोह, निरभिमान आदि गुण दैवी सम्पत्ति में उत्पन्न हुए पुरुषों को प्राप्त होते हैं।"[१]

"दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान आदि दुर्गुण आसुरी सम्पत्ति में उत्पन्न हुए लोगों को प्राप्त होते हैं।"[२]

यह भी कहा गया है कि दैवी सम्पत्ति से मोक्ष की ओर पुरुष अग्रसर होता है और आसुरी सम्पत्ति से वन्धन की ओर।[३]

सनत्सुजातीय में दुर्गुणों की निम्नांकित सूची है : क्रोध, लोभ, मोह, विधित्सा (अतृप्ति), अकृपा, असूया, मान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और जुगुप्सा।

सामान्य धर्म अथवा नीति के अतिरिक्त महाभारत में विशेष परिस्थितियोंके आचरण की नैतिकता पर विचार किया गया है। उदाहरणार्थ युद्ध के नैतिक नियमों का विस्तार के साथ वर्णन हुआ है। क्षत्रियों के सैनिक धर्म का विधान धर्म अथवा नीति की रक्षा के लिए ही किया गया है। इसलिए युद्ध के नियम वनाये गये हैं। इन नियमों के अनुसार किया गया युद्ध ही धर्मयुद्ध हो सकता है, अन्यथा वह अधर्मयुद्ध होगा। युद्ध के नियम प्रायः लड़नेवालों के वर्ण, लिङ्ग और वय के ऊपर आधारित हैं। ब्राह्मण, स्त्री और वालक का वध सदा वर्जित और घृणास्पद है। ब्राह्मण का वध उसकी सामाजिक श्रेष्ठता के कारण निषिद्ध था। धृष्टद्युम्न द्वारा द्रोण के वध की महाभारत में निन्दा की गयी है। ब्राह्मण अवध्य ठहराया गया है और ब्राह्मण-वध की गणना महापातकों में की गयी है। परन्तु इस नियम के अपवाद भी पाये जाते हैं। यदि ब्राह्मण स्वयं किसी पर आक्रमण करे तो उसका वध करना पाप नहीं माना जाता था।[४] जब कोई शत्रु अपने हथियार डालकर शरणागत हो जाता था तब उसकी रक्षा करना कर्तव्य समझा जाता था। एक वार दुर्योधन को एक गन्धर्व ने बन्दी वना लिया। इस पर भीम वहुत प्रसन्न हुए। युधिष्ठिर ने इसकी निन्दा करते हुए कहा कि 'शत्रु'[५] को विपत्ति से वचाने का पुण्य वर, राज्य और पुत्र प्राप्त करने के समान है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार जब विभीषण ने राम के प्रति आत्म-समर्पण किया

१. गीता, १६.१-३।
२. वही, १६.४।
३. वही, १६.५।
४. महाभारत, ६.१९२.४७; शान्तिपर्व ३४.४।
५. महाभारत, ३.२३२, १०–१२।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और उनसे अभय मागा तो सुग्रीव ने विभीषण के उद्देश्य में शंका प्रकट की। राम ने विभीषण का प्रत्याख्यान करते हुए कहा, "हे वानर राज! क्या मैं अपने सार्वभौम दायित्व को भूल जाऊँ? शरणागत की बराबर रक्षा करनी चाहिए चाहे वह मित्र हो अथवा शत्रु। हाथ जोड़ कर अभय मागनेवाले पर कभी प्रहार नहीं करना चाहिए, चाहे वह अपने मित्रों का शत्रु ही क्यों न हो; चाहे उसकी रक्षा करने में अपना जीवन क्यों न संकट में पड़ जाय। क्या मना करनेवालों की बात सुनकर उसको मैं संरक्षण न दूं? क्या शरणागत की प्रार्थना न सुनकर नीचतापूर्वक अपना यश और स्वर्ग खो दूं?"[१]

यद्यपि ललकार और चुनौती पर प्रत्येक क्षत्रिय युद्ध के लिए तैयार रहता था, तथापि समान पद और बलवाले के साथ ही युद्ध करना धर्म समझा जाता था। एक बार कर्ण ने अर्जुन को युद्ध के लिए ललकारा। कृपाचार्य ने, जो युद्ध के नियमों के आचार्य थे, उससे उसका कुल-गोत्र पूछा। उसके हीन कुल का होने के कारण उन्होंने कर्ण की ललकार सुनने से अर्जुन को मना कर दिया।[२] महान् युद्धों में भी समान के साथ ही युद्ध करने का विधान है। पैदल को पैदल के साथ, अश्वारोही को अश्वारोही के साथ, हाथीवाले को हाथीवाले के साथ, रथी का रथी के साथ ही युद्ध करना चाहिये। सशस्त्र व्यक्ति के साथ पूर्व सूचना देकर ही लड़ना चाहिये। थकित, मूर्च्छित, आहत पर कभी आक्रमण नहीं करना चाहिए और न ऐसे सैनिक पर जिसके अस्त्र और रथ टूट चुके हैं। गूढ़, विषदग्ध अस्त्र-शस्त्र से कभी आक्रमण नहीं करना चाहिए। सेना में भी उसके असैनिक अंगों—सारथी, बाजा बजानेवाले, बोझा ढोनेवाले आदि—पर प्रहार नहीं करना चाहिए।[३]

महाभारत युद्ध के पूर्व दोनों पक्षों ने युद्ध की पद्धति के सम्बन्ध में निम्नांकित नियम स्वीकार किया था :

(१) दोनों पक्षों में शत्रुता तभी तक रहेगी, जब तक कि युद्ध चलता रहेगा; उसके बाद दोनों पक्ष मित्रवत् व्यवहार करेंगे।

(२) कोई व्यक्ति समान बलवाले के साथ ही युद्ध करेगा, जिससे किसी के साथ अन्याय होने की संभावना न रहे।

(३) शब्द का उत्तर शब्द से ही दिया जायेगा।

(४) यदि कोई व्यक्ति अपने पक्ष की सेना से बाहर चला जायेगा तो उस पर आक्रमण नहीं होगा।

(५) रथी रथी के साथ, गजारोही गजारोही के साथ, अश्वारोही अश्वारोही के साथ और पदाति पदाति के साथ लड़ेगा।

---

१. वाल्मीकि रामायण, ६.१८।

२. महाभारत, आदिपर्व, १२६. ३०–३२।

३. महाभारत, शान्तिपर्व, ९६.७।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

(६) कोई व्यक्ति अपने प्रतिद्वन्द्वी की शक्ति की परीक्षा करके, युद्ध के लिए उसकी क्षमता का पता लगाकर और उसको पूर्व सूचना देकर उस पर आक्रमण करेगा।

(७) दूसरे के साथ युद्ध में रत, शरणागत, पलायित, शस्त्र और कवचरहित व्यक्ति पर आक्रमण नहीं होगा।

(८) सारथि, वादक और भारवाही पर आक्रमण नहीं होगा।[१]

स्वयं युद्ध के नैतिक औचित्य पर महाभारत में काफी विचार हुआ है। अन्तर-राष्ट्रीय संघर्षों को दूर करने के लिए चार उपायों—साम, दान, भेद और दण्ड का विधान किया है। जहाँ तक संभव हो प्रथम तीन उपायों से, पृथक्-पृथक् अथवा एक साथ, विविध राज्यों के वीच की समस्याओं को हल करने का आदेश है; अन्तिम उपाय गर्हित वतलाया गया है। अन्य उपायों के असफल होने पर ही इसके प्रयोग की व्यवस्था की गयी है। इसका एक दार्शनिक आधार यह बतलाया गया है कि पशुबल से प्राप्त जय और पराजय दोनों ही अनित्य हैं; अतः युद्ध का परित्याग करना चाहिए।

युद्ध की परिस्थिति उत्पन्न होने के पूर्व दो युयुत्सु राज्यों के वीच दूत भेजने और समझौते का कोई मार्ग निकालने की प्रथा थी। राम-रावण युद्ध के पूर्व भगवान् राम ने अंगद को अपना दूत वनाकर रावण के पास भेजा। अंगद ने राम का सन्देश रावण को सुनाया और युद्ध टालने का यथाशक्ति प्रयत्न किया। इसी प्रकार महाभारत युद्ध के पहले युधिष्ठिर ने भगवान् कृष्ण को अपना दूत वनाकर दुर्योधन के पास भेजा। कृष्ण ने सत्य, तथ्य और पथ्य सभी समझाया और पूरा प्रयास किया कि विनाशकारी युद्ध टल जाय। यह सच है कि उपर्युक्त दोनों ही दौत्य असफल रहे। पर इसमें सन्देह नहीं कि इनके द्वारा युद्ध करने के पूर्व शान्ति-स्थापना के लिए पूरा अवसर दिया जया। दूत बराबर अवध्य समझा जाता था। जव रावण ने हनुमान को मारने की चेष्टा की तो उसके मंत्रियों ने इसका घोर विरोध किया :

> अधर्ममूलं वहुदोषयुक्तमनार्ययुष्टं वचनं निशम्य।
> उवाच वाक्यं परमार्थतत्त्वं विभीषणो बुद्धिमतां वरिष्ठ ॥
> प्रसीद लङ्केश्वर राक्षसेन्द्र धर्मार्थतत्त्वं वचनं श्रुणुष्व।
> दूता न वध्याः समयेषु राजन् सर्वेषु सर्वत्र वदन्ति सन्तः ॥

[अधर्म के मूल, वहुत दोषों से युक्त, अनार्यों के योग्य वचन को सुनकर बुद्धि-मानों में श्रेष्ठ विभीषण ने परमार्थ के सार से युक्त वचन कहा : "हे लंका के अधिपति, राक्षसों में श्रेष्ठ! प्रसन्न होवो तथा धर्म और अर्थ (राजनीति) के तत्त्व से युक्त वचन को सुनो। सभी शास्त्रों में सन्तों ने सर्वत्र कहा है कि दूत वध्य नहीं होते।]

---

१. महाभारत, ६.१. १ आगे।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

[जव दुर्योधन ने कृष्ण को वन्दी वनाने की चेष्टा की तो उसके मंत्रियों और सभासदों ने इसका कड़ा विरोध किया।]

उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि युद्ध-सम्वन्धी नीति का इस समय तक पर्याप्त विकास हो चुका था। समसामयिक इतिहास में संभवतः इतने ऊँचे स्तर की युद्धनीति दूसरे देशों में नहीं पायी जाती। परन्तु यदि महाभारत युद्ध की विभिन्न घटनाओं का पर्यवेक्षण किया जाय तो मालूम होगा कि व्यवहार में उपरिलिखित सिद्धान्तों की अवहेलना कम नहीं हुई। अर्जुन ने अर्द्धनारी शिखण्डी के पीछे से भीष्म का वध किया। महाभारत के प्रसिद्ध छः योद्धाओं ने अपरिपक्व अभिमन्यु को चक्र-व्यूह में मारा। अभिमन्यु के पास उसका रथ नहीं था और छः वीरों ने एक साथ उस पर आघात किया। यह रण-नीति के विरुद्ध था। जव भूरिश्रवा सात्यकि पर आक्रमण कर रहा था तव अर्जुन ने पीछे से आकर भूरिश्रवा की भुजा काट डाली। आदि।[1] कहीं-कहीं इन घटनाओं को न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। परन्तु इस सम्वन्ध में सात्ययिक की स्वीकारोक्ति विचारणीय है : "कौरव और पाण्डव दोनों ने इस युद्ध में पाप कर्म किये हैं। यद्यपि ये लोग धर्म से परिचित थे, किन्तु जय प्राप्त करने के लिए इन लोगों ने यह कर्म किया। मेरे मत में यह निर्णय करना वड़ा कठिन है कि क्या धर्म है और क्या अधर्म।"[2]

युद्ध-नीति की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तार के साथ राजनीति का वर्णन शान्तिपर्व के राजधर्म में पाया जाता है। राजा का नैतिक दायित्व वहुत ऊँचा था, क्योंकि यह माना गया था कि प्रजा राजा का अनुकरण करेगी (यथा राजा तथा प्रजा)। इसलिए राजा को अपने जीवन में उच्च नैतिक आचरण की स्थापना करना अनिवार्य था। इसी प्रकार उसके प्रशासन का आधार भी नीति ही होनी चाहिए। राजनीति अथवा प्रशासन की आवश्यकता इसीलिए थी कि उसकी छत्र-छाया में धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति हो सके। राजा को दण्ड देने का अधिकार था, परन्तु दण्ड भी नीति के अनुसार ही दिया जा सकता था। अन्याय पर आश्रित दण्ड राजा का ही विनाश करना है ऐसी धारणा थी। राजा को प्रजा पर कर लगाने का अधिकार था, परन्तु इसका आधार भी नैतिक था : सुरक्षा के वदले में प्रजा कर देती थी और कर की मात्रा स्वल्प होनी चाहिए जिससे प्रजा को पीड़ा न हो। प्रजा-पालन और प्रजा-रक्षण राजा के अनिवार्य कर्तव्य थे। जो राजा प्रजा का पालन न करके केवल अर्थार्जन और अन्याय करता था, उसको चोर अथवा डाकू समझा जाता था। ऐसे राजाओं का उदाहरण देते हुए सहस्त्रार्जुन का उल्लेख किया गया है।[3] §

---

१. महाभारत, ६.१०३. ७०-८२; ७.४८।

२. महाभारत, ७.१९२, ४० आगे।

३. महाभारत, शान्तिपर्व, ५७.४२; १.१८.२४।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

४. लोकायत नीति

महाभारत युद्ध का परिणाम बहुत विध्वंसात्मक और भयंकर हुआ। प्रायः इतिहास में देखा गया है कि प्रत्येक युद्ध के वाद मानव जीवन की मान्यताओं, विश्वासों और मूल्यों में भारी परिवर्तन होता है। युद्ध में ऐसी वहुत-सी घटनाएँ होती हैं जिनसे धर्म, न्याय और स्थिर मूल्यों में मनुष्य का विश्वास उठ जाता है। परन्तु महाभारत युद्ध के पूर्व से भी लोकायत दर्शन और नीति के तत्त्व चले आ रहे थे। वैसे तो लोकायतवाद उतना ही पुराना है जितना मनुष्य का चर्म-मांस। किन्तु ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड, उपनिषदों का सूक्ष्म ब्रह्मवाद, प्राचीन यति-धर्म का कृच्छ्राचार तथा सामाजिक एवं राजनीतिक उथल-पुथल सभी लोकायत नीति के विकास के कारण वने। अति अलौकिक और अपूर्व के प्रति प्रतिक्रिया ने लोकायतिक नीति को प्रोत्साहन दिया।

इस नीति के प्रवर्त्तक बृहस्पति माने जाते हैं, जो देवताओं के भी गुरु थे। परम्परा के अनुसार उन्होंने असुरों को लोकायत नीति का उपदेश इसलिए दिया कि इस नीति का अवलम्वन कर असुर शीघ्र नष्ट हो जायँ। लोकायत नीति का अर्थ है वह नीति जो केवल लौकिक व्यवहार—अर्थ, काम और भोग—के ऊपर आधारित हो। इसका दूसरा नाम चार्वाक नीति है। चार्वाक बृहस्पति के ही प्रमुख शिष्यों में से थे जिनके नाम पर चार्वाक-दर्शन प्रसिद्ध हुआ। परन्तु 'चार्वाक' शब्द की अन्य व्युत्पत्तियाँ भी पायी जाती हैं। एक के अनुसार 'चार्वाक' शब्द चर्व् धातु से बना हुआ है, जिसका अर्थ है 'चवाना'। चार्वाक वह व्यक्ति है जो खाने-पीने पेट के व्यापार, में ही व्यस्त और मस्त रहता है। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार चार्वाक वह व्यक्ति है जो अपने ही वाक्य अथवा शब्दों का भक्षण करता है अथवा सभी नैतिक और पारमार्थिक सिद्धान्तों को खा जाता है। तीसरी व्युत्पत्ति के अनुसार चार्वाक मीठे वचन वोलनेवाला (चारु वाक) होता है जो आपाततः लुभानेवाले शब्दों से संसार को भ्रम में डालता है। चार्वाकों को नास्तिक शिरोमणि भी कहा गया है जो ईश्वर, वेद और परमार्थ किसी में भी विश्वास नहीं करते और अपने वुद्धिवाद से लोगों को पतन और विनाश के गर्त में ले जाते हैं। परन्तु ऐसा लगता है कि ये व्युत्पत्तियाँ व्यङ्ग्यात्मक और निन्दात्मक हैं जो लोकायतों की मूल प्रवृत्तियों पर आधारित हैं। वास्तव में लोकायत वह है जिसकी आस्थाएँ और आकांक्षाएँ इसी लोक तक सीमित है और जो परलोक अथवा परमार्थ में विश्वास नहीं करता।

---

§ **द्रष्टव्य साहित्य :—** (१) महाभारत (नीलकण्ठी टीका सहित), (२) श्रीमद्भगवद्गीता (शांकर भाष्य सहित), (३) तिलक : गीतारहस्य, (४) अरविन्द : एसेज ऑन दि गीता, (५) हॉपकिन्स : दि ग्रेट एपिक ऑफ् इंडिया, अध्याय ३, (६) हॉपकिन्स : एथिक्स ऑफ इंडिया, (७) चि. वि. वैद्य : एपिक इंडिया।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लोकायत नीति लोकायत दर्शन पर ही अवलम्बित है। इसके अनुसार लोकायत ही एक शास्त्र है; प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है; प्रकृति ही एक तत्त्व है; आत्मा अथवा चैतन्य प्रकृति का ही एक चमत्कारिक परिणाम है; जीवन का भोग ही एक मात्र पुरुषार्थ है; मरण ही मोक्ष है। सर्व-दर्शन संग्रह में चार्वाक दर्शन के सिद्धान्त संक्षेप में निम्नांकित प्रकार से रखे गये हैं :

> "कोई स्वर्ग नहीं है और न कोई मोक्ष; और न परलोक में दूसरा कोई आत्मा; चारों वर्णों और आश्रमों के कर्म कोई फल नहीं उत्पन्न करते। अग्निहोत्र, तीन वेद, सन्यासियों का त्रिदण्ड, भष्मधारण आदि को प्रकृति ने अज्ञानियों और पुरुषार्थहीनों की जीविका का का साधन बनाया। यदि ज्योतिष्टोम में हवन कियां हुआ पशु स्वयं स्वर्ग में जाता है तो यजमान क्यों नहीं अपने पिता को हवन करके स्वर्ग भेजता? यदि पृथ्वी पर दिया हुआ पिण्ड पितरों को पितृ-लोक में मिल जाता है तो क्यों नहीं भवन की ऊपरी अट्टालिका में रहनेवाले व्यक्तियों को नीची अट्टालिका में ही भोजन परस देते? जब तक जीवन है मनुष्य को सुखपूर्वक जीना चाहिए; यहाँ तक कि दूसरों से ऋण लेकर आनन्द मनाना चाहिए; जब एक बार शरीर (स्मशान) में भस्म हो जाता है तो पुनः लौटता नहीं। सभी कर्मकाण्ड ब्राह्मणों के जीविकार्थ हैं। वेदों के तीन कर्ता हैं—धूर्त, भाण्ड (भाँड) और निशाचर।"[1]

इस प्रकार लोकायतों के अनुसार इन्द्रिय सुख-दुःख ही जीवन के केन्द्रीय तत्त्व हैं। शुद्ध सुखवाद ही उनका नैतिक आदर्श है :

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

[जब तक जीना चाहिए सुखपूर्वक जीना चाहिए। ऋण लेकर भी घी पीना चाहिए (घृतपक्व स्वादिष्ट वस्तुएँ खानी चाहिए)। जले हुए शरीर का पुनरागमन कहाँ होता है? अर्थात् यह शरीर एक ही बार मिलता है, अतः इसके द्वारा जीवन के अधिकतम भोगों को भोगना चाहिए।][2]

तथाकथित सद्‌गुण—संयम, त्यागादि—कल्पनामात्र है। भोग ही एकमात्र वास्तविकता है। लोकायत परम्परागत उदात्त, उच्च, उचित आदि की कल्पना में घोर अविश्वास करता है। इन्द्रिय सुखवाद, स्वार्थ और वासना का स्पष्ट और साहसपूर्ण समर्थन लोकायत दर्शन में पाया जाता है। इसके अनुसार उद्दाम वासनाओं और शारीरिक बुभुक्षा के दमन की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि ये प्रकृति की सहज देन हैं।

लोकायतों ने चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—में से केवल काम को ही पुरुषार्थ माना है। यह जीवन का चरम लक्ष्य है। अर्थ तो काम का

१. सर्वदर्शन-संग्रह, चार्वाक, पृष्ठ २।

२. वही।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

साधनमात्र है। चार्वाकों ने धर्म और मोक्ष का प्रत्याख्यान किया है। इनका मजाक उड़ाया है : "जो लोग अपने सुख के लिए पशु-वध, यौन-आनन्द और परसत्वापहरण के औचित्य और अनौचित्य के सम्बन्ध में शंका करते हैं वे जीवन के उद्देश्य को नहीं समझते।"[१] लोकायतों के अनुसार सांसारिक सुख का परित्याग इसलिए नहीं करना चाहिए कि उसमें दुःख मिला रहता है। "कोई समझदार मनुष्य धान को इस लिए नहीं फेंक देगा कि उसमें चावल के साथ भूसी लगी है।" "कोई मछली खाना इसलिए नहीं छोड़ देगा कि उसके भीतर काँटे होते हैं। न कोई खाना पकाना बन्द कर देगा, क्योंकि आसपास भिखारी घूमते रहते हैं।" "और न कोई खेती करना बन्द कर देगा, क्योंकि जानवर खेत चर जाते हैं।" बुद्धिमानी इसी में है कि संसार में जो सुख उपलब्ध हो उसका यथाशक्य भोग किया जाय और दुःख से बचा जाय। दुःख की आशंकामात्र से प्रकृति द्वारा प्रदत्त सुखों का त्यागना मानव के लिए उचित नहीं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है लोकायतों के विषय में जो कुछ मिलता है वह उनकी आलोचना और निन्दा के रूप म। वास्तव में किसी दर्शन अथवा नीति का विकास विना किसी ठोस आधार के नहीं हो सकता। ऐसे लगता है कि लोकायतों ने सर्वप्रथम वेदों की ईश्वरीय प्रेरणा, ब्राह्मणों के वैदिक प्रमाणवाद, परम्परा और रूढ़ि से मुक्त होकर शुद्ध लौकिक व्यवहार तथा बुद्धिवाद के आधार पर नैतिक सिद्धान्तों की स्थापना का प्रयत्न किया था। परन्तु यह नया व्यावहारिक सिद्धान्तवाद वहुत प्रचलित और लोकप्रिय नहीं हो सका। इसकी आलोचना और व्यापक विरोध प्रारम्भ हो गया। लोकायत सिद्धान्त का प्रत्याख्यान और ह्रास होने लगा। इसका मुख्य कारण यह था कि चार्वाकों ने मानव-जीवन के वहुमूल्य पुरुषार्थों का त्याग कर दिया था, जिनके कारण जीवन को अर्थ और उद्देश्य प्राप्त होते हैं। धर्म केवल वाह्याचार और कर्मकाण्डमात्र नहीं; वह मनुष्य के अन्तस्तल में स्थित वह चिरन्तन भावना है जो मानव की काम–और–अर्थमूलक प्रवृत्तियों का नियमन और संस्कार करती है; इसके अभाव म काम और अर्थ दोनों अनियंत्रित हो जाते हैं, क्योंकि ये स्वतः अपना नियंत्रण नहीं कर सकते। इसी प्रकार मोक्ष का प्रत्याख्यान जीवन को उद्देश्यहीन बना देता है। इन्द्रियसुख मोक्षपरक आनन्द की छायामात्र, क्षणिक और विनश्वर है। इसलिए काम जीवन में अपना स्थान रखते हुए भी मोक्ष का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता। मनुष्य केवल शरीरधारी प्राणीमात्र नहीं है जो इन्द्रिय-सुख से संतुष्ट रह सकता है। वह विवेकशील, विज्ञानवादी, मननशील मानव है, जिसमें पशु-धरातल से ऊपर उठने की स्वतः स्फूर्ति होती है। अतः वह स्थायी और उच्च-स्तरीय आनन्द की खोज करता रहता है। मानव विकास में अनुभव, प्रेरणा, प्रमाण, परम्परा और रूढ़ियों का भी स्थान है। ये विकास की सीढ़ियाँ है।

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय, २।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इन पर पाँव बाँधकर बैठना मूर्खता है, परन्तु सामाजिक भित्ति से इनको हटाने का परिणाम है दूसरों के लिए ऊपर चढ़ने के लिए साधन को हटा देना। लोकायतों ने यही किया था। चढ़नेवालों के लिए सीढ़ी चाहिए। इसको आगे आनेवाले सम्प्रदायों ने प्रस्तुत किया। लोकायत सिद्धान्तों के स्थान पर उनके सिद्धान्तों ने प्रतिष्ठा पायी।[१]

५. जैन और बौद्ध नीति

महाभारत युद्ध के पश्चात् परम्परा से मतभेद और विरोध की जो धारा प्रवाहित हुई उसमें लोकायत तो नितान्त परम्परा के विरोधी और उच्छेदक थे। उन्होंने आत्मवादी दर्शन, धार्मिक विश्वास और इनके ऊपर आधारित नीति-सिद्धान्त का घोर विरोध किया। जैन और बौद्ध धाराएँ भी परम्परा से मतभेद रखती थीं; परन्तु ये अधिक सुधारवादी थीं, उच्छेदवादी नहीं। इनके कई सम्प्रदाय विभङ्गवादी (विभज्जवादी) अवश्य थे। वैदिक ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद से मतभेद रखते हुए भी जैन धारा ने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया और बौद्ध धारा भी आत्मा का प्रत्याख्यान नहीं कर सकी। मोक्ष और निर्वाण को तो दोनों ने ही अपना चरम लक्ष्य माना। पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त को दोनों ने स्वीकार किया। धर्म को तो दोनों धाराओं ने ही अङ्गीकार किया। इसलिए वैदिक नीति और आचार मार्ग से, कुछ स्थलों को छोड़कर, इनका विशेष मतभेद नहीं था। जैन धारा ने कठोर और कृच्छ्र आचार पर अधिक बल दिया; बौद्ध धारा ने मध्यम मार्ग पर। परन्तु परम्परा से मान्य सामान्य नैतिक सिद्धान्त दोनों को मान्य थे।

जैन नीति

जैन धारा में नैतिक आचरण मोक्ष के साधनों में से एक है। मोक्ष-मार्ग तीन रत्नों (त्रिरत्नों) से जटित है। ये हैं—(१) सम्यग् दर्शन (२) सम्यग् ज्ञान और (३) सम्यक् चारित्र्य। जिन तथा वास्तविक सत्ता और तत्त्वों में पूर्ण आस्था ही सम्यग् दर्शन अथवा श्रद्धा है। शंका और भ्रांति रहित वस्तु के स्वरूप का ज्ञान सम्यग् ज्ञान है। वाह्य संसार और पदार्थों के प्रति राग-द्वेष रहित उदासीन भाव सम्यक् चारित्र्य है[२], इन तीनों निष्ठाओं का एक समवेत मार्ग है। चारित्र्य अथवा नीति को धर्म और दर्शन से अलग नहीं किया जा सकता।

---

१. द्रष्टव्य साहित्यः—(१) सर्वदर्शन संग्रह, (२) सर्वसिद्धान्त-सारसंग्रह (शङ्कराचार्य प्रणीत), (३) प्रबोधचन्द्रोदय, (४) राधाकृष्णन : इडियन फिलॉसफी, जिल्द १, अध्याय ५, (५) देवीप्रवाद चट्टोपाध्याय : लोकायत।

२. पञ्चास्तिकाय समयसार, ११५।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नीति का उपयोग यह है कि यह मोक्ष-मार्गी आत्मा की सभी निम्नगामिनी प्रवृत्तियों को रोक कर उसको उन्नयन और उत्थान के मार्ग में अग्रसर करती है। पाप अथवा आस्रव आत्मा पर भारी बोझ हैं जिनको लेकर मोक्ष-मार्ग पर चलना संभव नहीं। मोक्ष के लिए अन्तरात्मा की पूर्ण परिशुद्धि और परिवर्तन आवश्यक है। नये कर्मों के परिणाम-बंधन से बचने के लिए आत्मा का चारित्रिक संस्कार अनिवार्य है। मूल नैतिक गुणों की गणना निम्नांकित पाँच महाव्रतों के अन्तर्गत की गयी है[1] :

(१) अहिंसा (सर्व-प्राणातिक्रम से विरमण)।
(२) सत्य (सर्व-मृषावाद से विरमण)।
(३) अस्तेय (सर्व-अदत्तादान से विरमण)।
(४) ब्रह्मचर्य (सर्व-मैथुन-विरमण।
(५) अपरिग्रह (सर्व-बहिस्थादान से विरमण)

अहिंसा का अर्थ मनसा वाचा कर्मणा किसी जीवधारी को कष्ट नहीं पहुँचाना है। इसमें जीवधारियों पर आघात और उनका घात दोनों सम्मिलित है। परन्तु अहिंसा केवल निषेधात्मक नहीं है। इसमें प्राणिमात्र के लिए अनुकम्पा, दया और मैत्री का विधि रूप से समावेश है। दूसरे जीवधारियों के अस्तित्व, अधिकार और सुख-दुःख को स्वीकार करना और उनका आदर करना ही अहिंसा है। पशु-जीवन में भी इसी वृत्ति की प्रधानता से प्राणियों का जीवन संभव है। मानव सभ्यता के विकास का तो यह आधार ही है। इसके बिना मानव जीवन जांगल व्यापार है। जब तक इसका पालन किया जाता है तब तक संसार में सुख और शान्ति रहती है। जब इसका भंग होता है तब संसार युद्ध की विभीषिका से आक्रान्त हो जाता है। परन्तु जैनाचार में कभी कभी शारीरिक अहिंसा पर अत्यधिक जोर दिखायी पड़ता है और बहुत सी उनकी अहिंसक प्रथाएँ उपहास की सीमा तक पहुँच जाती हैं। उदाहरणार्थ, बहुत-से जैन साधु आगे चलने के पूर्व रास्ते को झाड़ू से साफ करा लेते हैं जिससे कोई जीवधारी उनके पाँव से दब न जाय; अपने मुँह और नाक को कपड़े से ढक लेते हैं, जिससे साँस के साथ कोई प्राणी उनके पेट में न चला जाय; बराबर पानी छानकर पीते हैं, जिससे पानी में रहनेवाले कीटाणुओं का वध न हो जाय; मधु नहीं खाते, क्योंकि इसके निकालने में मधु-मक्खियों का वध होता है; खटमलों के पोषण के लिए रक्तदान करते हैं; कीड़े-मकोड़ों के पालन की व्यवस्था करते हैं, आदि। परन्तु यह अहिंसा का अतिवाद है। वास्तविक व्यवहार में आत्यंतिक अहिंसा संभव नहीं। संसार में असंख्य जीवधारी हैं जो अदृश्य हैं और केवल तर्क से जाने जाते

१. तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने प्रथम, द्वितीय, तृतीय और पंचम महाव्रतों का ही उपदेश किया था, जिसको चार याम अथवा चातुर्याम रूप सामायिक धर्म कहते हैं। इसमें चौथा महाव्रत ब्रह्मचय तीर्थंकर महावीर द्वारा जोड़ा गया।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हैं। आँख की पलकों को गिराने मात्र से उनका वध होता है। जल, दूध, शाक, और फल सभी में जीवों का आवास है।[१] इसीलिए भागवत में कहा है कि 'जीवो जीवस्य जीवनम्'[२]। इसलिए अहिंसा-पालन का अर्थ है उसकी सीमा और तीव्रता को सीमित करना, जीवन-व्यापार को चलाते हुए। कुछ लोग इसका कठोर पालन संभवतः इसलिए करते हैं कि कहीं अहिंसा का महत्त्व साधारण जनता के सामने से ओझल न हो जाए। और आत्यंतिक अहिंसा का पालन यतियों तक सीमित है।

अहिंसा-व्रत का पालन करने के लिए सदा सावधान रहने की आवश्यकता है। प्रमाद के कारण ही हिंसा होती है। प्रमाद का अर्थ है मन को राग और द्वेष से मुक्त रखने में असावधानी। राग और द्वेष के वशीभूत होकर ही मनुष्य हिंसा करता है। हिंसा दो प्रकार की होती है—(१) द्रव्य-हिंसा और (२) भाव-हिंसा। अपने शरीर के द्वारा अथवा अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग से किसी प्राणी के शरीर को निर्जीव कर डालना अथवा आघात और बन्धन द्वारा उसे पीड़ा पहुँचाना द्रव्य-हिंसा है। अपने मन में किसी जीव की हिंसा का विचार लाना भाव-हिंसा है। वास्तव में सभी प्रकार की हिंसाएँ पहले भाव-हिंसा होती हैं, फिर स्थूल रूप में द्रव्य-हिंसा का रूप धारण करती हैं। पाप भी मूलतः भावहिंसा में ही होता है। इससे चाहे दूसरे प्राणी की हिंसा हो अथवा नहीं परन्तु जिसके चित्त में हिंसा प्रवेश करती है उसके मन की पवित्रता और शान्ति नष्ट हो जाती है। दूसरे शब्दों में उसका अपना घात अथवा आत्मघात पहले हो जाता है। सर्वार्थ-सिद्धि सूत्र (७.१३) में इसीका उल्लेख किया गया है :

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वधः ॥

[प्रमादवान् आत्मा पहले स्वयं अपनी ही हिंसा करता है; पीछे दूसरे प्राणियों का वध चाहे उसके द्वारा हो अथवा नहीं।] परन्तु ठीक इसके विपरीत यदि मनुष्य अपने चित्त को शुद्ध रखते हुए प्राणियों की रक्षा और सुख के लिए प्रयत्न करता है, तो यदि उसके द्वारा कभी द्रव्य हिंसा हो भी जाय तो उसको पाप नहीं लगता। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित गाथाएँ उल्लेखनीय हैं :

उच्चालिदम्मिपादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाण।
आवादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज ॥१॥
णहि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहमो विदेसिदो समये।
जम्हा सो अपमत्तो सा उ पमाउ त्ति णिदिट्ठा ॥२॥

[चलने-फिरने सम्बन्धी नियमों का अप्रमाद से पालन करनेवाले संयमी ने जभी अपना पाँव उठाकर रखा तभी उसके नीचे कोई जीवधारी चपेट में आकर मर

१. महाभारत शान्तिपर्व, १५-२६।
२. १. १३. ४०।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

गया। परन्तु उस संयमी को शास्त्रानुसार रंचमात्र भी कर्मवन्धन नहीं लगा। कारण यह कि संयमी ने प्रमाद नहीं किया था। हिंसा तो प्रमाद से ही होती है।] भावहिंसा की निम्नलिखित गाथा में वड़ी निन्दा की गयी है :

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि वन्धो हिंसामित्तेण समिदस्स ।।

[जीवधारी चाहे जीवे अथवा मरे, जो संयमहीन है, वह भावमात्र से हिंसा का दोषी होता है। जो संयमशील है, उसको शारीरिक हिंसामात्र से कर्मवन्ध नहीं होता।]

अहिंसा का एक व्यावहारिक पक्ष भी है। मुनि और गृहस्थ के लिए अहिंसा की अलग अलग सीमाएँ हैं। चाहे अपने आपको कितना ही कष्ट क्यों न हो मुनि ऐकान्तिक अहिंसा का पालन करता है। परन्तु गृहस्थ के लिए अहिंसा सापेक्ष है। उसके लिए वनस्पति आदि अचल वस्तुओं की हिंसा के त्याग पर अधिक बल नहीं दिया गया है। हिंसा चार प्रकार की मानी गयी है—(१) आरम्भी (२) उद्योगी (३) विरोधी और (४) संकल्पी। गृहस्थी सम्वन्धी क्रियाओं के आरम्भ करने अथवा शरीरधारण के लिए चलने-फिरने मात्र से जो हिंसा होती है वह आरम्भी हिंसा कहलाती है। उद्योग धन्धे—कृषि, गोरक्ष, वाणिज्य आदि—में जो हिंसा होती है उसे उद्योगी हिंसा कहते हैं। आत्मरक्षा अथवा स्वजन, समाज, देश, धर्म आदि की रक्षा में शत्रुओं अथवा आततायियों की जो हिंसा होती है वह विरोधी-हिंसा कहलाती है। जो हिंसा केवल मनोरंजन के लिए प्रतिशोध के लिए, स्वार्थ के लिए अथवा केवल अपना पौरुष दिखाने के लिए होती है उसे संकल्पी हिंसा कहते हैं। इनमें से प्रथम तीन प्रकार की हिंसाएँ गृहस्थ के लिए अनिवार्य हैं। गृहस्थ व्रत रूप से केवल संकल्पी हिंसा का ही परित्याग कर सकता है। प्रथम तीन हिंसाओं के सम्बन्ध में परिस्थिति के अनुसार विवेक और संयम का ही उपदेश गृहस्थ के लिए किया गया है।

अहिंसा के पश्चात् दूसरा महाव्रत सत्य है। इसका सामान्य अर्थ है अनृत, असत्य, मृषा अथवा झूठ का परित्याग। असत् का दूसरा अर्थ है जो सत् अथवा वस्तुस्थिति के अनुकूल नहीं है। इसीलिए अप्रिय और अहितकर सत्य के परित्याग का उपदेश किया गया है। इस प्रकार सत्य का आधार भी आत्म-परिणामों की शुद्धि और परपीड़ा अथवा हिंसा का त्याग ही है। सत्य के पालन में भी द्रव्य-क्रिया से भाव क्रिया का ही महत्त्व अधिक है। व्यावहारिक क्षेत्र में मुनि और गृहस्थ के सत्याचरण में भेद स्वीकार किया गया है। गृहस्थ के सत्याचरण की सीमा यह है कि यदि वह स्वरक्षा अथवा पररक्षा के लिए विषम परिस्थिति में असत्य बोलता है तो पाप का भागी नहीं होता है, क्योंकि उसकी भावना और उद्देश्य दूषित नहीं हैं। परन्तु झूठा उपदेश देना, किसी की गुप्त वात को दूसरे के सामने प्रकट कर देना, झूठे कागज-पत्र तैयार करना, दूसरे के न्यास को दबा देना या कम वतलाना तथा किसी के मंत्र को संकेत आदि से जानकर खोल देना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ये पाँच प्रकार के सत्य के अतिचार हैं, जो असामाजिक और हानिकर हैं। सत्याचरण के लिए पाँच भावनाओं का विधान किया गया है—(१) क्रोध का त्याग (२) लोभ का त्याग (३) भय का त्याग। (४) परिहास का त्याग और (५) औचित्य का अभ्यास।

दूसरे की वस्तु को विना उसके दिए हुए ले लेना अदत्तादान, स्तेय अथवा चोरी है। अस्तेय के पालन में भी मुनि और गृहस्थ के आचरण में भेद किया गया है। मुनि को तिल-तुष मात्र भी विना दिये लेने का निषेध है। उसके लिए पर्वत की गुहाओं, वृक्ष-कोटर, वृक्षमूल और परित्यक्त घरों में ही रहने का विधान है। इन स्थानों में भी उन्हीं का ग्रहण करना चाहिए जहाँ रहने से दूसरे को वाधा न पहुँचे। मुनि को भिक्षा भी उतनी ही ग्रहण करनी चाहिए जो आवश्यकता से अधिक न हो। जहाँ वस्तुओं के बटवारे का प्रश्न हो वहाँ उसको अन्य मुनि-यतियों के साथ वाद-प्रतिवाद के झगड़े में नहीं पड़ना चाहिए। गृहस्थ के लिए नैतिक नियम कुछ सरल और अधिक व्यावहारिक हैं। उसके लिए जल, मृत्तिका आदि वस्तुओं को आवश्यक मात्रा में ग्रहण करने का निषेध नहीं है, यदि उनके ऊपर किसी दूसरे का अधिकार न हो। परन्तु अचौर्य-व्रत के पालन का उसको सर्वथा ध्यान रखना चाहिए। उसके अतिचारों से उसको वचना आवश्यक है। ये अतिचार पाँच हैं, जैसे, (१) स्वयं चोरी न करके दूसरे से चोरी कराना, (२) दूसरे से चोरी किए हुए धन को अपने पास रखना, (३) राज्य द्वारा निर्धारित क्षेत्र के वाहर वस्तुओं का निर्यात-आयात करना, (४) माप-तौल में धोखा देना और (५) वस्तुओं में मिश्रण करके नकली को वास्तविक के भाव वेचकर लाभ उठाना।

यौन-सुख में आसक्ति का परित्याग ब्रह्मचर्य-व्रत है। मुनि के लिए तो स्त्री का संग सर्वथा वर्जित है। इस व्रत के पालन करनवाल श्रावक तथा श्राविका को अपने पति-पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्री-पुरुषों को माता-पिता, भाई-वहन, पुत्र-पुत्री के समान समझना तथा उनके साथ तद्वत् व्यवहार करना चाहिए। दूसरे के विवाहों का आयोजन करना, वेश्या-गमन, अप्राकृतिक मैथुन और तीव्र कामवासना ब्रह्मचर्य-व्रत के अतिचार माने गये हैं। शृंगारिक कथा-वार्ता, स्त्री-पुरुष के अंगों के निरीक्षण, काम-क्रीड़ा के स्मरण, कामोत्तेजक औषध के सेवन और शरीर-प्रसाधन के त्याग को ब्रह्मचर्य-व्रत का सहायक माना गया है। कामवासना को मर्यादित करना ही इस व्रत का मुख्य उद्देश्य है।

आवश्यकता से अधिक धन-सम्पत्ति के संग्रह का त्याग ही अपरिग्रह है। मुनियों को तो तिल-तुष-मात्र का परिग्रह भी निषिद्ध है। परन्तु श्रावकों के लिए व्यावहारिक दृष्टि से परिग्रह की सीमा स्वयं निर्धारित करने का उपदेश किया गया है। इस सीमा के बाहर उन्हें वस्तुओं का संचय नहीं करना चाहिए। यदि किसी प्रकार उनके पास धन-धान्य का संग्रह अधिक हो जाय तो उसे किसी न किसी रूप में समाज को लौटा देना चाहिए। लौटाने के साधन हैं (१)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

औषध (औषधालय की स्थापना और औषध-वितरण) (२) शास्त्र (विद्यालयों की स्थापना और विद्या-दान) (३) अभय (जीव-रक्षा-सम्वन्धी व्यवस्था) और (४) आहार (अन्न, भोजन, वस्त्रादि का दान)। निर्धारित किये हुए घर-द्वार, भूमि, धन-धान्य, वर्तन-भाण्ड, दास-दासी आदि की सीमा का अतिक्रमण करना इस व्रत का अतिचार कहलाता है। अपरिग्रह व्रत को दृढ़ करने के लिए आवश्यक है कि पाँचों इन्द्रियों के लिए मनोज्ञ वस्तुओं के प्रति राग और अमनोज्ञ वस्तुओं के प्रति द्वेष का त्याग किया जाय। वास्तव में परिग्रह का कोई अन्त नहीं। इसी के कारण लोभ, लोभ से राग-द्वेष, राग-द्वेष से संघर्ष उत्पन्न होता है। विधि (कानून) के द्वारा परिग्रह को सीमित करने का प्रयत्न किया जाता है; परन्तु प्रायः यह सफल नहीं होता। इसका कारण यह है कि विधि से जनता का मानस शुद्ध नहीं होता; उलटे, छल-कपट, भ्रष्टाचार आदि बढ़ जाते हैं। परिग्रह को सीमित करने के लिए आभ्यान्तर चेतना का जागृत होना आवश्यक है। यह धार्मिक वृत्ति और साधना से ही संभव है। धर्म क्रमशः अपरिग्रह और त्याग का संस्कार डालता है और उनके लिए उचित वातावरण तैयार करता है।

जैन धर्म में पञ्च महाव्रतों के पालन और उनके विरोधी पापों के परिहार के लिए विधान किया गया है। इस विधान में व्रती के लिए चार भावनाओं का उपदेश है। प्रथम भावना है मैत्री अर्थात् जीवमात्र के लिए हिंसा-वृत्ति छोड़कर हित कामना। दूसरी भावना है प्रमोद अर्थात् दूसरों के सुख में सुख मानने की वृत्ति। बीसरी भावना कारुण्य है जिसका अर्थ है दीन, अनाथ, दुःखी के प्रति दया-भाव। चौथी भावना है माध्यस्थ-भाव अर्थात्—अपने विरोधियों के प्रति उदासीनता का भाव। इन भावनाओं का मानसिक अभ्यास करना चाहिए जिससे हिंसा, राग-द्वेषात्मक अनर्थकारी दुर्भावनाएँ न जागृत हों इन भावनाओं के द्वारा न केवल स्वयं व्रतों के पालन की प्रतिज्ञा करनी होती है किन्तु कृत, कारित और अनुमोदित किसी भी रूप में उनके विरोधी भावों के त्याग पर वल दिया गया है। व्रती को इस बात पर वरावर विचार करना चाहिए कि हिंसा आदि पाप इस लोक और परलोक दोनों में दुःखदायी होते हैं; जीवन के सम्पूर्ण अनर्थ इन्हीं के कारण उत्पन्न होते हैं। इन पापों के प्रलोभन को रोकने के लिए शरीर के गुण-धर्मों और संसार की क्षण-भंगुरता का विचार भी निरन्तर करते रहना चाहिए, जिससे विषयों के प्रति राग उत्पन्न न होकर सदाचारी जीवन के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो। मूल पाँच महाव्रतों के सहायक तीन और व्रत हैं। प्रथम है दिग्व्रत अर्थात् चारों दिशाओं में गमनागमन और आयात-निर्यात की सीमा। द्वितीय है देशव्रत अर्थात्, दिग्व्रत के अन्तर्गत कालमर्यादासहित, पर्वत, नदी, समुद्र, ग्राम, दूरी आदि की सीमा के भीतर जीवन-व्यापार चलाना। तृतीय है अनर्थदण्ड अर्थात् अनर्थकारी चिन्तन, उपदेश और दान से विरमण। इन व्रतों के अभ्यास से मूल व्रतों की पुष्टि होती है। इसलिए इनको गुणव्रत कहा जाता है।

जैन धर्म के अनुसार गृहस्थ को धार्मिक जीवन के अभ्यास के लिए चार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

शिक्षा-व्रतों की आवश्यकता होती है। प्रथम शिक्षा-व्रत है सामयिक अर्थात् समत्व अथवा समता-भाव का अभ्यास। प्रति दिन प्रातः, मध्याह्न अथवा सायं एकान्त में बैठकर मन को सांसारिक विक्षेप और चिन्तन से हटाकर उसका संतुलन करना चाहिए और उसे धर्म-चिन्तन में लगाना चाहिए। ब्राह्मण-धर्म में जो स्थान सन्ध्या का है वही स्थान जैन-धर्म में सामयिक का है। दूसरा शिक्षा-व्रत प्रोषधोपवास है। इसके अनुसार गृह-व्यापार, खान-पान आदि का त्याग कर जय, स्वाध्याय, देव-वन्दन तथा देव-पूजन आदि में समय लगाना पड़ता है। तीसरा शिक्षा-व्रत भोगोपभोग-परिमाण-व्रत है। इसके अनुष्ठान में मास की प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास करके भूख-प्यास पर विजय प्राप्त करना होता है। दैनिक आहार में विशेष प्रकार के खाद्य-पदार्थों का त्याग अपेक्षित है। शरीर-श्रृंगार और शरीर-उपभोग की वस्तुओं का त्याग भी आवश्यक है। चौथा शिक्षा-व्रत अतिथि-संविभाग-व्रत है। यह गृहस्थ के लिए अनिवार्य है। अपने द्वार पर आये हुए अतिथि——यति, मुनि, साधु आदि का आदरपूर्वक आहार, औषध आदि से सेवा करना परम कर्तव्य है।

जैन नीति में सल्लेखना (स्वेच्छा-मरण) का भी प्रमुख स्थान है। जब मनुष्य को यह आभास मिल जाय कि किसी कारण से उसका अंतिम समय निकट आ गया है तो उसे व्याकुलतापूर्वक अत्यन्त दैन्य की अवस्था में मरने के पहले मृत्यु का स्वेच्छापूर्वक प्रसन्नता से आवाहन करना चाहिए। उसको अपना आहार-पान क्रमशः इस प्रकार घटाना चाहिए कि बिना कष्ट के शान्ति के साथ उसका शरीर छूट जाय। जिस प्रकार कोई सम्पन्न पुरुष घर को सुख का साधन समझते हुए भी आग लग जाने पर उसको त्याग देता है वैसे ही व्याधि-ग्रसित शरीर का भी त्याग करना चाहिए। यही सल्लेखना अथवा समाधि-मरण है। आत्म-हत्या से यह भिन्न है। आत्म-हत्या तीव्र राग-द्वेष का परिणाम है; सल्लेखना स्वेच्छा और प्रसन्नतापूर्वक क्रमशः शरीर-त्याग है। आत्म-हत्या विष, शस्त्र, भृगुपात आदि घातक क्रियाओं से होती है; सल्लेखना सुनियोजित धार्मिक अनुष्ठान है।

नैतिक जीवन और मोक्ष के सम्बन्ध में जैन दर्शन में बहुत सूक्ष्म विचार किया गया है। मिथ्याभाव से लेकर मोक्ष तक जीव की अनेक आध्यात्मिक अवस्थाएँ होती हैं। इन अवस्थाओं को गुण-स्थान कहते हैं। इन अवस्थाओं में परिवर्तन कर्म के द्वारा होता है। कर्मों के अनुसार जीव के जो भाव होते हैं उनके प्रकार चार हैं——(१) औदयिक, (२) औपशमिक, (३) क्षायिक और (४) क्षायोपशमिक। जो भाव कर्मों के द्वारा उदय होते हैं उनको औदयिक कहते हैं। उदाहरण के लिए राग, द्वेष, अज्ञान, असंयम, रति आदि भाव औदयिक है। कर्मों के उपशम से उत्पन्न होनेवाले भाव औपशमिक कहलाते हैं, जैसे, साम्य, सदाचार, व्रत-नियम का पालन आदि। कर्मों के उपशम होने पर जीव की शुद्धि उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार जल में फिटकरी डालने पर उसका मल नीचे चला जाता है और निर्मल जल ऊपर आ जाता है। परन्तु मन की यह शुद्धि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

स्थायी नहीं होती। जिस प्रकार शान्त हुआ मल धक्का खाकर फिर पानी में मिलकर उसे गन्दा कर देता है उसी प्रकार उपशान्त कर्म फिर कषायोदय से उभर आते हैं और मानव मन को मलिन बना देते हैं। परन्तु जब काम का पूरा क्षय हो जाता है तब मन स्थायी रूप से शुद्ध बन जाता है। इसी को क्षायिक भाव कहते हैं। इसी अवस्था में केवल ज्ञानदर्शन होता है। इस अवस्था कीं उपमा उस जल से दी जा सकती है, जिसका मल छानकर उससे अलग कर दिया गया है। क्षायोपशमिक भाव में क्षय और उपशम की प्रक्रियाएँ मन में चलती रहती हैं परन्तु मानसिक मल का पूरा शोधन इनके द्वारा नहीं होता। जिस तरह गन्दे पानी को छान लेने से उसका वहुत कुछ मल निकल जाता है, किन्तु कुछ भाग वर्तन की तली में वैठा रहता है और कुछ पानी में ही मिला रहता है। इस तरह से मन पूर्णतः शुद्ध नहीं हो पाता। इन भावों के अतिरिक्त जीव के जीवत्व, भव्यत्व, द्रव्यत्व आदि स्वाभाविक गुणों के कारण उसकी एक और अवस्था भी होती है जिसको पारिणामिक भाव कहते हैं। सभी प्रकार के नलों से रहित परिशुद्ध जीव ही मोक्ष का अधिकारी हो सकता है।

जैन नीति कठोर आचारवादी है। इसके अनुसार तितिक्षा और धैर्य ही कल्याणकारी और श्रेय है; इन्द्रिय-सुख सव पापों का मूल है। सुख-दुःख से उदासीन रहना मनुष्य के लिए वांछनीय है। वाह्य पदार्थों से मुक्ति ही वास्तविक स्वातंत्र्य है। नैतिक पक्ष पर मनुष्य को स्वालम्वी होकर चलना है; दूसरा कोई सहारा नहीं कर सकता। "हे मानव! तू ही एक अपना मित्र है; अपने से वाहर किसी दूसरे की मित्रता की कामना क्यों करता है?" जैन नीति में कर्म-सिद्धान्त प्रवल है। परन्तु यह भाग्यवाद नहीं। वर्तमान जीवन मनुष्य के अधिकार में है; इसके द्वारा वह अपने अतीत और भविष्य को प्रभावित कर सकता है। जैन नीति की दूसरी विशषता यह है कि इसमें ईश्वर का कहीं कोई हस्तक्षेप नहीं; मानव को अपना ऐश्वर्य स्वयं प्राप्त करना है। ध्यान के ऊपर जैन नीति का काफी वल है, क्योंकि महाव्रतों के पालन में इससे शक्ति मिलती है।[१]

बौद्ध नीति

वौद्ध नीति की पृष्ठभूमि उसका दुःखवाद है। संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख है। जो विवेकी और ज्ञान-चक्षु हैं उनको इस दुःख का अनुभव होता है। जो भोगपरायण वालवुद्धि हैं उनको इस विश्वव्यापी दुःख का अनुभव नहीं होता। इस दुःख से निर्वाण (मुक्ति) पाना ही मानव का परम पुरुषार्थ है। इस पृथ्वी

१. जैननीति के सम्वन्ध में द्रष्टव्य साहित्य :—(१) उमास्वाति : तत्त्वार्थसूत्र, (२) कुन्दकुन्दाचार्य : पञ्चास्तिकाय समयसार (३) सर्वदर्शन संग्रह, अध्याय ३, (४) जैनीः आउटलाइन आफ जैनिज्म, (५) बरोडिया : हिस्ट्री एण्ड लिट-रेचर ऑफ जैनिज्म।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पर मानव जीवन एक यात्रा है जिसका प्रत्येक चरण दुःख से टकराता है। मनुष्य की आँखों से इतना आँसू निकल चुका है, जिसको यदि एकत्र किया जाय तो वह महासागर में भी नहीं समायेगा। अतः इस जीवन का संवरण आवश्यक है। यह निववर्णि से ही संभव है। इसलिए जितने प्रकार के कर्म निर्वाण की प्राप्ति में सहायक होते हैं वे नैतिक और जो इस महती उपलब्धि में बाधक हैं वे अनैतिक हैं।

भगवान् वुद्ध ने दुःख और उसके निरोध का विवेचन 'चार आर्य सत्य' के अन्तर्गत किया। प्रथम सत्य दुःख है। दुःख क्या है? जन्म दुःख है। जरा दुःख है। रोग दुःख है। मृत्यु दुःख है। प्रिय का वियोग दुःख है। अप्रिय का संयोग दुःख है, आदि। संक्षेप में पाँचों उपादान स्कन्ध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान—दुःख है। यदि दुःख है तो ज्ञान के द्वारा इसका निदान और निराकरण भी है। भगवान् वुद्ध निराशावादी नहीं थे। महाभिषक् के समान उन्होंने इस दुःख का निदान कर इसके कारण, कारण के विनाश की परम सुखमय स्थिति और इस स्थिति को प्राप्त करने का उपाय भी बतलाया। दूसरा आर्य सत्य समुदय है। यदि दुःख है तो उसका समुदय अर्थात् उसकी उत्पत्ति का कारण भी है। वह कारण है तृष्णा। तृष्णा तीन प्रकार की होती है—(१) काम-तृष्णा, (२) भव-तृष्णा (उत्पन्न होने की तृष्णा) और (३) विभव-तृष्णा। तीसरा आर्य सत्य निरोध है। यदि दुःख अपने कारण तृष्णा से उत्पन्न होता है तो तृष्णा के अन्त से दुःख का भी अन्त संभव है। तृष्णा के अन्त से उपादान स्कन्धों—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, और विज्ञान—का निरोध होता है। उपादान के निरोध होने से भव (लोक) का निरोध होता है। भव के निरोध से जन्म का निरोध होता है। जन्म के निरोध से जरा, रोग और मृत्यु आदि दुःखों का निरोध होता है। इसी दुःख रहित स्थिति का नाम निर्वाण है। चौथा आर्य सत्य दुःख-निरोधगामी मार्ग है। यदि दुःख का निरोध संभव है तो उसका एक निश्चित मार्ग भी है। इसी मार्ग का सर्व प्रथम उपदेश भगवान् बुद्ध ने ऋषिपत्तन मृगदाव (सारनाथ) में अपने प्रथम पाँच शिष्यों (पञ्चवर्गीय) को दिया था, जो धर्म-प्रवर्तन के नाम से प्रसिद्ध है। भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश में कहा :

"भिक्षुओ! इन दो अतियों से बचना चाहिए—(१) काय-सुख में लीन होना और (२) काय-क्लेश में लग जाना, जो अनार्य, दुःखमय और व्यर्थ हैं। इन दोनों अतियों को त्याग कर मैंने मध्यम मार्ग का अनुसन्धान किया है, जो आँख देनेवाला, ज्ञान करानेवाला और शान्ति देनेवाला है। वह मध्यम मार्ग आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग है—(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् संकल्प !३) सम्यक् वचन (४) सम्यक् कर्म (५) सम्यक् आजीव (६) सम्यक् प्रयत्न (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि।"[१]

१. धर्मचक्र-प्रवर्तन-सूत्र, संयुक्तनिकाय, ५५-२.१।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इनमें प्रथम दो ज्ञान, दूसरे तीन शील तथा अंतिम तीन समाधि के अन्तर्गत आते हैं। इन्हीं का विवेचन बौद्ध नीतिशास्त्र के अन्तर्गत किया गया है, जो मज्झिमा परिपदा के नाम से विख्यात है। इसका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

(१) सम्यक् दृष्टि—चार आर्य सत्यों का ठीक-ठीक बोध होना ही सम्यक् दृष्टि है। इसके अन्तर्गत मानसिक, वाचिक और कायिक सद्-असत् कर्मों का यथार्थ ज्ञान सम्मिलित है। मानसिक असत् कर्मों में लोभ, प्रतिहिंसा तथा भ्रान्त धारणा हैं। इनके विलोम अलोभ, सद्भावना तथा शुद्ध धारणा मानसिक सत्कर्म हैं। वाचिक असत्कर्मों में मिथ्या भाषण, चुगली, कटुभाषण, बकवास आदि हैं; इसके विलोम सत्य भाषण, अनुशंसा, मृदुभाषण, मितभाषण आदि वाचिक सत्कर्म हैं। कायिक असत्कर्मों में हिंसा, चोरी, यौन व्यभिचार आदि हैं; इसके विलोम कायिक सत्कर्म अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि हैं। सम्यक् दृष्टि का प्रथम स्थान इसलिए है कि सम्पूर्ण कर्म इसी से प्रभावित होते हैं। भ्रान्त दृष्टि से असत्कर्म उत्पन्न होते हैं।

(२) सम्यक् संकल्प—राग-द्वेष रहित शुभ और दृढ़ निश्चय संकल्प है। सम्यक् संकल्प सम्यक् दृष्टि से उत्पन्न होता है। यह व्यक्तिगत स्वार्थ के त्याग की आकांक्षा है; सम्पूर्ण भूतों के लिए मैत्री की भावना है; मानव मात्र के लिए मंगल-कामना है। भेद बुद्धि छोड़कर समष्टि के लिए काम करना सम्यक् संकल्प की उपज है। समस्त जीवधारियों के सुख-दुःख के भार को सहन करने का संकल्प सच्चा संकल्प है।

(३) सम्यक् वचन—इसके अन्तर्गत सत्य भाषण, अनसूया, मृदुभाषण और मितभाषण की गणना है।

(४) सम्यक् कर्म—स्वार्थरहित कर्म सम्यक् कर्म है। इसके भीतर असत् मानसिक, वाचिक तथा कायिक कर्मों के त्याग और सत्कर्मों का समावेश है। बौद्ध धर्म में प्रार्थना, कर्मकाण्ड, मंत्र, अभिचार, यज्ञ आदि पर बल नहीं दिया गया है। "सौ वर्ष तक अग्नि में आहुति करने की अपेक्षा कर्मनिष्ठ व्यक्ति का आदर करना श्रेष्ठ है।" एक बार किसी ब्राह्मण ने भगवान् बुद्ध से कहा कि बहुक नदी में स्नान करने से मनुष्य का पाप धुल जाता है। उन्होंने उत्तर दिया, "बहुक, अधिक आदि नदियाँ किसी मूर्ख को उसके पाप से मुक्त नहीं कर सकतीं, चाहे वह कितनी ही बार उनमें स्नान करे।...पापकर्मा, ईर्ष्यालु और अपराधी को कोई नदी पवित्र नहीं कर सकती। जो शुद्ध है उसके लिए सदा फग्गु का महीना है। जो पवित्र है उसके लिए सदा उपवास है। सत्कर्म करनेवाले के लिए सदा व्रत है। हे ब्राह्मण, यहाँ इसी (पवित्रता) में स्नान करो। सभी प्राणियों के प्रति दया करो। यदि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तुम असत्य नहीं बोलते; यदि तुम हिंसा नहीं करते; यदि तुम चोरी नहीं करते; यदि तुम त्यागनिष्ठ हो तो गया जाने से तुम्हें क्या लाभ होगा ? तुम्हारे लिए सभी जल गया तीर्थ है।" शील और दान की बड़ी महिमा बतायी गयी है। वास्तव में ये दोनों नैतिक जीवन के निवृत्ति—और प्रवृत्ति-मूलक पक्ष हैं। शील में अहिंसा आदि का पालन होता है। दान में दूसरों के हित के लिए आत्म-त्याग और आत्म-बलिदान है। दान परहित और परोपकार का जीवन है।

(५) सम्यक् आजीव—हिंसा, असत्य, धोखा, षड्यन्त्र आदि से मुक्त जीविका ही सम्यक् आजीव है। अस्त्र-शस्त्र का व्यापार, प्राणि-विक्रय का व्यापार, मांस का व्यापार, मद्य का व्यापार, विष का व्यापार आदि असम्यक् आजीव हैं।

(६) सम्यक् प्रयत्न—इसके पूर्व के अंगों में सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र पर बल दिया गया है। परन्तु इनके साथ-साथ मनुष्य की आन्तरिक शुद्धि भी आवश्यक है। अष्टांग मार्ग का उद्देश्य है दुःख का निरोध। इसके लिए स्वगत परिशुद्धि और मानसिक शान्ति अनिवार्य है। यह प्रक्रिया सम्यक् प्रयत्न से प्रारम्भ होती है। सम्यक् प्रयत्न का अर्थ है वासनाओं का दमन जिससे असत् प्रवृत्तियाँ न उत्पन्न हों। मानसिक प्रत्याहार और अभ्यास तथा धारणा के द्वारा अशुभ का दमन और शुभ का प्रोत्साहन सम्यक् प्रयत्न का उद्देश्य है। अशुभ विचारों से मानसिक क्षोभ को दूर करने के लिए भगवान् बुद्ध ने पाँच पद्धतियों का उपदेश किया है। वे निम्न लिखित हैं :—

(क) शुभ विचार का ध्यान करना।

(ख) अशुभ विचारों से उत्पन्न दुष्परिणामों का सामना करना।

(ग) अशुभ विचारों से ध्यान को हटाना।

(घ) अशुभ विचार की पूर्वपीठिका का विश्लेषण और इससे उत्पन्न प्रवृत्ति का निवारण,

(ङ) शारीरिक निग्रह के द्वारा मन को अभिभूत करना। वस्तुओं के सम्बन्ध में अशुभ भावनाओं पर विचार करने से अशुभ के प्रति घृणा उत्पन्न होती है। किसी ने एक श्रमण से पूछा, "भन्ते ! क्या आपने एक स्त्री को इस रास्ते से जाते हुए देखा ?" श्रमण ने उत्तर दिया, "मैं कह नहीं सकता कि वह स्त्री थी अथवा पुरुष जो इधर से गया। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि हड्डियों का एक पंजर इधर से जा रहा था।" बिना इस प्रकार के प्रयत्न के बोध नहीं प्राप्त हो सकता। इसी के द्वारा बुरी वासनाओं का विनाश संभव है। सम्यक् प्रयत्न को सम्यक् विचार से अलग नहीं किया जा सकता। मन की अस्थिरता को रोकने के लिए मन का निग्रह होना चाहिए। बुरी वासनाएँ सभी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रयत्नों को दूषित कर देती हैं। यहाँ तक कि अच्छी भावनाओं का अहंकार भी नैतिक विकास को रुद्ध करता है। "जो पवित्र है और जानता है कि वह पवित्र है और इस जानकारी में रस लेता है, वह अपवित्र हो जाता है और इसी अपवित्र विचार के साथ मरता है। जो अपवित्र है और जानता है कि अपवित्र है और अपवित्रता दूर करने का प्रयत्न करता है, वह पवित्र हो जाता है और पवित्र विचार के साथ मरता है।" इस मानसिक स्थिति पर धर्म आधारित है और धर्म के आचरण पर बोध अवलम्बित है।

किन्तु सम्यक् प्रयत्न केवल इन्द्रियों का दमन मात्र नहीं है; वास्तव में यह इन्द्रियों का परिष्कार कर उनको सत्य के देखने में सक्षम बनाना है। इन्द्रिय-भावना सूत्र में एक कथा आयी है। भगवान् बुद्ध ने पाराशर्य के एक शिष्य से पूछा कि तुम्हारे गुरु इन्द्रिय-निग्रह की शिक्षा किस प्रकार देते हैं। शिष्य ने उत्तर दिया कि इन्द्रियाँ इस सीमा तक दमित होती हैं कि वे अपना काम करना ही बन्द कर देती हैं। जैसे, आँख कोई पदार्थ नहीं देखती; कान कोई शब्द नहीं सुनता। इसका प्रत्याख्यान करते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा कि इसका अर्थ हुआ कि अंधे और बहरे अपनी इन्द्रियों पर विजयी हैं; परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। इन्द्रिय-दमन का अर्थ है इन्द्रिय-शिक्षण जिससे इन्द्रियाँ इन्द्रिय-संवेदनाओं के सभी रूपों पर विचार कर उनका मूल्यांकन कर सकें।

(७) सम्यक् स्मृति—काय, वेदना, चित्त और मन के धर्मों की स्थितियों—उनकी मलिनता और क्षण-भंगुरता—को सदा स्मरण रखना सम्यक् स्मृति है।

(८) सम्यक् समाधि—यह अष्टाङ्ग मार्ग का अंतिम अङ्ग है। सम्यक् स्मृति में प्रज्ञा अथवा अन्तर्दृष्टि की प्रधानता है। सम्यक् समाधि में ध्यान और आन्तरिक शान्ति की स्थिति है। ध्यान उच्चतम विचार है बौद्ध धर्म में ध्यान का वही स्थान है जो ईश्वरवादी धर्मों में प्रार्थना का है। ध्यान की चार अवस्थाएँ हैं—(१) प्रसन्नता जो एकान्त की अवस्था में उत्पन्न होती है। इसके साथ अन्तर्दृष्टि, विचार और मनन लगे रहते हैं और इसमें सभी इन्द्रिय-सुखों का अभाव रहता है, (२) उल्लास और आन्तरिक शान्ति जिनमें विचार और मनन की आवश्यकता नहीं होती, (३) सम्पूर्ण वासना और पूर्वाग्रह का क्षय, जिसमें आत्ममोह पूर्णतः नष्ट हो जाता है और (४) पूर्ण शान्ति, जिसमें सभी प्रकार का चिन्तन और सुख समाप्त हो जाते हैं। मन को सम्पूर्ण विश्व के साथ समन्वित करने का सतत प्रयत्न ही ध्यान है। अहंकार को विलीन करने और सत्य के साथ तादात्म्य का यह सचेतन प्रयास है। मन के निग्रह करने की निम्नांकित विधियाँ बतलायी गयी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हैं—(१) मैत्री (सम्पूर्ण विश्व के साथ प्रेम और दया का भाव), (२) करुणा (दु:खी प्राणियों के साथ संवेदना और सेवा भाव), (३) मुदिता (दूसरों के सुख में प्रसन्न होना) और (४) उपेक्षा (द्वन्द्वों के प्रति उदासीनता और निष्पक्षता का भाव)।ये ही चार ब्रह्मविहार की चार भूमियाँ है।

यह पूछा जा सकता है कि बौद्ध धर्म में ध्यान का केन्द्र क्या है? अन्य ईश्वरवादी धर्मों में ध्यान का केन्द्र ईश्वर है। परन्तु बौद्ध धर्म में ध्यान का केन्द्र मनुष्य स्वयं है। उसी का विकास ध्यान का उद्देश्य है। अपने ही प्रयास से मनुष्य ऐसी शक्ति और सद्गुण प्राप्त कर सकता है, जिनके आधार पर वह पूर्ण स्वावलम्वी हो सकता है। "यदि मनुष्य अपने ऊपर विजय प्राप्त कर ले तो उसके विजय को देवता भी पराजय में नहीं बदल सकते।" किसी अतिमानुष सत्ता की प्रेरणा से स्वतंत्र मनोनिग्रह और मानव प्रेम की अपेक्षा बौद्ध धर्म में की गयी है।

बौद्ध धर्म के अनुसार ध्यान और योग दोनों में मानसिक परिशुद्धि और शिक्षण के लिए समुचित शारीरिक परिस्थिति की आवश्यकता है। शारीरिक संयम के बिना वोध-प्राप्ति की तैयारी नहीं हो सकती। बौद्ध धर्म में तप का स्थान मानसिक अभ्यास ग्रहण कर लेता है। ध्यान की चारों अवस्थाओं में साधक क्रमश: वाह्य संसार के दृश्य पदार्थों से अपने को अलग कर लेता है। यह ध्यान दिवास्वप्न की कल्पना नहीं, किन्तु इन्द्रिय द्वारों को बन्द करके मन की शक्ति को वढ़ाने का एक सुनिश्चित अभ्यास है। यह कहना कठिन है कि इस प्रकार के अभ्यास से कहाँ तक मन की शक्ति का विकास हो सकता है। परन्तु सभी भारतीय धार्मिक सम्प्रदाय इसमें विश्वास करते हैं। यह स्वीकार किया गया है कि जव मन के प्रवाह को रोक लिया जाता है और इन्द्रियाँ अपना काम करना छोड़ देती है तो स्थूल मन शक्तिहीन हो जाता है और सूक्ष्म मन प्रकाशित हो उठता है। विभिन्न सम्प्रदायों में ध्यान का उद्देश्य विभिन्न है। उपनिषदों में ध्यान का उद्देश्य ब्रह्म की अनुभूति है। पातञ्जल योग में ध्यान अथवा समाधि का उद्देश्य सत्य का साक्षात्कार है। बौद्ध धर्म में इसका उद्देश्य वोधिसत्व की स्थिति प्राप्त करना है अर्थात् संसार की शून्यता का अनुभव करना है।

समाधि में लय की प्रत्येक अवस्था को बौद्ध धर्म उचित नहीं समझता। सम्यक् समाधि का उद्देश्य मानसिक लय नहीं किन्तु वासना-क्षय है। समाधि का उद्देश्य ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति भी नहीं। भगवान् बुद्ध ने यौगिक चमत्कार दिखाना अपने शिष्यों को वर्जित किया था। उनके अनुसार यौगिक सिद्धियों से कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं होता।

अष्टाङ्ग मार्ग को मुख्य चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है। इनमें से प्रत्येक बन्धन की श्रृंखलाओं को भंग करती है, जिनकी संख्या दस है और जो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मानव को इस दुःखमय संसार से बाँधती हैं। इनमें प्रथम सत्कायदृष्टि अर्थात् व्यक्तिगत आत्मा में विश्वास है। यही अहंकार की जननी है। दूसरा बन्धन बुद्ध और उनके सिद्धान्तों में अविश्वास अर्थात् विचिकित्सा है। तीसरा बन्धन बाह्य धार्मिक कर्मकाण्ड की उपयोगिता में विश्वास है। जो इन तीन बन्धनों से मुक्त होता है वही अष्टाङ्ग मार्ग के प्रथम चरण सम्यक् दृष्टि में प्रवेश करता है। तब उसकी संज्ञा स्रोतापन्न अर्थात् नीतिमत्ता के 'स्रोत में पड़ा हुआ' होती है। इस स्थिति की प्रशंसा में धम्मपद में कहा गया है, "सम्पूर्ण पृथ्वी पर आधिपत्य से बढ़कर, स्वर्गारोहण से बढ़कर, सर्व लोकों पर साम्राज्य से बढ़कर पुरस्कार है पवित्र जीवन के प्रथम चरण में प्रवेश।" काम (इन्द्रियपरायणता) और प्रतिघ (द्वेष) दो और शृंखलाओं का भंग भी आगे चलकर करना होता है। इन दो शृंखलाओं को तोड़कर साधक अष्टाङ्ग मार्ग के दूसरे चरण सम्यक् संकल्प में प्रवेश करता है। इस स्थिति में पहुँचकर वह सकृदागामिन् अर्थात् 'एक बार और जन्म लेनेवाला' कहलाता है। सकृदागामिन् के दोषों का ह्रास हो जाता है किन्तु उनका सम्पूर्ण क्षय नहीं होता; इसलिए उसे एक बार पुनः जन्म लेना पड़ता है। जब इन दो शृंखलाओं का पूर्ण विनाश हो जाता है तब वह अनागामिन् पद को प्राप्त होता है। यह उसका अन्तिम जन्म होता और उसे संसार में पुनः नहीं लौटना पड़ता। परन्तु फिर भी कुछ शृंखलाएँ तोड़ने को शेष रह जाती हैं। वे हैं राग (सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति), मान (अहंकार), औद्धत्य (अपनी पवित्रता का अतिमान) और वस्तु के वास्तविक स्वरूप के बारे में अज्ञान। जब ये बन्धन भी टूट जाते हैं तब वह अर्हत् होता है, जिसका अर्थ है 'योग्य'। इस स्थिति में उसके दुःख के सभी कारण (वासनाएँ) समाप्त हो जाते हैं और वह उस पद को प्राप्त होता है जिसे 'निर्वाण' कहते हैं। यही बौद्ध नीति का उद्देश्य है, जिसे अर्हत् प्राप्त करता है। अर्हत्त्व का फल उपाधिशेष निर्वाण है। जीवन के उदात्तीकरण की यह उच्चतम परिणति है। यह स्थिति वैदिक दर्शन की जीवन्मुक्ति का समकक्ष है। परन्तु इस स्थिति में भी अर्हत् मनुष्य ही है और शरीर-सम्पत्ति का अंतिम बन्धन बना रहता है। जब वह मरता है तब उसका भौतिक अस्तित्व समाप्त होता है। इसी समय उसके जीवनदीप का तेल (वासनाएँ) पूर्णतः जलकर नष्ट हो जाता है; पुनर्जन्म का बीज भी साथ ही नष्ट हो जाता है। वह इस क्षणिक, विनश्वर तथा दुःखमय प्रवाह से अन्तर्धान होकर परिनिर्वाण को प्राप्त होता है। उसके भवजीवन के सम्पूर्ण उपादान परितः पूर्णतः बुझ जाते हैं। नैतिक जीवन का यही अंतिम आदर्श है।

यह बौद्ध नीति परम्परा और प्रमाण पर न अवलम्बित होकर व्यक्तिगत पुरुषार्थ पर आधारित है। मानव जीवन के सामने सबसे बड़ा उदाहरण है स्वयं भगवान् बुद्ध का चरित्र; उनके द्वारा बुद्धत्व और परिनिर्वाण की प्राप्ति। जब परिनिर्वाण के कुछ समय पूर्व आनन्द ने भगवान् बुद्ध से पूछा कि उनके बाद संघ का कौन संचालन करेगा, तो उन्होंने उत्तर दिया, "आत्मदीप (अपने आप

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

को प्रकाशित करनेवाले) हो। आत्मशरण (अपने आप पर अवलम्बित) हो। वाहरी किसी शरण की अपेक्षा न करो। सत्यरूपी दीपक को दृढ़ता से पकड़े रहो। सत्य की शरण जाओ। अपने से अतिरिक्त किसी दूसरे को शरण देनेवाला न समझो।"

बौद्ध धर्म में चरित्र के ऊपर बहुत बल दिया गया है। यह दो प्रकार है—(१) सुशील और (२) दुःशील। पहला स्वार्थहीन भावना से उत्पन्न होता है और इसकी परिणति प्रेम और करुणा में होती है। दूसरे का मूल अहंकार है और इससे राग, द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं। दस प्रकार के अतिक्रमणों (दोषों अथवा पापों) को त्यागने से ही मनुष्य सुशील बनता है—तीन शारीरिक (कायिक) अतिक्रमण (१) हिंसा, (२) चोरी और (३) यौन व्यभिचार; चार वाचिक अतिक्रमण (१) असत्य भाषण (२) निन्दा (३) गाली और (३) गप्प; तीन मानसिक अतिक्रमण (१) लोभ (२) ईर्ष्या और (३) भ्रान्ति। और भी कई प्रकार से अतिक्रमणों अथवा दोषों का वर्गीकरण किया गया है। जैसे, इन्द्रिय-परायणता, भवतृष्णा, अज्ञान, आध्यात्मिक ऊहापोह आदि पाप माने गये हैं। ये उपदेश बाहर से निषेधात्मक दिखायी पड़ते हैं, परन्तु वास्तव में विधायक हैं। जैसे, हिंसा न करो, चोरी न करो, यौन व्यभिचार न करो, असत्य न बोलो, मादक द्रव्य का सेवन न करो का उद्देश्य विविध दिशाओं में आत्मसंयम है। वास्तव में इनका अर्थ है क्रोध का निग्रह करना, भौतिक सम्पत्ति की इच्छा को रोकना, मांस-मज्जा में आसक्ति को दमन करना, कायरता और राग-द्वेष को दबाना और अनावश्यक उत्तेजक पदार्थों से बचना। इन निग्रहों का उद्देश्य अपना तथा दूसरों का कल्याण और सद्गुणों का वातावरण तैयार करना है। क्रोध के रोकने से सौमनस्य, लोभ के रोकने से उदारता, राग के रोकने से पवित्रता, उत्पन्न होती है। किन्हीं स्थलों में सद्गुणों की संख्या दस बतलायी गयी है—(१) दान (२) शुचिता (३) धैर्य (४) उत्साह (५) ध्यान (६) धी (७) सत्साधन (८) दृढ़ संकल्प (९) शक्ति और (१०) ज्ञान। कहीं-कहीं सम्पूर्ण नैतिक शिक्षा को तीन भागों म बाँट दिया गया है—(१) सदाचरण (२) संस्कार और (३) अन्तर्दृष्टि। बौद्ध धर्म के नैतिक उपदेशों का उपनिषदों के नैतिक सिद्धान्तों से बहुत ही साम्य है।

अब देखना यह है कि बौद्ध नीति का प्रेरणा-स्रोत कहाँ है। प्रायः सभी दर्शनों में दुःख का निवारण और सुख की प्राप्ति ही सभी प्रकार के कर्मों का मूलस्रोत माने गये हैं। बौद्ध धर्म के अनुसार निर्वाण ही परम सुख अथवा आनन्द है। इसकी प्राप्ति में सहायक आचरण ही सदाचरण है। आधुनिक सुखवादियों की मान्यता है कि जीवन की परिधि के विस्तार से सुख मिलता है। बौद्ध धर्म का कहना है कि स्वार्थ और अज्ञान की स्थिति को नष्ट करने से ही सुख प्राप्त होता है। स्वार्थ और अज्ञान के कारण ही मनुष्य आवागमन के चक्कर में पड़कर जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि क्लेशों को भोगता है। अतः इनके विनाश से सुख की स्थिति उत्पन्न होती है। ज्ञान, सदाचरण और तपस्या के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कठिन मार्ग के अन्त में ही निर्वाण की प्राप्ति संभव है। शुद्ध स्वार्थों सम्पत्ति, विजय और अधिकार के लोभ से यह ध्येय दूर होता जाता है। मानसिक भ्रान्ति और अज्ञान के कारण ही मनुष्य राग-द्वेष और स्वार्थ में पड़ता है। स्वार्थ-हीनता और उदारता सम्यक् दृष्टि से ही उत्पन्न हो सकते हैं। सत्काय-दृष्टि के त्याग और सार्वभौम चेतना के उदय से ही सर्वव्यापी करुणा और मैत्री का जन्म होता है। सर्वभूतहित के मूल में यही प्रेरणा काम करती है। संसार के सभी प्राणी इस संसार के दुःखाकीर्ण मार्ग के यात्री हैं। सबका जीवन दुःखात्म है स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल सभी लोकों के प्राणी---मानव, पशु, पक्षी, चलचर आदि--इसी कर्म-बन्धन से विजगडित हैं। इस दुःख के त्यौहार में एक-दूसरे के कल्याण और मुक्ति के लिए संवेदना, सहानुभूति और करुणा स्वाभाविक है। यद्यपि बौद्ध धर्म में सिद्धान्ततः नैतिक प्रेरणा के लिए किसी अतिमानुष अथवा अति-भौतिक शक्ति की आवश्यकता नहीं है, परन्तु सर्वसाधारण जनता में परलोक, स्वर्ग आदि में विश्वास लुप्त नहीं हुए थे। अशोक के अभिलेखों में नैतिक आचरण का उद्देश्य निर्वाण है, इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता। सामान्य जनता नैतिक आचरण से स्वर्ग--अत्यन्त सुख--की कामना करती थी। किन्तु नैतिक आचरण से इहत्र और पारत्र्य अथवा इहलोक और परल्लोक की प्राप्ति भी होती है, ऐसा कहा गया है। हो सकता है कि पारत्र्य और परलोक की कल्पना में इन्द्रियातीत सभी सांसारिक वासनाओं से मुक्त निर्वाण भी गुप्त रूप से सम्मिलित हो।

प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि बौद्ध नीति आवश्यकता से अधिक बुद्धिवादी है और उसमें भावना का स्थान कम है। परन्तु यह आक्षेप उचित नहीं जान पड़ता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्म में ज्ञान पर वहुत वल दिया गया है और अज्ञान और भ्रम को सभी दुःखों का मूल वतलाया गया है। परन्तु नैतिक जीवन के विकास के लिए ज्ञान का यह आग्रह अनुचित नहीं है। जिस ज्ञान का यहाँ पर आग्रह है वह सूचनात्मक अथवा यंत्रात्मक नहीं, अपितु सत्य की भावनात्मक पकड़ है। यह सत्य का अनुभवात्मक ज्ञान ही है जो मन का परिष्कार करता है। सत्य से प्रकाशित मन में कलुषित विचारों का उदय संभव नहीं हो सकता। इसीलिए बौद्ध धर्म में मुक्तात्मा की संज्ञा 'बुद्ध' (ज्ञानवान्) है। सत्य, शुभ और सुन्दर का ज्ञान ही अनेक सद्गुणों के रूप में प्रकट होता है। यह ज्ञान मन की कोठरी में रखी हुई कोई सम्पत्ति नहीं। यह हमारे समस्त व्यक्तित्व में प्रवेश कर बुद्धि और भावना को प्रकाशित और प्रेरित करता है। यह ज्ञान तीन स्तम्भों पर अवलम्बित है---(१) श्रद्धा (विश्वास) (२) दर्शन (अन्तर्दृष्टि) और (३) भावना (मन का संस्कार)। कोरे विश्वास और परतः अनुभव से नैतिक जीवन का विकास नहीं होता; कोरे बाहरी उपदेश सुननेवाले के हृदय में प्रवेश नहीं करते। जो अज्ञानी है वह जीवन के उच्चतर स्तर में प्रवेश नहीं कर सकता। वह उच्चतर स्तर सत्य का साक्षात्कार है। बौद्ध धर्म में प्रज्ञा का उच्चतम स्थान है। परन्तु बुद्ध ने बरावर कहा है कि प्रज्ञा का अव-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तार करुणा और मैत्री के रूप में होना चाहिए। इसके विना वह वन्ध्या है। बौद्ध नीति पर दूसरा आक्षेप है कि यह शुद्ध निवृत्तिमार्गी है और इसलिए पार्थिव जीवन के विकास में अक्षम है। परन्तु यह आक्षेप भी एकाङ्गीण है। निवृत्ति लोक-हित-विरोधी नहीं; लोक में आसक्ति और उससे उत्पन्न संघर्ष को कम करनेवाली है; लोक-हित को परमार्थ की ओर उन्मुख करानेवाली है। यदि निवृत्ति का अर्थ वासनाओं का दमन है तो इस दृष्टि से बौद्ध नीति निवृत्त-मार्गी है। तृष्णा अथवा वासनाओं से ही संसार में दुःख की अट्टालिका निर्मित होती है। तृष्णा चंचल है और अत्यन्त क्षोभ और तनाव की स्थिति उत्पन्न करती है। मानव जीवन में अशान्ति का यही मूल है। इसलिए इसका मूलोच्छेद आवश्यक है। सतत प्रयत्न और स्वतन्त्र छन्द (स्वेच्छा) से ही इसका विनाश संभव है। किन्तु इसका अर्थ संसार से पलायन नहीं है। वहुजन-हिताय वहुजन-सुखाय आचरङ्ग करने में ही स्वार्थमूल तृष्णा का विनाश होता है। तृष्णा-क्षय का अर्थ सभी इच्छाओं का क्षय नहीं, परन्तु केवल अशुभ इच्छाओं का क्षय है। और अशुभ इच्छाओं के दमन के लिए मानसिक शुद्धि की आवश्यकता है, शरीर को कष्ट देने की नहीं। भगवान् बुद्ध ने शारीरिक आसक्ति की नहीं किन्तु शरीर को स्वच्छ और स्वस्थ रखने की शिक्षा दी। इस सम्वन्ध में भगवान् का एक कथन है: "क्या कभी किसी युद्ध में वाण के द्वारा कभी आहत हुये हो?" "जी हाँ।" "और क्या घाव पर मलहम लगाया गया, तेल उस पर चुपड़ा गया और कपड़े की उस पर पट्टी बाँधी गयी?" "जी हाँ।" "क्या तुम अपने घाव से प्रेम करते हो?" "जी नहीं।" "ठीक इसी प्रकार श्रमण अपने शरीर से प्रेम नहीं करता, किन्तु विना किसी आसक्ति के उसकी देखभाल करता है जिससे कि वह धार्मिक जीवन में अग्रसर हो सके।" भगवान् वुद्ध ने भिक्षुओं के लिए भी उचित भोजन वस्त्र और आश्रय का विधान किया। वह इसका अनुभव करते थे कि अनावश्यक कायक्लेश से वुद्धि दुर्वल हो जाती है। उनके लिए निवृत्ति और तपस्या का अर्थ जीवन के सभी सम्वन्धों का विच्छेद नहीं, किन्तु अहंकार और ममता का त्याग है। वास्तव में तपस्या, त्याग और निवृत्ति उपनिषदों के समय से भारतीय परम्परा के विशिष्ट अंग रहे हैं। भगवान् बुद्ध ने भी उनको स्वीकार किया, यद्यपि अपने मध्यम मार्ग द्वारा इसकी कठोरता को कम किया।

प्रारम्भिक बौद्ध धर्म हीनयान में नैतिक जीवन का आधार कर्म (कार्य-कारण)-सिद्धान्त और स्वावलम्वन था। किसी ईश्वर, देवता, अपूर्व, अदृष्ट आदि का इसमें हाथ नहीं था। परन्तु महायान के उदय के साथ नीति-अनीति तथा पुण्य-पाप के सम्बन्ध में एक नयी धारणा और विश्वास का उदय हुआ। इस समय तक भगवान् बुद्ध प्रायः ईश्वरत्व को प्राप्त हो चुके थे और सारे संसार को दुःख से मुक्त करनेवाले तथा पाप से मुक्त कर त्राण देनेवाले बोधि-सत्त्व का सिद्धान्त प्रचलित हो चुका था। यह लोक-संग्रह और सर्वभूत-हित का

१३

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उच्चतम सिद्धान्त था। परन्तु सभी उच्च आदर्शों का दुःखान्त देखा गया है। अब कठोर कर्म-सिद्धान्त के स्थान पर बोधिसत्त्व की महा करुणा और दया के सिद्धान्त में विश्वास किया जाने लगा। इसके अनुसार अनीति और पाप से बोधिसत्त्व को कष्ट होता है, क्योंकि अनीति और पाप के प्रत्येक कृत्य से बोधिसत्त्व का भार बढ़ता जाता है, क्योंकि संसार के सभी प्राणियों के दुःख और पाप का बोझ उन्होंने अपने ऊपर ले लिया है। नैतिक दृष्टि से प्रत्येक मानव पापी इस बात का अनुभव करता है कि उसके पाप से बोधिसत्त्व को दुःख होता है। हीनयानी बौद्ध एक प्रकार से वैयक्तिक सुखवादी था, क्योंकि वह अपने व्यक्तिगत निर्वाण के लिए प्रयत्न करता था। निर्वाण उसी के पुरुषार्थ पर अवलम्बित था, जिसके लिए वह नैतिक आचरण करता था। परन्तु महायानी बौद्ध के लिए बुद्ध शास्ता से प्रायः ईश्वर बन चुके थे, जो सारे संसार पर शासन करते थे और जीवमात्र को त्राण देने में समर्थ थे। जब बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा तो भिक्षु पाप करने के लिए अनेक बहाने निकालने लगे। पहले भिक्षु ब्रह्मचर्य का पालन करता था; अब इसलिए विवाह करने लगा कि इससे दूसरे को सुख मिलता है। यहाँ तक कि पाप करना भी कर्तव्य माना जाने लगा, क्योंकि इसको क्षमा करने में बोधिसत्त्व को सुख मिलता है। जहाँ भी भक्तिवाद और रहस्यवादी गुह्य साधना का अतिरेक हुआ है, वहाँ ऐसे नैतिक ह्रास के उदाहरण पाये जाते हैं।[1]

१. बौद्धनीति के लिए द्रष्टव्य साहित्य :—(१) धम्मपद और सुत्तनिपात, (२) मिलिन्दपञ्ह, (३) बुद्धिस्ट सुत्तस (सेकरेट बुक्स ऑफ दि ईस्ट सिरीज) जिल्द ११, (४) रिहज डेविड्स; बुद्धिज्म, (५) आचार्य नरेन्द्रदेव : बौद्ध धर्म और दर्शन।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तृतीय व्याख्यान

नीति का विकास (२)

१. षड्दर्शनों में नीति

वैदिक साहित्य में नीति कर्मकाण्ड और दर्शन के साथ घुली-मिली है। इसका मुख्य कारण है भारतीय जीवन और विचार की समुच्चयात्मक प्रवृत्ति। शास्त्रीय चिन्तन की दृष्टि से भी नीतिशास्त्र कोई अलग शास्त्र नहीं बना था और परवर्ती काल में भी नहीं बन पाया, यद्यपि नीति सम्बन्धी सूक्तियों के संग्रह कई निर्मित हुए। जो लोग इस बात को नहीं समझते उनको आश्चर्य होता है कि वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों और उपनिषदों में नीति-शास्त्रीय अंश इतने कम क्यों हैं। परन्तु जो इस साहित्य की प्रकृति को जानते हैं उनको आश्चर्य नहीं होगा, क्योंकि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त और उपदेश बिखरे पड़े हैं। यही स्थिति प्रारम्भिक जैन और बौद्ध साहित्य की भी है, यद्यपि उनमें नीति का स्वर अधिक प्रखर है, क्योंकि वे अधिक नीतिवादी थे और जीवन के समन्वय की ओर उनका ध्यान कम था। इसमें सन्देह नहीं कि अभी तक स्वतंत्र रूप से नीति का सैद्धान्तिक विवेचन नहीं हुआ था, यद्यपि उपदेशात्मक नीति की कमी न थी। जैन और बौद्ध धर्म के उदय के पश्चात् न केवल दर्शन को शास्त्रीय रूप देने का प्रयास हुआ, अपितु नीति को भी। षड्दर्शनों में मुख्यतः दर्शन का ही प्राधान्य और विस्तार है; किन्तु उनमें नीति का मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक विवेचन भी पाया जाता है। नैतिक जीवन दार्शनिक उपलब्धि का आवश्यक साधन माना जाता था। इसलिए दर्शन के एक अङ्ग के रूप में किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से नीति पर विचार हुआ है।

१. न्याय

न्यायदर्शन का मुख्य विषय दार्शनिक सिद्धान्तों की तर्कसंगत व्याख्या प्रस्तुत करना है। न्याय, नय और नीति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः न्याय दर्शन के साथ नय और नीति की तर्कसंगत व्याख्या आवश्यक हो जाती है। नीति का विषय है मनुष्य का आचरण और आचरण की मूल कर्मभूमि है मानव मन है। सदाचरण और कदाचरण दोनों ही उसी से उत्पन्न होते हैं। मन ही बन्ध और मोक्ष का कारण है। इसलिए न्याय में मन की प्रवृत्तियों का तात्त्विक विवेचन किया गया है। न्याय मन की दो शक्तियों—इच्छा और बुद्धि—में भेद नहीं करता। इसके अनुसार बुद्धि केवल इन्द्रिय-विषयों को प्रतिबिम्बित करनेवाला निष्क्रिय शीशा नहीं है और न इच्छा ऐसी कोई रहस्यमयी शक्ति है जो विषयों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के बुद्धि द्वारा प्रस्तुत होने पर क्रियाशील होती है। बुद्धि के द्वारा जो भी ज्ञान होता है वह सोद्देश्य है। जब बुद्धि विषयों को पहचानती है तो साथ ही साथ उनको पसन्द करती है अथवा नापसन्द करती है; स्वीकार करती है अथवा अस्वीकार करती है। बुद्धि से गृहीत वस्तुओं का मूल्यांकन तुरन्त प्रारम्भ हो जाता है। बुद्धि वस्तुओं के प्रति अपनी व्यावहारिक दृष्टि वना लेती है। मनुष्य की यही स्वैच्छिक व्यावहारिक क्रियाएँ नीति शास्त्र के विषय हैं।

न्याय के कई ग्रन्थों में मन की इच्छा-शक्ति का मनोवैज्ञानिक विवेचन पाया जाता है। सिद्धान्त-मुक्तावली में विश्वनाथ ने इच्छा की कई परिस्थितियों का उल्लेख किया है। एक तो इच्छा असंभव की ओर दौड़ती नहीं। केवल वालक ही चन्द्रमा को पकड़ने की चेष्टा करते पाये जाते हैं। मनुष्य प्रायः उन्हीं वस्तुओं के पाने का प्रयास करते हैं जो उनकी पहुँच के भीतर होती हैं। दूसरे वे उन्हीं वस्तुओं को चाहते हैं जो वांछनीय होती हैं और जो उनके लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। यहाँ तक कि आत्म-हत्या करनेवाले और अपने शरीर में सुई चुभानेवाले भी यह अनुभव करते हैं कि इनसे उनको सुख मिलेगा। इस प्रकार सभी वस्तुओं का मूल्य कर्ता के सम्वन्ध से ही निर्धारित होता है, यद्यपि वह कभी-कभी मन की विकृत अवस्था में अनिष्टकारी वस्तुओं को भी श्रेयस्कर समझ लेता है। चाहे आगे चलकर दूसरों के द्वारा जो भी निर्णय इसके सम्वन्ध में किया जाय, किन्तु स्वेच्छापूर्वक ग्रहण करने के समय कर्ता द्वारा वस्तुएँ वांछनीय और मूल्यवान् समझी जाती हैं। किसी क्रिया अथवा वस्तु को वांछनीय और ग्राह्य समझने के समय कर्ता इस वात पर भी विचार कर लेता है कि आगे उनका परिणाम अनिष्टकर तो नहीं होगा। और जब कभी अनिष्टकर परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं तो वह उन्हें त्याग भी देता है।

नैतिक निर्णय के क्षेत्र के वाहर मनुष्य की वे सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं जो उसकी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति से न संचालित होकर अपने आप जीवन धारण करने मात्र के लिए होती हैं। मनुष्य का दायित्व उन इच्छाओं और अनिच्छाओं के लिए नहीं होता जो उसके ऊपर बाहर से आरोपित होती हैं। न्याय आत्मा के कर्म-स्वातन्त्र्य को मानता है और उसमें अभिक्रम (कार्यारम्भ) और चुनाव की शक्ति को स्वीकार करता है। न्याय-भाष्य में वात्सायन से उस मत का प्रत्याख्यान किया है जो मानव जीवन में ईश्वरीय हस्तक्षेप को स्वीकार करता है और मानव पुरुषार्थ की स्वतन्त्रता को नहीं मानता। न्याय के अनुसार मनुष्य की इच्छा-शक्ति कार्य करने में सक्षम है, यद्यपि वह ईश्वर के संरक्षण में कार्य करती है।

मनुष्य जो भी कार्य करता है उसका कोई न कोई प्रयोजन होता है। वह प्रयोजन है सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति। दुःख इस वात का द्योतक है कि मनुष्य अपनी स्वस्थावस्था में नहीं है। इसलिए अन्ततोगत्वा न्याय मानता है कि उच्चतम श्रेय सुख का भोग नहीं, किन्तु दुःख से मुक्ति है। वड़े-से-वड़े सुख में दुःख मिला रहता है। संसार का वास्तविक स्वरूप दुःखमय है, यद्यपि इसमें

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सुख का आभास होता है। दुःख, जन्म, कर्म, दोष और भ्रान्ति यही जीवन का घटना-चक्र है। इसके विनाश से ही दुःख का निवारण होता है। दुःख जन्म से उत्पन्न होता है और जन्म प्रवृत्ति से। मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियाएँ—शुभ अथवा अशुभ—उसकी आत्मा को सांसारिक वन्धन में डालती है। क्रियाएँ राग, द्वेष और मोह से उत्पन्न होती हैं। राग के अन्तर्गत काम, लोभ आदि सम्मिलित हैं। द्वेष के अन्तर्गत क्रोध, ईर्ष्या, निन्दा, घृणा आदि का समावेश है। मोह में भ्रम, सन्देह, अभिमान, प्रमाद आदि की गणना है। वास्तव में मोह ही दुःख का मूल कारण है, क्योंकि इसीसे राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं, इन दोषों के कारण हम इस तथ्य को भूल जाते हैं कि आत्मा शुद्ध रूप में निर्लिप्त है; इसके लिए कुछ वांछनीय अथवा अवांछनीय नहीं है। इसलिए इन्द्रिय-विषयों की हम इच्छा अथवा अनिच्छा करते हैं। आत्मा के स्वरूप और सुख-दुःख के सम्वन्ध में मिथ्या ज्ञान से यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है। संसार चक्र का मूल मिथ्याज्ञान और फल दुःख है। इसलिए जीवन के चरम लक्ष्य, आत्मिक स्वातंत्र्य, की प्राप्ति के लिए इस चक्र का अन्त आवश्यक है। मिथ्याज्ञान के दूर होने से संसार-चक्र स्वयं समाप्त हो जाता है; तव कर्म से वन्धन की शक्ति निकल जाती है; कर्मवन्ध नष्ट होने से जन्म नहीं होता और जन्म न होने से दुःख की निवृत्ति होती है। यही आनन्द की स्थिति है।

मिथ्या ज्ञान से अहंकार और अहंकार से अस्मिता—समष्टि से पृथक् अस्तित्व—का बोध होता है। न्याय के अनुसार इस पार्थक्य-वुद्धि का दमन आवश्यक है। पार्थक्य-वुद्धि से दोष उत्पन्न होते हैं। इसके दमन से जिसके दोष शान्त हो जाते हैं, वे आवागमन के चक्र में नहीं पड़ते। मुक्तात्मा शरीर से कार्य करते हुए भी कर्म-वन्धन से नहीं वँधते। जव तक हम अपना पृथक् अस्तित्व स्वीकार करते हैं; अपने को कर्ता मानते हैं, पुण्य-पाप का संचय करते हैं, तब तक हम संसार-चक्र में वँधे हुए हैं। जव पार्थक्य-वुद्धि नष्ट होती है तो यह संसार का बन्धन भी समाप्त हो जाता है। किन्तु शुद्ध ज्ञानमात्र से संसार से तुरन्त मुक्ति नहीं मिलती। शुभ-अशुभ कर्मों का फल जव तक समाप्त नहीं होता तव तक आत्मा और शरीर का सम्वन्ध नहीं छूटता। कर्म-फल समाप्त होने पर पुनः शरीर धारण—पुनर्जन्म की संभावना भी नष्ट हो जाती है।

मानव जीवन का चरम आदर्श है मिथ्याज्ञान से उत्पन्न पार्थक्य-वुद्धि और तज्जन्य दुःख से मुक्ति। इसलिए इस आदर्श की प्राप्ति के अनुकूल आचरण शुभ और प्रतिकूल आचरण अशुभ है। आचरण अथवा क्रियाएँ तीन प्रकार की होती हैं—मानसिक, वाचिक और शारीरिक। ये या तो शुभ होती है अथवा अशुभ। शुभ क्रियाओं का परित्याग कर अशुभ का चुनाव करने में ही नैतिक दोष उत्पन्न होते हैं। उत्कट राग से अभिभूत होकर पाप के दुःखमय परिणाम को भ्रम से सुख समझ लेते हैं। और इन्द्रिय सुखों के आकर्षण के सामने परास्त हो जाते हैं।

सद्गुणों की स्वीकृति और अभ्यास से मनुष्य में क्रमशः यह शक्ति आती है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कि वह आत्मा और शरीर के अन्तर को समझ सके। शुद्ध ज्ञान केवल बौद्धिक व्यायाम नहीं, वास्तविक जीवन में एक दृष्टिकोण है। शुद्ध ज्ञान और दुष्ट कर्म जीवन में साथ नहीं चल सकते। और शुद्ध ज्ञान भी पुस्तकों से नहीं प्राप्त हो सकता। इसकी प्राप्ति ध्यान, चिन्तन और शुद्धाचरण से होती है। न्याय-दर्शन में स्वाध्याय के साथ-साथ ध्यान और योग का विधान भी किया गया है। वार्तिक में स्वाध्याय, चिन्तन और ध्यान की व्यवस्था की गयी है। कहीं-कहीं इस बात का उपदेश किया गया है कि सांसारिक कामनाओं और सुखों को छोड़कर वन में चला जाना चाहिए और वहाँ आत्माग्नि में सम्पूर्ण भौतिक कर्मों की आहुति करनी चाहिए। शान्ति और आनन्द की प्राप्ति के लिए भक्ति का विधान भी पाया जाता है। यद्यपि मनुष्य के कर्मों में ईश्वर हस्तक्षेप नहीं करता, भक्ति के अपने फल हैं, जिनसे कल्याण-मार्ग के पथिक को सहारा मिलता है।

न्याय के अनुसार क्रिया और उसके फल में कार्य-कारण सम्बन्ध होता है जो कर्म-सिद्धान्त से संचालित है। किसी क्रिया का फल नष्ट नहीं होता; वह मन्द अथवा तीव्र गति से चलता रहता है। किसी क्रिया का फल शीघ्र मिलता है और किसी का विलम्ब से। उदाहरणार्थ, भोजन पाकाने का फल तुरन्त मिलता है, किन्तु हल से भूमि जोतने का फल छः महीने अथवा एक वर्ष पश्चात्। ईष्टापूर्त (यज्ञ, सामाजिक उपकार आदि) का फल विलम्ब से मिलता है। किन्तु क्रिया और फल के बीच में क्रिया का परिणाम धर्म अथवा अधर्म के रूप में वर्तमान रहता है। अदृष्ट फल कर्म से भिन्न नहीं होता। पुनर्जन्म में शरीरधारण पूर्व कर्मों के अनुसार होता है। आत्मा की कोई जाति नहीं होती, किन्तु नये शरीर के अनुसार उसकी जाति की संज्ञा संसार में प्रचलित हो जाती है। न्याय दर्शन आत्मा के सूक्ष्म शरीर को नहीं मानता। इसके अनुसार मन के द्वारा आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता जान पड़ता है। मन आणविक और इसलिए अदृश्य है; एक शरीर से दूसरे शरीर में संक्रमण करने समय दिखायी नहीं पड़ता। आत्माएँ सर्वव्यापी होती हैं। इसलिए पुनर्जन्म में मन ही एक शरीर से दूसरे में प्रवेश करता है। सांसारिक सत्य केवल आत्मा से संघटित नहीं होता; यह आत्मा और प्रकृति के संघात से संयोजित है। ईश्वर संविधान में अणुओं का संघटन करता है, जिससे वे आत्मा के अनुभव के माध्यम बन सकें।[1]

२. वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन के नैतिक सिद्धान्त प्रायः न्याय के नैतिक सिद्धान्तों से मिलते-जुलते हैं। इसके अनुसार कर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) ऐच्छिक और (२) और (२) अनैच्छिक। जो कर्म राग और द्वेषपूर्वक स्वेच्छा से किये जाते हैं वे

१. द्रष्टव्य साहित्य :—(१) न्यायसूत्र (वात्स्यायन भाष्य और उद्योतकरवार्तिक सहित। (२) उदयन : कुसुमाञ्जलि, (३) अन्नंभट्टः तर्क संग्रह, (४) सर्वदर्शनसंग्रह, अध्याय ११ (५) विद्याभूषण : हिस्ट्री आफ इंडियन लॉजिक।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ऐच्छिक कहलाते हैं। जो कार्य केवल जीवन धारण करने के लिए (जीवनपूर्वक) अपने आप होते रहते हैं उनको अनैच्छिक कहते हैं। नीति का सम्बन्ध केवल ऐच्छिक कर्मों से होता है। इसका कारण यह है कि अनैच्छिक कर्मों का शरीर से केवल यांत्रिक सम्बन्ध होता है जिसमें बुद्धि और भावना का कोई सम्बन्ध नहीं; परन्तु ऐच्छिक कर्मों का उद्देश्य मानव पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) से होता है, जिसको वैशेषिक हित-प्राप्ति कहता है। सुख अथवा अनुकूल संवेदना उन पदार्थों के लिए आकर्षण अथवा राग उत्पन्न करती है, जिनसे सुख मिलता हैं। इसके विपरीत दुःख अथवा प्रतिकूल संवेदना उन पदार्थों के प्रति द्वेष अथवा विकर्षण उत्पन्न करती है जिनसे दुःख उत्पन्न होता है।

धर्म अथवा नैतिक जीवन से इहलौकिक समृद्धि (अभ्युदय) और पारमार्थिक आनन्द (निःश्रेयस्) प्राप्त होता है। विधिपूर्वक सांसारिक कर्म करने से अभ्युदय की प्राप्ति होती है। आध्यात्मिक दृष्टि (तत्त्वज्ञान) के द्वारा पारमार्थिक कल्याण होता है। तत्त्वज्ञान से प्राप्त आनन्द ही परम सुख है जो इन्द्रिय-सुख की वस्तुओं की स्मृति, इच्छा आदि से मुक्त और पदार्थों के वास्तविक ज्ञान, मानसिक शान्ति, की स्मृति, इच्छा आदि से मुक्त और पदार्थों के वास्तविक ज्ञान, मानसिक शान्ति, संतोष आदि से उत्पन्न होता है। मनुष्य के लिए कर्तव्य अथवा अकर्तव्य का ज्ञान पूर्णरूपे से धर्मशास्त्र से होता है। वैशेषिक ने कर्तव्य, धर्म अथवा नीति को मोटे तौर तर दो भागों में विभांजित किया है—(१) सामान्य जिसका पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिए, विना किसी भेदभाव के, आवश्यक है। इसके लिए वर्ण, जाति, लिङ्ग, आदि की अपेक्षा नहीं। (२) विशेष, जो परिस्थिति विशेष में, वर्ण और आश्रम के अनुसार मनुष्यों पर लागू होते हैं। सामान्य धर्म के अन्तर्गत निम्नांकित सद्‌गुणों का समावेश पाया जाता है:

(१) श्रद्धा (शास्त्र और धर्म में विश्वास),
(२) अहिंसा (समस्त प्राणियों के प्रति अनभिद्रोह का संकल्प),
(३) भूतहितत्व (प्राणिमात्र के लिए दया भाव),
(४) सत्यवचन (जैसा देखा, सुना अथवा जाना हो उसको वैसा ही कहना),
(५) अस्तेय (दूसरे का धन उसकी अनुमति के विना नहीं ग्रहण करना),
(६) ब्रह्मचर्य (यौन सम्पर्क का संयम),
(७) अनुपधा भावशुद्धि (भावनाओं की वेगरहित शुद्धि),
(८) क्रोध वर्जन (प्रतिकूल परिस्थिति में उत्तेजना और क्रोध का त्याग),
(९) अभिषेचन (जल से शरीर की शुद्धि),
(१०) शुचिद्रव्यसेवन (खाद्य, पेय और अन्य उपभोग में द्रव्य-शुद्धि),
(११) विशिष्ट देवता भक्ति (इष्ट देवता के द्वारा उसके विशिष्ट गुणों की भावना),
(१२) उपवास (भोजन आदि भोग्य वस्तुअ से इन्द्रियों को हटाकर परमात्मा के साहचर्य का अनुभव करना) और
(१३) अप्रमाद (धर्म अथवा नीति के पालन में सावधानी और उद्यम)।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जहाँ तक विशिष्ट धर्म अथवा नीति का सम्बन्ध है धर्मशास्त्र में विहित वर्ण और आश्रम धर्मों के पालन का निर्देश वैशेषिक दर्शन करता है। परन्तु आश्रमों के अनुक्रम को यह दर्शन अनिवार्य नहीं मानता। इसके अनुसार गृहस्थ-जीवन में प्रवेश किये विना भी कोई व्यक्ति वानप्रस्थी अथवा सन्यासी हो सकता है। किन्तु यहाँ सन्यास का अर्थ व्यावहारिक कर्मों का त्याग नहीं; सम्पूर्ण विश्व के प्रति मैत्री, करुणा और दया का भाव है। कर्तव्य कर्मों का पालन यदि स्वार्थ की भावना से रहित होकर किया जाता है तो उससे पुण्य उत्पन्न होता है। अहंकार और स्वार्थ के त्याग से ही मनुष्य का आध्यात्मिक विकास संभव है। जो अयत अर्थात् असंयत है उसका अभ्युदय भी संभव नहीं। वैशेषिक दर्शन में आत्म-संयम के लिए योग की आवश्यकता वतलायी गयी है। नैतिक जीवन के लिए वाह्य नियम का औपचारिक पालन पर्याप्त नहीं; हार्दिक शुद्धि और सद्-भावना आवश्यक है।

वैशेषिक दर्शन में धर्म अथवा नीति पर और सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया गया है। धर्म नैतिक आचरण का विषय-मात्र नहीं है; यह कर्ता में विद्यमान शक्ति और गुण भी है। यह अतीन्द्रिय है। इसका अन्त उस समय होता है जव कर्ता कर्मों के परिणामों का भोग पूरा कर लेता है। यदि धर्म को एकान्ततः अक्षय मान लिया जाय तो मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए मोक्ष-प्राप्ति के पूर्व धर्म का भी परित्याग करना पड़ता है। जब तक अच्छे उद्देश्यों को अपने सम्मुख रखकर हम सद्गुणों और सत्कर्मों का आचरण करते हैं तब तक उनका वांछनीय फल तो मिलता है, परन्तु यह फल अविनश्वर और स्थायी नहीं होता; इससे मुक्ति नहीं मिलती। चीटी से लेकर ब्रह्मा तक कर्म-वन्धन से प्रभावित होते हैं। मुक्ति तात्त्विक ज्ञान से ही प्राप्त होती है, कर्म से नहीं। जब तक हम राग अथवा द्वेष से कर्म करते हैं तब तक हम धर्म अथवा अधर्म का संचय करते रहते हैं। इसका परिणाम होता है निरन्तर आवागमन—जन्म-मरण। यह शरीर भोगायतन है। जव कर्म द्वारा इसका अदृष्ट से सम्वन्ध जुटता है तो संसार उत्पन्न होता है। जव अदृष्ट अथवा कर्म से इसका सम्वन्ध छूट जाता है तव मोक्ष प्राप्त होता है।

अहंकार और स्वार्थ का मूल कारण अविद्या अथवा अज्ञान है। जब यह अनुभव हो जाता है कि संसार के आकर्षक अथवा विकर्षक पदार्थ केवल परमाणुओं के संघातमात्र है तव उनके प्रति द्रष्टा में उदासीनता उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार जव शरीर के विभिन्न रूपों से स्वतन्त्र आत्मा का यथार्थ वोध हो जाता है तव अहंकार का लोप होकर सभी जीवों के प्रति समता का भाव उत्पन्न होता है। जव इस प्रकार के ज्ञान से अहंकार और स्वार्थ की भावना लुप्त हो जाती है तो कर्तव्य-कर्मों से वन्धन की शक्ति नष्ट हो जाती है और मनुष्य आवागमन के चक्कर से मुक्त हो जाता है। जब यह दर्शन ईश्वरवाद और भक्ति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

से अधिक प्रभावित हुआ तो मुक्ति भगवान् की दया से संभव मानी जाने लगी और धर्म अथवा नीति ईश्वरेच्छा की अभिव्यक्ति।

अपने कर्मों के अनुसार जीवात्मा संसार में किसी न किसी प्रकार के शरीर से संयुक्त होता है। यह शरीर प्रलय के समय सूक्ष्म रहता है, किन्तु सृष्टि के समय स्थूल हो जाता है। जीवात्मा अपने अदृष्ट से कभी रहित नहीं होता, क्योंकि आवागमन के चक्र का कोई आदि नहीं। देश, काल, परिवार, माता-पिता, परिस्थितियाँ सभी अदृष्ट से निर्धारित होते हैं। सभी जीवात्माओं को अपने कर्म-फल का भोग करने का अवसर प्राप्त होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वर्तमान जन्म में ठीक इसके पहले जन्म के कर्मों का ही फल मिले। सभी कर्मों का फल प्रारब्ध के रूप में सुरक्षित रहता है। अपने उपयुक्त समय पर वह प्रकट होता है। कोई संस्कार नष्ट नहीं होता, परन्तु प्रतिफलित होने के लिए उसे उचित अवसर की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अपने कर्मों के अनुसार जीव ऊँची और नीची योनियों में प्रवेश करता है।

वैशेषिक दर्शन में मोक्ष की कल्पना न्यायदर्शन से थोड़ी भिन्न है। वैशेषिक के अनुसार आत्मा अपनी मुक्तावस्था में सभी गुणों और उपाधियों से मुक्त रहता है, जिस प्रकार सभी प्रकार के दोषों से रहित निर्मल और शान्त आकाश। परन्तु नैयायिकों के अनुसार मोक्ष, ज्ञान और आनन्द की स्थिति है। वैशेषिक मोक्ष को सुख अथवा आनन्द की स्थिति नहीं मानता। गुणों के कारण ही सुख-दुःख का अनुभव होता है। इनके नष्ट होने पर आत्मा स्वतन्त्र हो जाता है। स्वतन्त्रता स्वतः एक आनन्द की स्थिति है। परन्तु इस स्थिति में आत्मा का विनाश नहीं होता; वह केवल सभी संवेदनाओं से रहित हो जाता है। यह स्थिति अचेतन पत्थर से भिन्न है, क्योंकि पत्थर में अनुभव करने की शक्ति नहीं, जब कि आत्मा अपने स्वातन्त्र्य का अनुभव करता है।[१]

३. सांख्य-दर्शन

बौद्ध धर्म के समान सांख्य दर्शन में भी नैतिक सिद्धान्तों की जिज्ञासा संसार-व्यापी दुःख के अनुभव से ही प्रारम्भ होती है। इन्हीं दुःखों से निवृत्त होना ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। इसी के लिए नैतिक जीवन आवश्यक है। दुःख तीन प्रकार का होता है—(१) आध्यात्मिक (मानसिक अथवा शरीर की स्थिति से उत्पन्न), (२) आधिदैविक (जो अतिभौतिक शक्तियों से उत्पन्न होता है) और (३) आधिभौतिक (जो भौतिक तत्त्वों से पहुँचाया जाता है)। शारीरिक रोग (व्याधि) और मानसिक अशान्ति (आधि) से जो दुःख उत्पन्न होता है वह आध्यात्मिक है, क्योंकि उसका सम्बन्ध मनुष्य से अपने आप सीधा है। ग्रह-नक्षत्रों, पञ्च-

---

१. द्रष्टव्य साहित्य :—(१) कणादः वैशेषिक सूत्र (२) प्रशस्तपादः पदार्थ-धर्म संग्रहः (३) विश्वनाथः भाषापरिच्छेद और सिद्धान्त मुक्तावली, (४) सर्वदर्शन-संग्रह, अध्याय १०, (५) चटर्जी : हिन्दू रियलिज्म।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तत्त्वों, तथा अन्य अदृश्य शक्तियों से जो मनुष्य को कष्ट पहुँचाता है वह आधि-दैविक है, क्योंकि मनुष्य से इनका सम्बन्ध देवों के द्वारा होता है। जो दुःख मनुष्य को मानव, पशु, पक्षियों आदि के द्वारा पहुँचता है वह आधि-भौतिक है क्योंकि मनुष्य का इनसे सम्बन्ध भूतों अथवा जीवधारियों के द्वारा है।

प्रत्येक व्यक्ति की यह आकांक्षा होती है कि वह इन दुःखों से छुटकारा पावे। परन्तु आयुर्वेद और धर्मशास्त्र की व्यवस्थाओं मात्र से इन दुःखों से मुक्ति नहीं मिल सकती। कर्मकाण्ड इन दुःखों से मोक्ष दिलाने में असमर्थ है। यज्ञों में हिंसा तो पाप और दुःख का ही कारण है। यदि यज्ञ से स्वर्ग मिल भी गया तो ऐसे नश्वर स्वर्ग से क्या लाभ जो गुणों से वद्ध है। यज्ञ और पूर्त आदि से दुःख का केवल स्थगन होता है, उसका अन्त नहीं। मृत्यु से भी दुःख का अन्त नहीं होता, क्योंकि दुःख की परम्परा जन्मान्तर में भी चलती रहती है। परन्तु यह दुःख आत्मा के लिए स्वाभाविक नहीं, प्रासंगिक है। इसका अन्त हो सकता है। दुःख का कारण दूर करने से यह स्वतः समाप्त हो जाता है।

दुःख का भोगायतन वास्तव में प्रकृति है। भ्रम के कारण इसका आरोप पुरुष पर हो जाता है। यद्यपि सुख-दुःख की संवेदना से उत्पन्न वन्ध और क्रिया से सम्बन्ध रखनेवाले विवेक और अविवेक चित्त की भूमियों पर घटित होते हैं, तथापि चित्त के निकट होने के कारण आत्मा पर जव चित्त की प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्व पड़ता है तो चित्त के सुख-दुःख का आत्मा पर आरोप हो जाता है। इस प्रकार पुरुष का बन्ध केवल कल्पनात्मक है। इसलिए इसको औपाधिक कहते हैं। यदि आत्मा का दुःख सहज अथवा वास्तविक होता तो इसका विनाश भी संभव नहीं होता। देश, काल और कर्म के कारण भी वन्ध नहीं होता, क्योंकि इनका सम्बन्ध प्राकृत शरीर से है। एक वस्तु के गुणों और कर्मों से दूसरी वस्तु में वास्तविक परिवर्तन नहीं हो सकता। पुरुष सनातन, निर्मल, प्रकाशित और मुक्त है। किन्तु पुरुष और प्रकृति के संयोग से वन्ध उत्पन्न होता है। इस वन्ध का कारण है अविवेक जिसके द्वारा प्रकृति के गुणों का पुरुष पर आरोप हो जाता है। अविवेक बुद्धि में होता है, जिसका दर्पण आत्मा है। इस अविवेक के नष्ट होने पर दुःख समाप्त हो जाता है। अन्ततोगत्वा विवेक और अविवेक ही मोक्ष और बन्ध के कारण हैं।

नैतिक जीवन का क्षेत्र मनुष्य का सूक्ष्म शरीर है जो उसके साथ जन्म-जन्मान्तर तक लगा रहता है। शरीर-धारण का स्वभाव ही दुःख है। जब जीव शरीर से पृथक् हो जाता है तब वह दुःख से मुक्त होता है। अतः जीव का प्रयत्न होता है कि वह प्राकृत शरीर से अपने को अलग करे। कैवल्य की प्राप्ति ही उसका परम पुरुषार्थ है। यही पुरुष की पूर्णता भी है। सम्पूर्ण नैतिक आचरण इसी कैवल्य की प्राप्ति के लिए होता है। संसार-चक्र संघर्ष और परिवर्तनों का क्षेत्र है, जिसके प्रत्येक कण एक दूसरे से उदासीन और पृथक् है। जब तक जीव इस चक्र में रहता है तब तक वह अपना स्वरूप नहीं पहचान पाता। जीव को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अपना स्वरूप पहचानने के लिए वाहर जाने की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक जीव में पूर्ण पुरुषत्व है। जीव को इसका अनुभव मात्र आवश्यक है। नैतिक विकास मानव में कोई वाहरी परिवर्तन नहीं; अपने सहज स्वभाव का परिज्ञानमात्र है। मोक्ष भी भ्रान्त बन्ध से अपने सहज स्वभाव में प्रत्यावर्तन है। मोक्ष उस इन्द्र-जाल को तोड़ देना है जो पुरुष के वास्तविक स्वरूप पर पर्दा डाल देता है। सांख्यकारिका में इस स्थिति का इस प्रकार वर्णन मिलता है :

१. नास्मि (मैं नहीं हूँ)।
२. न मे (मेरा कुछ नहीं)।
३. नाहं (अहंकार नहीं है)।

अर्थात् इस स्थिति में अस्मिता, अहंकार और ममता का लोप हो जाता है। यद्यपि मोक्ष विवेक अथवा ज्ञान से होता है, किन्तु इस ज्ञानोदय के साथ अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश (भय) का नाश भी आवश्यक है। ये ही अनैतिक जीवन के आधार हैं। ये अशक्ति (आलस्य और प्रमाद) के कारण उत्पन्न होते हैं। अशक्ति अठाइस प्रकार की होती है। इनमें सत्तरह बुद्धि की अशक्तियाँ हैं और ग्यारह इन्द्रियों की। विवेक से ही अशक्ति का परिहार होता है। नैतिक जीवन से चेतना निर्मल और प्रबुद्ध होती है; अनैतिक जीवन से वह मलिन और धूमिल हो जाती है।

सांख्य के नैतिक विचारों पर उसके गुण-सिद्धान्त का बहुत प्रभाव है। विशेष गुणों के प्राधान्य के कारण सांसारिक प्राणी तीन प्रकार के होते हैं—(१) सात्त्विक (२) राजसिक और (३) तामसिक। देव-योनि में सत्त्व की प्रधानता होती है राजस् और तमस् की मात्रा कम। मानव-योनि में भी सत्त्व की प्रधानता बनी रहती है ,परन्तु उसमें रजस् और तमस् उतने दमित नहीं होते जितने देव-योनि में। पशुयोनि में सत्त्व की मात्रा में कमी हो जाती है और अन्य दो गुणों की मात्रा बढ़ जाती है। वनस्पति-जगत् में तमोगुण की प्रधानता होती है और दूसरे गुणों की मात्रा बहुत घट जाती है। जीवन में नीति का विकास क्रमशः सत्त्वगुण की वृद्धि और अन्य दो गुणों के ह्रास से होता है। दुःख रजोगुण की प्रधानता और उससे उत्पन्न राग-द्वेष-संघर्ष के कारण उत्पन्न होता है। जीवन में तीनों गुणों के मिश्रण, समन्वय, संघर्ष और प्राधान्य की प्रवृत्तियाँ चलती रहती हैं। विभिन्न गुणों की प्रधानता हमारे नैतिक चरित्र के स्तर को निर्धारित करती है। सतोगुण की प्रधानता से मनुष्य में विवेक, संतुलन और अन्तर्दृष्टि की वृद्धि होती है। रजोगुण अधिक होने से उद्वेग, अशान्ति और क्रियात्मकता बढ़ती है। तमोगुण की प्रधानता से अशक्ति, आलस्य, प्रमाद, अज्ञान, दुर्बलता, अक्षमता आदि की वृद्धि उत्पन्न होती है। ऋषि-मुनि, सन्त-महात्मा आदि में सत्त्व की प्रधानता होती है। सैनिक, राजनीतिज्ञ, कर्मठ और सशक्त व्यक्तियों में रजोगुण की प्रधानता पायी जाती है। आलसी, प्रमादी और मूढ़ लोगों में तम का आधिक्य होता है। गुण मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त रहते हैं, किन्तु वुद्धि में सतोगुण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

की प्रधानता, प्राण में रजोगुण की और स्थूल शरीर में तमोगुण की प्रधानता पायी जाती है।

नैतिक गुणों के विकास के लिए योग की आवश्यकता सांख्य में स्वीकार की गयी है। भावावेगों के दमन और बौद्धिक प्रक्रियाओं के नियमन से ही विवेक का उदय हो सकता है। इसके लिए यौगिक अभ्यास आवश्यक है। जब इन्द्रियों के संयम से मानसिक शान्ति मिलती है तब बुद्धि स्थिर, पारदर्शक और पुरुष के प्रकाश को प्रतिबिम्बित करने में समर्थ होती है। वेगों और वासनाओं के झोंके से ही बुद्धि अपनी सात्त्विक अवस्था से भ्रष्ट होती है। वाह्य पदार्थों के सम्पर्क के कारण चित्त में उत्पन्न मलिनता ध्यान से दूर होती है। जब चित्त अपनी मूल स्थिरता प्राप्त कर इच्छाओं और वासनाओं से अपने को मुक्त कर लेता है तब संसार के पदार्थ उसमें राग अथवा द्वेष नहीं उत्पन्न करते। जब सांसारिक पदार्थों का सम्यक हममें स्वार्थ भावना नहीं उत्पन्न करते तब हमें आध्यात्मिक शान्ति और सन्तुलन प्राप्त होते हैं। सामान्य मनुष्य के लिए अनासक्ति की यह स्थिति सरलता से नहीं प्राप्त होती। उसे किसी साधन और उपाय की सहायता लेनी पड़ती है। योग इसमें साधक तथा सहायक सिद्ध होता है।

४. योग-दर्शन

चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग का विषय है। यही वास्तव में नीति का भी मौलिक विषय है। चित्त के स्वरूप को जानना, उसकी वृत्तियों और भूमियों को समझना और अष्टाङ्ग योग द्वारा उसका निरोध करना योगदर्शन की कला और साधना है। जिसको सांख्यदर्शन महत् कहता है योग उसको चित्त कहता है। यह प्रकृति का प्रथम विकास है। इसमें बुद्धि, मन और अहंकार तीनों का समावेश है। यह प्रकृति के तीन गुणों—सत्त्व, रज और तम से प्रभावित होता है। उनकी प्रधानता के अनुसार इसकी भूमियाँ बदलती रहती हैं। द्रष्टा आत्मा के लिए चित्त दृश्य है। चित्त की दो अवस्थाएँ होती हैं—(१) कारणचित्त जो आकाश के समान व्यापक और विभु है और (२) कार्यचित्त जो जीव के शरीर के अनुसार अपना संकोच अथवा विस्तार करता है। योग का उद्देश्य कार्यचित्त को उसके कारण-अवस्था में लौटा ले जाता है।

योग-दर्शन में भी मोक्ष जीवन का परम पुरुषार्थ है जो विवेक से प्राप्त होता है। विवेक का उदय चित्त-वृत्तियों के निरोध से होता है। निरोध के द्वारा चित्त के वाह्य और अनावश्यक आरोपों और वेगों को हटाकर उसके अन्दर प्रवेश किया जा सकता है। अवस्था विशेष के कारण चित्त की कई भूमियाँ बन जाती हैं। जब चित्त रजोगुण के आधिक्य से भ्रान्त और व्याकुल होता है तब उसकी भूमिका

१. द्रष्टव्य साहित्य :—१. सांख्य सूत्र वृत्ति, (२) सांख्य प्रवचन भाष्य, (३) सर्व-दर्शनसंग्रह, अध्याय १४-१५, (४) एस. सी. बनर्जी, सांख्य फिलॉसॅफी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

को क्षिप्त कहते हैं। जव चित्त में तमोगुण की अधिकता होती है तो यह मूढ़ भूमिका में होता है। किसी सहज दोष अथवा आकस्मिक घटना से चित्त विक्षिप्त अवस्था में चला जाता है। इस अवस्था में वह प्रिय को पसन्द और अप्रिय को नापसन्द करता है। ये तीनों ही भूमियाँ मन की विकृत अवस्था के द्योतक हैं। जव एक विन्दु पर चित्त केन्द्रित होता है तव उसकी भूमिका एकाग्र होती है। इस भूमि में सत्त्व की प्रधानता होती है जव की प्रथम तीन भूमियों में रज और तम की। इस भूमि में चित्त ध्यान की उच्चतर उपलब्धियों के लिए तैयार होता है। इसकी अंतिम भूमि है निरुद्ध। इसमें विषयों के साथ चित्त का प्रवाह विलकुल वन्द हो जाता है। फिर भी सुषुप्त रूप में चित्त की वृत्तियों के संस्कार पड़े रहते हैं। योग ध्यान के द्वारा इनको भी समाप्त कर देता है। मन की इस संतुलित अवस्था की समाधि कहते हैं। नैतिक दृष्टि से स्वस्थ मनुष्य की यही सहज अवस्था है।

अष्टाङ्ग योग में समाधि की अवस्था में पहुँचने के लिए नैतिक साधना और तैयारी पर वहुत वल दिया गया है। योग के प्रथम दो अङ्ग (१) यम (निरोध) और (२) नियम (अनुष्ठान) है। प्रथम में प्रमुख पाँच नैतिक गुणों का समावेश है—(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह। इन गुणों में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है, क्योंकि अन्य गुण इसी के ऊपर आधारित हैं। अहिंसा का अर्थ है सर्वथा सर्वदा सर्वभूतों के प्रति अनभिद्रोह। अहिंसा का अर्थ केवल अवध नहीं परन्तु प्राणिमात्र के लिए अद्वेष है। अहिंसा केवल निषेधात्मक भी नहीं। अहिंसा के उपादान हैं मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा। इन्हीं के पालन से चित्त-प्रसादन उत्पन्न होता है। ईर्ष्या और द्वेष से मुक्ति और दूसरों के दुःख के प्रति निर्ममता का त्याग आवश्यक है। अपराध और पाप से द्वेष किया जा सकता है किन्तु अपराधी और पापी से नहीं। सामाजिक सामञ्जस्य के लिए अहिंसा की भावना उतनी ही आवश्यक है जितनी मानसिक स्वास्थ्य के लिए। इसी प्रकार सत्य (यथार्थ व्यवहार), अस्तेय (परसत्वापहरण का त्याग) ब्रह्मचर्य (यौन सम्पर्क का शारीरिक और मानसिक त्याग तथा शारीरिक और मानसिक शुद्धि) और अपरिग्रह (अनावश्यक संग्रह का त्याग) मन के निरोध के लिए आवश्यक माने गये हैं। इस प्रकार समाज में नैतिकता और मानसिक शान्ति का अभिन्न सम्वन्ध माना गया है। ये नैतिक गुण सार्वभौम उपयोगिता के हैं और सव पर समान रूप से लागू होते हैं। कर्मठ और ध्यानी दोनों के लिए ये श्रेयस्कर हैं। नियम के अन्तर्गत शौंच (शारीरिक और मानसिक पवित्ता), सन्तोष (यथालाभ प्रसन्नता), तपः (उद्देश्य प्राप्ति के लिए कठोर श्रम) और ईश्वर-प्रणिधान (ऐश्वर्य की भावना) सम्मिलित हैं। योगिक साधना करनेवाले सभी व्यक्तियों के लिए इन नियममों का पालन आवश्यक वतलाया गया है। इनके पालन से जीवन में अनासक्ति और वैराग्य का उदय होता है जो मानसिक संतुलन के लिए अनिवार्य है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनैतिक भावनाओं के निरोध का उपाय भी योगदर्शन बतलाता है। जब भी नैतिक सिद्धान्तों के भंग की प्रवृत्ति उत्पन्न हो तो तुरन्त उसके विपरीत उदात्त विचारों की भावना (प्रतिपक्ष-भावना) करनी चाहिए। आधुनिक चित्त-विकलन-शास्त्र ने मूल वासनाओं के संयम के तीन उपाय बतलाया है—(१) रक्षण-प्रतिक्रिया (२) भाव परिवर्तन और (३) वासनाओं का उदात्तीकरण। योगदर्शन प्रथम उपाय पर ही अधिक बल देता है क्योंकि इसके बिना दूसरे और तीसरे उपाय भी संभव नहीं। यदि वासना ने एक बार भी चित्त पर अधिकार कर लिया तो उसका परिवर्तन और उदात्तीकरण कठिन हो जाता है। इसलिए चित्तभूमि को कुवासनाओं से सुरक्षित रखना अनिवार्य है।

परिस्थितियों के भेद से मन का प्रवाह शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों की ओर जाता है। जब इसका प्रवाह विवेक और मोक्ष की ओर होता है तब इस बात का प्रमाण मिलता है कि यह शुभ की ओर जा रहा है। जब इसका इसका प्रवाह भ्रम, विक्षेप और बन्ध की ओर होता है तब इस बात की सूचना मिलती है कि यह अशुभ की ओर जा रहा है। चित्त के बाह्य और मानस कर्मों के चार प्रकार होते हैं—(१) कृष्ण (दूषित कर्म); जैसे दूसरों की निन्दा (बाह्य) और अश्रद्धा (मानस), (२) शुक्ल (शुभकर्म); जैसे प्रशंसा (बाह्य) और श्रद्धा (मानस), (३) शुक्ल कृष्ण (मिश्र गुणवाले); जैसे बाह्य कर्म जो सांसारिक उपयोगिता के होते हैं, परन्तु उनमें कुछ न कुछ दोष और बन्ध करने की शक्ति लगी रहती है और (४) अशुक्ल-कृष्ण (अनासक्ति और त्यागभाव से किये हुए कर्म जिनका शुभ और अशुभ कोई परिणाम नहीं होता और मनुष्य इनको लोक-संग्रह की दृष्टि से करते हुए भी बन्धन में नहीं पड़ता।[१]

५. मीमांसा-दर्शन

मीमांसा के अनुसार जीवन का उद्देश्य सुख है। परन्तु पूर्ण सुख अथवा शुद्ध सुख संसार में नहीं मिलता। परलोक अथवा स्वर्ग में ही अमिश्र और पूर्ण सुख मिल सकता है। किन्तु इस सुख के लिए इस संसार में आत्म-त्याग अथवा आत्म-बलिदान की आवश्यकता है। जिन क्रियाओं से दुःख अथवा हानि होती है वह धर्म नहीं। धर्म वह है जिसका वेद से विधान अथवा विधि हो और जिसके अनुष्ठान का फल सुख मिले। विधि का पालन न करने से केवल सुख से ही मनुष्य वञ्चित नहीं होता, अपितु दुःख का भी भागी होता है।

सदाचरण अथवा नीति का विधान धर्म के द्वारा होता है। मीमांसा दर्शन में धर्म की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है: "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।" अर्थात्

१. द्रष्टव्य साहित्यः—(१) योग सूत्र (व्यासभाष्य सहित), (२) योगसूत्र भोजभाष्यसहित), (३) दासगुप्त; योग एज़ फिलॉसॅफी एण्ड रेलिजन।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जो अर्थ (वेद की) विधि से प्राप्त होता है वह धर्म है। इसलिए धर्म का लक्षण चोदना, विधि अथवा प्रेरणा है। वास्तव में यह धर्म की विधिक परिभाषा है। जैमिनि-सूत्र के भाष्यकार शवर के अनुसार 'चोदना वह वचन है जिसके द्वारा क्रिया की प्रेरणा होती है।" कर्तव्य की प्रेरणा बाहरी स्रोत से होती है, क्योंकि कर्तव्य का बोध अपने से भिन्न शक्ति के द्वारा होता है। किन्तु 'चोदना' का एक दूसरा अर्थ भी प्रचलित है। यह है आन्तरिक प्रेरणा अथवा क्रिया की प्रवृत्ति। प्रायः देखा जाता है कि जिस क्रिया की बाहर से विधि मिलती है वह हृदय को भी पसन्द लगती है। इसी प्रकार शास्त्रीय विधान और व्यक्ति की इच्छाशक्ति में भी सामञ्जस्य पाया जाता है। भाष्यकारों का यह मत है कि शास्त्रों के विधान दुःख की अपेक्षा अधिक सुख उत्पन्न करने में समर्थ हैं। प्रायः विहित कर्मों से वांछनीय उद्देश्यों की प्राप्ति होती है।

पूर्व मीमांसा के नैतिक सिद्धान्त मूलतः श्रुति (वेद) के ऊपर अवलम्बित हैं। मीमांसा का उद्देश्य है धर्म अथवा नीति के स्वरूप का निरूपण करना। धर्म अथवा नीति का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं हो सकता, क्योंकि इसका कोई भौतिक आकार नहीं। इसका ज्ञान केवल श्रुति से ही हो सकता है। दूसरे प्रमाण विश्वसनीय नहीं, क्योंकि वे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, अनुमान आदि पर अवलम्बित हैं। यज्ञ करने से स्वर्ग मिलता है, इसका प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से नहीं मिलता। केवल वेद ही इसका प्रमाण है। मीमांसाकों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सम्पूर्ण वेद धर्म के ऊपर प्रमाण है। वैदिक पाठ के चार विभाग हैं—(१) (१) विधि (२) मंत्र (३) नामधेय और (४) अर्थवाद (व्याख्या, प्रशंसा आदि)। दूसरे प्रमाण उसी अंश तक उपयोगी हैं जिस अंश तक वे श्रुति के अनुकूल हैं और भ्रान्त विचारों का निराकरण करते हैं। धर्म अथवा नीति के गौण स्रोत स्मृति, सदाचार आदि हैं। परन्तु जहाँ श्रुति स्वतः प्रमाण है वहाँ स्मृति परतः प्रमाण है। मीमांसकों के अनुसार स्मृति का प्रत्येक वाक्य किसी न किसी श्रुति-पाठ पर आधारित है। जहाँ समानान्तर श्रुति-पाठ नहीं मिलता वे लुप्त आम्नाय की कल्पना कर लेते हैं। श्रुतिविरोधी स्मृति मान्य नहीं। जो स्मृति किसी स्वार्थ के उद्देश्य से बनायी जाती है उसका प्रामाण्य स्वीकार्य नहीं। स्मृति के पश्चात् शिष्टाचार अथवा सदाचार का स्थान है। किन्तु शिष्ट वे हैं जिनमें व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना न हो। जो कार्य केवल वासनाओं के वशीभूत होकर किये जाते हैं वे नैतिक नहीं माने जा सकते।

कर्तव्य कर्म के दो मुख्य प्रकार हैं—(१) नित्य (जिनका पालन नित्य अनिवार्य है; वर्णाश्रम धर्म का पालन नित्य के अन्तर्गत आता है। और (२) नैमित्तिक (जिनका अनुष्ठान विशेष अवसरों पर अनिवार्य है)। इन दोनों को बिना किसी फलाकांक्षा और शर्त के करना आवश्यक है। इनका अनुष्ठान न करने से प्रत्यवाय (पाप) होता है। वैकल्पित कर्म को मीमांसा दर्शन में काम्य कहा गया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विशेष उद्देश्य अथवा आकांक्षा की पूर्ति के लिए इनका अनुष्ठान किया जाता है, जैसे, स्वर्ग की कामना से अमुक अमुक यज्ञ करना चाहिए। जिनका कोई विशेष उद्देश्य न हो अथवा कोई व्यक्तिगत आकांक्षा न हो उनको काम्य कर्म करना आवश्यक नहीं। काम्य कर्म न करने से कोई दोष अथवा पाप नहीं लगता। निषिद्ध कर्मों का करना सर्वथा वर्जित है। इनसे दूर रहकर मनुष्य नरक में जाने से बँचता है। काम्य कर्मों के त्याग से बन्ध नहीं होता। निष्काम भाव से नित्य कर्मों को करने से मोक्ष प्राप्त होता है।

कर्मों के ऐच्छिक स्वरूप पर मीमांसा में पर्याप्त विचार हुआ है। प्रभाकर ने सिद्धान्त-मुक्तावली में ऐच्छिक कर्मों के निम्नांकित चरणों का निरूपण किया है: (१) कार्यताज्ञान (कर्तव्यकर्मों की चेतना), (२) चिकीर्षा (कर्तव्य कर्म करने की इच्छा; इसमें कर्तव्य कर्म करने की क्षमता (कृतिसाध्यता ज्ञान) भी सम्मिलित है) (३) प्रवृत्ति (कर्तव्य कर्म करने की रुझान), (४) चेष्टा (कर्तव्य कर्म करने के लिए शरीर के अंगों में स्फूर्ति) और (५) क्रिया (कर्तव्य कर्म का वास्तविक अनुष्ठान)। प्रभाकर ने शुभ-अशुभ के ज्ञान की अपेक्षा कर्तव्यबोध पर अधिक बल दिया है। मीमांसा कर्म करने में मानव स्वातन्त्र्य को स्वीकार करता है। कार्य-स्वातन्त्र्य के बिना व्यक्ति अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं हो सकता। उत्तरदायित्व के बिना नीति का प्रश्न खड़ा नहीं होता। कर्म-सिद्धान्त (कार्य-कारण का नित्य सम्बन्ध) कर्म-स्वातन्त्र्य का विरोधी नहीं है। कर्म-पथ पर प्रथम चरण रखने अथवा पथ-परिवर्तन का मनुष्य को स्वातन्त्र्य और अधिकार है। परन्तु एक बार जब चरण कर्म-पथ पर रख दिया गया तो इसके शुभाशुभ परिणाम का भोग अनिवार्य हो जाता है।

पूर्व मीमांसा के कर्म-काण्ड की आलोचना उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त-दर्शन में काफी हुई है। वेदान्त के अनुसार जो कार्य, चाहे वह कितना ही पवित्र क्यों न हो, यंत्रवत् किया जाता है और हमारी उदात्त भावनाओं को स्पर्श नहीं करता, वह जीवन के अंतिम ध्येय की दृष्टि से व्यर्थ है। अन्धविश्वास से किया हुआ कर्मकाण्ड कभी हानिकारक भी सिद्ध होता है। यदि सद्गुणों का उदय हृदय-परिवर्तन अथवा हृदय के संस्कार से होता है, तब सद्गुणों की प्राप्ति के लिए कर्म-काण्ड का बाह्य क्रिया-कलाप व्यर्थ है। नैतिक आचरण के लिए भौतिक यज्ञ नहीं किन्तु स्वार्थ आदि कुत्सित भावनाओं का बलिदान आवश्यक है। वेदों में जिन ऋत, सत्य, व्रत, श्रद्धा, तप आदि नैतिक सिद्धान्तों का उल्लेख है उनका भौतिक यज्ञ से अप्रत्यक्ष और दूर का सम्बन्ध है। भक्तिमार्गी सम्प्रदायों ने ईश्वर के प्रति सभी कर्मों के सम्पर्ण को ही यज्ञ माना और इसको श्रुतिसम्मत समझा। परवर्ती मीमांसकों में से कुछ ने इसे स्वीकार भी किया। लौगाक्षि भास्कर के अनुसार यदि कर्तव्य कर्म ईश्वरार्पण बुद्धि से किये जायँ तो वे मोक्ष-प्राप्ति में सहायक होते हैं। परन्तु जो कर्म-काण्ड इहलौकिक और पारलौकिक सुख की दृष्टि से किया जाता है वह बन्ध का ही कारण बनता है। मीमांसकों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

द्वारा भौतिक यज्ञों पर ही अधिक बल देने के कारण, मानव जीवन का अधिकांश उनके प्रभाव-क्षेत्र के बाहर रह जाता है।[1]

वेदान्त-दर्शन

१. अद्वैत

अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीवन का चरम उद्देश्य ब्रह्मानुभव अथवा ब्रह्मात्मैकत्व की अनुभूति है। यह अनुभव किसी माध्यम से नहीं होता। यह साक्षात् अथवा अपरोक्ष होता है। स्वतः अनुभूति की यह स्थिति है। फिर भी ज्ञान इसका निकटतम माध्यम है। और इस माध्यम का साधन है नैतिक जीवन। इस प्रकार जीवन की चरम उपलब्धि के लिए नीति साधनमात्र है; साध्य नहीं। यह होते हुए भी साधक यह अनुभव करता है कि अनन्त और सनातन ब्रह्म उसके सान्त व्यक्तित्व और सीमित संसार में व्याप्त हो रहा है। इस प्रकार मनुष्य का सम्बन्ध अनन्त और सान्त दोनों के साथ है। यद्यपि वह अपने अतीत कर्मों के कारण शरीर की सीमाओं से बद्ध है, तथापि उसमें सत्, चित् तथा आनन्द की न्यूनाधिक मात्रा में अभिव्यक्ति हो रही है। उसको यह भी अनुभव होता है कि अनन्त के ये स्फुलिङ्ग अपनी उच्चतम अभिव्यक्ति के लिए उसे प्रेरित कर रहे हैं। क्योंकि अनन्त ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानव में अन्य जीव-योनियों से अधिक होती है, वह कर्म और ज्ञान का अधिकारी है। इसीलिए मानव ही नैतिक जीवन का विषय है, अन्य जीवधारी नहीं। यद्यपि सभी नैतिक शुभकर्मों का सम्बन्ध गुणों के सीमित संसार के साथ है, तथापि जीवन के उच्चतम ध्येय की प्राप्ति के वे बहुमूल्य साधन हैं। जो नैतिक दृष्टि से शुभ है वह चरम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक है; जो नैतिक दृष्टि से अशुभ है वह उसकी प्राप्ति में बाधक।

नैतिक और अनैतिक आचरण का भेद वेदान्त में इस प्रकार किया गया है: जो आचरण सत्य के ऊपर आधारित है वह नैतिक है; जो असत्य पर आधारित है वह अनैतिक। वे सभी कर्म जिनके आचरण से उत्तरोत्तर मनुष्य का जन्म प्रबुद्ध योनियों में होता है और वह ब्रह्मज्ञान के अधिक निकट पहुँचता जाता है, नैतिक हैं। जो कर्म मनुष्य को तम से अभिभूत निम्न योनियों में ले जाते हैं वे अनैतिक हैं। इसलिए नैतिक आचरण के द्वारा मनुष्य अपने निगूढ ब्रह्मांश को परिष्कृत करता हुआ सतोगुण के विकास से देवत्व की ओर बढ़ता जाता है। संसार में परब्रह्म अपरब्रह्म अथवा ईश्वर का रूप धारण करता है। सम्पूर्ण चराचर उसी की सृष्टि है। अपरब्रह्म अथवा ईश्वर की प्रीति अथवा अनुभव के लिए

---

१. द्रष्टव्य साहित्य :—(१) जैमिनि : मीमांसा सूत्र (२) शबर : शाबर भाष्य (३) कुमारिल : श्लोकवार्तिक तथा तन्त्रवार्तिक, (४) मण्डनमिश्र: विधि-विवेक तथा मीमांसानुक्रमणी (५) प्रभाकर : बृहती (शाबरभाष्य के ऊपर टीका), (६) पी० शास्त्री: इन्ट्रोडक्शन टू पूर्वमीमांसा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सम्पूर्ण जगत् के सभी जीवों, समष्टि के प्रति, सद्भावना और सहयोग आवश्यक है। मनुष्य का नैतिक विकास अपने अहंकार, व्यक्तित्व तथा स्वार्थ के विस्तार से नहीं अपितु विश्वात्मा के सम्मुख इनके सम्पूर्ण समर्पण से ही संभव है। नैतिक जीवन के विकास में अहंकार और उससे उत्पन्न ममता और राग-द्वेष सबसे बड़े शत्रु हैं। सर्वानुभूति से उत्पन्न प्रेम, दया, करुणा, मैत्री आदि शुभ-भाव उसके विकास में सहायक हैं। अहंकार को दबाने के लिए इन्द्रिय-दमन, यम-नियम का पालन आवश्यक है। अभिमान के स्थान में विनम्रता, ममता और राग के स्थान में त्याग, क्रोध के स्थान में क्षमा, पुत्र-कलत्र-परिवार के प्रति आसक्ति के स्थान में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भाव बढ़ना चाहिए।

नैतिक साधन के रूप में शङ्कराचार्य ने सामाजिक कर्तव्यों और धार्मिक कृत्यों की उपयोगिता को स्वीकार किया है। इसी प्रकार शास्त्रों में निषिद्ध कर्मों को त्याज्य भी बतलाया है। वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप, व्रत, उपवास आदि से सत्त्व की शुद्धि होती है; सत्त्व-शुद्धि से चित्त की शुद्धि होती है और चित्त-शुद्धि से ज्ञान की प्राप्ति और वृद्धि होती है। शास्त्र-विहित कर्मों के करने से चरित्र को बल मिलता है, आत्मा पवित्र होता है और अन्तर्ज्ञान का उदय होता है। यह संभव है कि कुछ विशिष्ट सांस्कृतिक पुरुष पूर्वजन्मों के प्रारब्ध से बिना सामाजिक कर्मों के पालन के ही सत्य का साक्षात् कर लें, परन्तु सामान्य मानव के लिए सत्य का साक्षात्कार एक बारगी नहीं हो सकता है। वह सामाजिक, कौटुम्बिक और वैयक्तिक कर्तव्यों के पालन से क्रमशः सत्य और ब्रह्म के साक्षात्कार का पात्र बनता है। धर्म के पालन से अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की सिद्धि होती है। अभ्युदय के द्वारा सांसारिक सुख का विकास होता है; निःश्रेयस् के द्वारा सांसारिक सुख से उठ कर अन्तर्दृष्टि के साधन से ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। इसी प्रकार मंदिरों में देव पूजन से क्षणिक और सांसारिक वस्तुओं से ध्यान हटा कर सनातन और पारमार्थिक मूल्यों की ओर मनुष्य उन्मुख होता है। ईश्वर का ध्यान ब्रह्मज्ञान की ओर ले जाता है। भक्ति ज्ञान में परिणत हो जाती है। ज्ञान का प्रकाश उसी हृदय में होता है जो नीति और धर्म से पवित्र और परिष्कृत हुआ रहता है। यद्यपि आत्मा सर्वदा सर्वत्र व्याप्त है तथापि वह अनुभूति के द्वारा उसी हृदय में प्रतिभासित होता है जो शुभ कर्मों के द्वारा स्वच्छ दर्पण के समान निर्मल होता है।

अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के समान वेदान्त भी समाधि के द्वारा समाराधन अथवा पूर्ण सन्तोष के आनन्द (मोक्ष) के लिए यौगिक प्रक्रिया में नैतिक साधन की उपयोगिता मानता है। समाराधन की स्थिति में साधक सभी बाह्य वस्तुओं से इन्द्रियों को हटाकर उनमें प्रवहमान चित्त को अपने स्वरूप में केन्द्रित करता है। इसके बहिरंग साधन हैं यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह), नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान) आसन, प्राणायाम। समाराधन के अन्तरङ्ग साधन हैं प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। साधन-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पाद के अन्तर्गत ज्ञान के अन्तरङ्ग साधनों में शङ्कराचार्य ने निम्नलिखित की गणना की है :

(१) विवेक (नित्य-अनित्य, आत्म-अनात्म, शुचि-अशुचि में भेद),
(२) वैराग्य (सभी सांसारिक वस्तुओं और स्वार्थ में अनासक्ति),
(३) शम (शान्ति),
(४) दम (इन्द्रिय-दमन),
(५) उपरति (त्याग),
(६) तितीक्षा (सहनशक्ति, त्यागने की इच्छा),
(७) समाधि (चित्त का निरोध अथवा संतुलन),
(८) श्रद्धा (मन की दृढ़ता) और
(९) मुमुक्षा (मोक्ष की इच्छा)।

शाङ्कर वेदान्त के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के लिए किसी वर्ण अथवा जाति की उपेक्षा नहीं; अपनी साधना से कोई भी व्यक्ति—ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक—मोक्ष पा सकता है। फिर भी स्मार्त विचारों का शङ्कर पर प्रभाव था। वेदाध्ययन के लिए, वर्ण-व्यवस्था के अनुसार, द्विजातियों के विशेषाधिकार को वे मानते थे। किन्तु वे यह भी मानते थे कि जहाँ द्विजाति वेदाध्ययन से ज्ञान प्राप्त करते हैं वहाँ इतर वर्ण और जाति के लोग भक्ति, पूजा आदि के द्वारा पूर्ण आनन्द और मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। ब्रह्मवादी वेदान्त का यह सहज परिणाम था कि मोक्ष का द्वार मानव मात्र के लिए उन्मुक्त हो। शङ्कर यहाँ तक मानने को तैयार थे कि ब्राह्मण अथवा चाण्डाल कोई भी गुरु हो सकता है, यदि उसमें आध्यात्मिक अनुभूति हो : "दृश्य और नश्वर संसार में जिसने अद्वैत-दृष्टि प्राप्त कर ली है वह मेरा गुरु हो सकता है, चाहे वह चाण्डाल हो अथवा द्विज। यह मेरा दृढ़ विश्वास है।" परन्तु इस मान्यता पर भी स्मार्त प्रभाव था। उनके अनुसार यदि किसी शूद्र अथवा चाण्डाल में ज्ञान और आध्यात्मिक अनुभूति हैं तो यह इस बात का द्योतक है कि पूर्व जन्म में उसने वेदाध्ययन किया था, क्योंकि वेद ही ज्ञान का मूल स्रोत है। शङ्कर ने जिस प्रकार अपने दार्शनिक विचारों में अनेक मत-मतान्तरों के समन्वय का प्रयत्न किया उसी प्रकार विभिन्न वर्णों के सामाजिक और धार्मिक अधिकारों में भी सामञ्जस्य रखने की उन्होंने चेष्टा की।

वर्ण-व्यवस्था की तरह आश्रम-व्यवस्था को भी वेदान्त मानता है, किन्तु इसके अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के लिए सभी को संन्यास लेना आवश्यक नहीं। यहाँ बौद्ध और जैन सम्प्रदाय से वेदान्त का भेद स्तष्ट है। उपनिषदों में अनेक दृष्टान्त हैं जिनके अनुसार गृहस्थों ने ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था और उसका उपदेश औरों को दिया था। फिर भी संन्यास-आश्रम मोक्ष-प्राप्ति में सहायक माना गया है, क्योंकि मनुष्य इस आश्रम में सभी सांसारिक कर्मों और वन्धनों का त्याग कर देता है। वास्तव में संन्यास ब्रह्म-संस्था है, जिसमें मनुष्य सहज रूप से मोक्ष-मार्ग पर चलता है। अन्य आश्रमों में त्याग की दृष्टि प्राप्त करना कठिन होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

एक और कठिनाई अन्य आश्रमों के साथ लगी रहती है। अन्य आश्रमों में यदि उनके लिए विहित कर्मों का पालन न किया जाय तो दोष होता है; संन्यास में सभी कर्मों के त्याग से यह प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। जब कि अन्य आश्रमों में ज्ञान कर्म के साथ मिश्र होने से उतना प्रभाव नहीं उत्पन्न करता, संन्यास आश्रम का शुद्ध ज्ञान सरलता से मोक्ष का सहायक बनता है। पुराणों ने अपने कलिवर्ज्य के अन्तर्गत संन्यास को कलि में वर्जित कर दिया था। शङ्कर ने देखा कि इसके अभाव में आध्यात्मिक विनय और अनुशासन के लिए कोई शुद्ध संस्था सुलभ नहीं थी। अतः कलिवर्ज्य के नियम की अवहेलना कर शङ्कर ने पुनः संन्यास-आश्रम का प्रवर्तन किया। परन्तु बौद्ध विहारों के अनुभव के आधार पर संन्यासियों के मठों में स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध कर दिया। संन्यास-ग्रहण में वर्ण बाधक नहीं था; इसका द्वार सभी वर्ण और जाति के लिए खुला था।

मुक्त पुरुष पर नैतिक नियम लागू होते हैं अथवा नहीं इस प्रश्न पर भी विचार किया गया है। वैदिक चोदना—विधि और निषेध—का महत्त्व केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए है जो संसार-चक्र में अपने कर्मों के वशीभूत चलते रहते हैं। धर्मशास्त्र की आज्ञाएँ उनके लिए पथ-प्रदर्शन का काम करती हैं। किन्तु जिन्होंने सम्पूर्ण वासनाओं, व्यक्तिगत इच्छाओं और स्वार्थों का परित्याग कर दिया है; जो संसार के द्वन्द्वों से ऊपर उठ चुके हैं उनके लिए वैदिक विधि-निषेध और धर्म-शास्त्र तथा नीतिशास्त्र का कोई महत्त्व नहीं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मुक्तात्मा पुरुष अधार्मिक अथवा अनैतिक आचरण करता है। मुक्त पुरुष में अधर्म और अनीति प्रवेश ही नहीं कर सकते। जिन नैतिक आचरणों को सामान्य लोग शास्त्रीय प्रेरणा से करते हैं उसको मुक्तात्मा स्वेच्छा से करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मुक्तात्मा कर्म ही नहीं करता, क्योंकि वह व्यक्तिगत राग-द्वेष से कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। जो कर्म अविद्या, अस्मिता, राग और द्वेष से प्रेरित होते हैं वे मुक्तात्मा के जीवन में घटित नहीं हो सकते। मुक्तात्मा किसी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं और न किसी कर्म-फल का उसके ऊपर बन्धन। कभी-कभी इससे यह अर्थ निकाला जाता है कि मुक्तात्मा जडवत् रहता है और कोई सामाजिक अथवा सांसारिक कार्य नहीं करता। परन्तु शङ्कराचार्य की रचनाओं में बहुत ऐसे वक्तव्य हैं जिनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि मुक्तात्मा अनासक्ति और निःस्वार्थ भाव से, जब तक जीवित रहता है, सभी सामाजिक कार्य लोक-संग्रह के लिए करता रहता है। नैतिक नियमों से मुक्ति उसे अनैतिक नहीं बनाती और न तो उसे जड बनाती है। वह स्वतः प्रकाश (बौद्ध भाषा में आत्मदीप) होकर शुभ कर्म करता रहता है। वास्तव में जीवन्मुक्त की दो अवस्थाएँ होती हैं—(१) समाधि और (२) उत्थान। जब वह समाधि में प्रवेश करता है उस समय सम्पूर्ण संसार का उसके लिए विलय हो जाता है। परन्तु जब तक वह शरीर धारण करता है और समाज में रहता है तब तक उसके लिए निरन्तर समाधि संभव नहीं। अतः समाधि के अनन्तर उत्थान की स्थिति आती है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जब वह संसार और समाज के प्रति जागरूक हो जाता है। इस समय वह प्रवुद्ध होकर लोक-संग्रह के लिए सभी नैतिक आचरण करता है, जिससे कि सामान्य लोग उसका अनुसरण कर सकें।

अद्वैत वेदान्त और विशेष कर शाङ्कर वेदान्त के नैतिक पक्ष के ऊपर वहुत से आक्षेप किये जाते हैं। पहला आक्षेप वेदान्त के ब्रह्मवाद के सम्वन्ध में है। यदि सव कुछ ब्रह्म ही है और संसार का नानात्व अथवा वहुत्व मिथ्या है तो शुभ और अशुभ के वीच में कोई वास्तविक निर्णायक रेखा नहीं खींची जा सकती। यदि संसार को मिथ्या माना जाय तो शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, नीति-अनीति सभी मिथ्या हो जायेंगे। फिर अनैतिक जीवन से क्या आशंका? भ्रष्टाचार से क्यों न आनन्द उठाया जाय? फिर सदाचरण और लोक-संग्रह के लिए कष्ट-सहन की क्या आवश्यकता? परन्तु इस प्रकार के प्रश्न वेदान्त के सम्वन्ध में भ्रान्त धारणाओं पर अवलम्बित हैं। वेदान्त संसार को केवल पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या मानता है, व्यावहारिक दृष्टि से नहीं। सत्य की चार कोटियाँ हैं— (१) मिथ्या (जिसका नाम-मात्र है किन्तु कोई अस्तित्व नहीं, जैसे आकाश-कुसुम, शशश्रृंग आदि), (२) प्रातिभासित (भ्रान्ति के कारण अवास्तविक का किसी दूसरी मिलती-जुलती वस्तु पर आरोप), (३) व्यावहारिक (जो संसार के व्यवहार में आता है और इसलिए, जहाँ तक व्यावहारिक जगत् का सम्बन्ध है, वास्तविक है। परन्तु परमार्थ की अपेक्षा अवास्तविक है।) और (५) पारमार्थिक (जो सर्वदा, सर्वथा सत्य है और जिसके सन्दर्भ में प्रथम तीन कोटियाँ अवास्तविक हैं।) नीति का सम्बन्ध व्यावहारिक जीवन से है। व्यावहारिक जगत् में अद्वैत वेदान्त नीति की आवश्यकता स्वीकार करता है और इसे शुद्ध ज्ञान का साधन मानता है।

दूसरा आक्षेप ब्रह्म और जीवात्मा के अभेद के सम्बन्ध में है। यदि जीवात्मा वास्तव में ब्रह्म है और ब्रह्म पूर्ण, निर्गुण और निर्दोष है तो मनुष्य के नैतिक जीवन और उसके विकास का प्रश्न असंगत हो जाता है। यह आक्षेप भी भ्रम के ऊपर ही आधारित है। जब अद्वैत ब्रह्म और जीवात्मा के ऐक्य की वात करता है तब जीवात्मा से उसका उद्देश्य शुद्ध-बुद्ध आत्मा से है; संसार में वद्ध और मलिन आत्मा से नहीं है। जब तक मनुष्य अध्यास और अविद्या से प्रभावित अज्ञ, अपूर्ण और मलिन है; जव तक संसार का नानात्व और बहुत्व उसे वास्तविक प्रतीत होता है; जब तक अहंकार, ममता, राग-द्वेष उसके चित्त में बसते हैं, तव तक शुभ-अशुभ पाप-पुण्य, नीति-अनीति का प्रश्न मनुष्य के लिए वना रहता है। तब तक उसके लिए नीति आवश्यक है और नीति की उपयोगिता है। इन्द्रिय-ग्राह्य दृश्य पार्थिव व्यावहारिक जगत् में वेदान्त नीति और अनीति का भेद मानता है। ब्रह्म के सर्वात्मभाव से इसमें बाधा नहीं पड़ती। उदाहरणार्थ शङ्कर का कथन है: "अग्नि सर्वत्र एक है। फिर भी श्मशान में शव जलानेवाली अग्नि का स्पर्श नहीं किया जाता। सूर्य सर्वत्र एक ही है, किन्तु अपवित्र स्थान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पर पड़ी हुई सूर्य की किरण अस्पृश्य है, आदि।" सभी वस्तुएँ ब्रह्ममय हैं। परन्तु व्यावहारिक जगत् में कुछ वांछनीय और कुछ अवांछनीय हैं।

अद्वैत वेदान्त की नीति पर तीसरा आक्षेप यह है कि यह मूलतः बुद्धिवादी है; मनुष्य की भावना और उसके आचार से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वेदान्त के अनुसार मनुष्य का बन्ध अविवेक अथवा अविद्या के कारण होता है। सभी सांसारिक कर्मों और अनुभवों का भी कारण अविद्या अथवा मिथ्या ज्ञान है। विवेक, सम्यक् ज्ञान अथवा ब्रह्म और आत्मा की अभेद-बुद्धि से मोक्ष प्राप्त होता है। ब्रह्म और आत्मा का पार्थक्य अज्ञान-मूलक है। इसलिए जभी सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है पार्थक्य का मिथ्या बोध लुप्त हो जाता है। इससे बहुत से लोग यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जब सम्यक् ज्ञान ही मोक्ष का साधन है तो मनुष्य को मोक्ष के लिए नैतिक आचरण की क्या आवश्यकता। डॉयसन जैसा विद्वान् वेदान्त में नीति का मौलिक अभाव मानता है। किन्तु वेदान्त में नीति की अभाव-दृष्टि अविद्या और विद्या के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से न समझने के कारण है। शङ्कर के मत में अविद्या केवल एक तार्किक कल्पना मात्र नहीं है; यह सम्पूर्ण जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण है जो उसके प्रत्येक क्षेत्र और क्रिया को प्रभावित करता हैं। अविद्या से अस्मिता अथवा अहंकार (देहात्म बुद्धि), राग (आसक्ति, मेरे, तेरे का भाव), द्वेष (राग में जो बाधा उत्पन्न करे उससे शत्रुता) और अभिनिवेश (देह के विनाश का भय और इससे उत्पन्न हुई अनेक आशंकाएँ और जीवन की दुर्बलताएँ)। इस प्रकार अविद्या ही सभी सांसारिक अनर्थों का मूल है। इसी से स्वार्थ, राग-द्वेष, लोभ, मोह, संघर्ष, युद्ध, भ्रष्टाचार, अनाचार, अत्याचार आदि नैतिक दोषों का जन्म होता है। सम्पूर्ण स्वार्थवादी दृष्टिकोण अविद्या से उद्भूत है। सत्य-असत्य, नित्य-अनित्य, शुचि, अशुचि, आत्म-अनात्म आदि में जो भ्रम उत्पन्न होता है उसी से प्रेरित होकर मनुष्य संसार में अनैतिक कर्म करता है। वासनाएँ और कामनाएँ अविद्या से उत्पन्न होती हैं और कामनाओं से सांसारिक क्रियाएँ। विद्या और उसके द्वारा मोक्ष की स्थिति लाने के लिए सम्पूर्ण वासना और उससे प्रस्रवित क्रिया-कलाप को रोक कर चित्त का संतुलन स्थापित करना अनिवार्य है। वासनाओं और क्रियाओं का संयमन ही नैतिक जीवन है। सम्यक् ज्ञान नीति की सीढ़ियों से ही प्राप्त होता है। वह नीति का निषेध नहीं करता। वह उसके ऊपर उठ जाता है। चित्त का पूर्ण संतुलन और सम्यक् ज्ञान अविद्या के पूर्ण विनाश से ही होता है। कभी-कभी विद्या-अविद्या और ज्ञान-अज्ञान के चक्कर में पड़े बिना भी समाज में मनुष्य नैतिक आचरण करता हुआ दिखायी पड़ता है। परन्तु यह आकस्मिक और संयोग की बात है। उसके साथ सुषुप्त अविद्या लगी रहती है और वह कभी भी अनैतिक आचरण कर बैठता है। वह पूर्ण नैतिक तभी हो सकता है जब सुषुप्त अविद्या भी शान्त अथवा विनष्ट हो जाती है। मूढ़ और आसक्त व्यक्ति संयोग से नैतिक आचरण करता है; प्रबुद्ध, सन्त और महात्मा विवेक और सम्यक् ज्ञान से। नैतिक आचरण के लिए

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सम्यक् ज्ञान प्रदीप है। उसके प्रकाश में स्खलन और पतन की संभावना समाप्त हो जाती है।

वेदान्त के विरुद्ध सन्यासवाद, नैष्कर्म्य और तपोवाद का दोषारोपण भी किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि ये प्रवृत्तियाँ वेदान्त और विशेषकर शाङ्कर-वेदान्त में हैं। और ये प्रवृत्तियाँ उपनिषद्, बौद्ध और जैन युग से भारत में चली आ रही हैं। वेदान्त में अनेक स्थलों पर यह स्पष्ट कहा गया है कि इन्द्रिय ग्राह्य जगत् में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो सेवन करने योग्य है; अतः दृश्य जगत् के सभी पदार्थ त्याज्य हैं। जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि से कोई मुक्त नहीं। मृत्यु आज नहीं तो कल अवश्य आयेगी; सभी प्रिय व्यक्ति और पदार्थ नश्वर हैं। आत्मा के लिए यह 'संसार विराना है; यहाँ ठहरने का कोई आश्रय नहीं।' इसलिए जीवन की पूर्णता सम्पूर्ण त्याग में है। मनुष्य अपने उद्देश्य को तभी प्राप्त कर सकता है जब उसकी सम्पूर्ण वासनाएँ विनष्ट हो जाती हैं; उसके सुख-दुःख की संवेदना लुप्त हो जाती है। केवल सद्गुणों और बौद्धिक् विकास से आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य नहीं मिल सकता। इसलिए शरीर और संसार के प्रति अनासक्ति और आत्म बलिदान की भावना आवश्यक है। वेदान्त के इन्हीं उपदेशों के आधार पर यह कहा जाता है कि अद्वैत वेदान्त संसार का निषेध करता है; इसमें सामाजिक जीवन के विकास और कर्तव्य पालन के लिए कोई प्रेरणा नहीं है; यह संसार का सुधार नहीं त्याग चाहता है। इस आक्षेप का सबसे बड़ा उत्तर शङ्कराचार्य का स्वयं जीवन है जिसका एक-एक क्षण लोक-संग्रह में व्यतीत हुआ। बत्तीस वर्ष के जीवन में आसेतु-हिमाञ्चल सम्पूर्ण देश की यात्रा, देश-परिचय, शास्त्र और ज्ञान का प्रचार, मठों की स्थापना, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था—ये सभी लोक-संग्रह के कार्य थे; देश और समाज के प्रति कर्तव्य का पालन था। उन्होंने संसार का स्वयं त्याग इसलिए किया था कि वह संसार को अधिक से अधिक दे सकें। उनका त्याग संसार का त्याग नहीं किन्तु संसार में अपने अहंकार, ममता और स्वार्थ का त्याग था। वास्तव में संसार से पलायन अपने अहंकार और स्वार्थ के त्याग से सरल होता है। शङ्कराचार्य सरलमार्गी नहीं थे। उनका मार्ग तो "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया द्रुर्गं पथं तत्कवयो वदन्ति" था। उनके सन्यास, त्याग और तप का अर्थ है दुस्त्याज्य अहंकार और स्वार्थ का त्याग। यदि इसके लिए एकान्त, विश्राम और आरण्यक निवास की आवश्यकता है तो साधन रूप में इनको स्वीकार करना चाहिए। वास्तव में लोक-संग्रह भी वही कर सकता है जो अपने अहंकार और स्वार्थ का त्याग कर चुका हो; जिसका जीवन तपोमय हो; जो सर्वात्मा के प्रति अपना सम्पूर्ण समर्पण कर चुका हो। वास्तविक सन्यासी और त्यागी न तो संसार में आसक्ति रखता है और न इससे पलायन करता है; वह सम्पूर्ण त्यागभावना से लोक-मङ्गल में निरत रहता है। जो बिना त्याग और तपस्या के, केवल प्रवाह के वशीभूत होकर, सामाजिक सेवा का ढोंग करता है, वह अपने अहंकार और स्वार्थ से प्रेरित होकर भ्रष्टाचार और मिथ्याचार को ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जन्म देता है। सचमुच वह लोक-संग्रह का अधिकारी नहीं। उसको अपनी सीमा समझकर छोटे-मोटे व्यापार में लग जाना चाहिए।

वेदान्त पर अन्तिम आक्षेप यह है कि यह नैतिक मूल्यों—धर्म अथवा नीति—को जीवन का लक्ष्य न मानकर केवल साधनमात्र मानता है; उसके लिए अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। वास्तव में यह आक्षेप सही है। नैतिक गुणों और प्रभेदों की तभी तक सार्थकता है जब तक मनुष्य अपने को व्यक्ति—दूसरों से अलग—समझता है। वेदान्त के अनुसार नैतिक संसार जो कर्ता को समष्टि से भिन्न और स्वतन्त्र मानता है केवल छायामात्र है; कर्तव्य और अधिकार दोनों ही द्वन्द्वात्मक और विभक्तिवादी हैं। व्यक्तिवादी नीति अज्ञान और अहंकार के ऊपर आधारित है; वह प्रापञ्चिक और सांसारिक है। सामान्यतः जिसको हम नीति कहते हैं उसकी आवश्यकता व्यक्ति के सुधार के लिए होती है; परन्तु जब उसका पूर्ण सुधार हो जाता है तब उसकी आवश्यकता भी समाप्त हो जाती है। अतः नीति साधन-रूप ही है, साध्यरूप नहीं। जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति तो मोक्ष में ही संभव है, जहाँ व्यक्ति समष्टि में विलीन हो जाता है और नीति नियम अथवा विधि-निषेध न रहकर मानव का स्वभाव बन जाती है। मोक्ष में नीति का अभाव नहीं, किन्तु अन्तर्भाव है। परन्तु यह सच है कि वेदान्त के अनुसार नीति अन्तिम ध्येय नहीं, साधन-मात्र है; जीवन का अंतिम ध्येय तो मोक्ष ही है।[1]

२. विशिष्टाद्वैत

विशिष्टाद्वैत दर्शन के अनुसार भी जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष है। परन्तु अद्वैत वेदान्त में जहाँ मोक्ष का साधन ज्ञान है और ज्ञान की प्राप्ति के लिए कर्मद्वारा चित्त-शुद्धि आवश्यक है, वहाँ विशिष्टाद्वैत में मोक्ष के साधन भक्ति और प्रसाद हैं। विशिष्टाद्वैत में ज्ञान का तात्पर्य ध्यान और निदिध्यासन है। ध्यान के द्वारा इस बात का अनुभव करने से कि ईश्वर ही अपना अन्तरात्मा है और तात्त्विक दृष्टि से जीव उसी का अंश है, भक्ति की प्राप्ति होती है। यह अनुभव तब तक प्राप्त नहीं होता जब तक कि कर्म-फल का क्षय नहीं होता। जब तक स्वार्थ-बुद्धि से कर्म किया जाता है तब तक उसके कर्म-फल सञ्चित होते रहते हैं और जीव संसार से बद्ध रहता है। किन्तु जब कर्म अनासक्ति के साथ किया जाता है तो उसका फल सञ्चित नहीं होता और प्रारब्ध-कर्म के समाप्त होने पर सम्पूर्ण कर्म का क्षय हो जाता है। कर्म-काण्ड का फल नश्वर होता है; भक्ति के द्वारा ईश्वर-ज्ञान का फल अक्षय होता है। ईश्वरार्पण-बुद्धि से काम करने पर जीवन में उत्तरोत्तर सत्त्वगुण का विकास होता है और इससे मोक्ष में सहायता

---

१. द्रष्टव्य साहित्य :—(१) व्यास : ब्रह्मसूत्र (शङ्कर के शारीरक भाष्य के साथ), (२) गौडपाद : माण्डूक्योपनिषद् पर कारिका (३) विद्यारण्य : पञ्चदशी, (४) शङ्कराचार्य : गीताभाष्य, (५) डॉयसन : सिस्टम ऑफ् दि वेदान्त, (६) दासगुप्त : हिस्ट्री ऑफ् इंडियन फिलॉसॅफी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मिलती है। ज्ञान और कर्म दोनों ही भक्ति के सहायक हैं। भक्ति के द्वारा ही अहंकार और स्वार्थ का भेदन होता है; इससे इच्छा-शक्ति प्रबल होती है; ज्ञान को नया चक्षु मिलता है; और आत्मा को चिरंतन शान्ति का अनुभव होता है।

भक्ति की प्राप्ति के लिए धार्मिक और नैतिक साधना आवश्यक होती है। विशिष्टाद्वैत में विस्तार के साथ इस पर विचार किया गया है। साधना के मुख्य अङ्ग निम्नांकित हैं:

(१) विवेक (इन्द्रिय-विषयों का विचार-पूर्वक ग्रहण अथवा त्याग);
(२) विमोक (सभी सांसारिक वासनाओं का त्याग और ईश्वर में अत्यन्त आसक्ति);
(३) अभ्यास (ईश्वर का निरन्तर चिन्तन);
(४) क्रिया (परोपकार);
(५) कल्याण (सम्पूर्ण विश्व के प्रति हितकामना);
(६) सत्य (यथार्थ चिन्तन, वचन और कर्म);
(७) आर्जव (सरलता, चारित्रिक ऋजुता);
(८) दया (दूसरे के दुःख से द्रवित होना);
(९) अहिंसा (मनसा, वाचा, कर्मणा किसी को दुःख न देना);
(१०) दान (कोई पदार्थ देकर दूसरे की सहायता करना) और
(११) अनवसाद (प्रसन्नता और आशावादिता)।

यदि उपर्युक्त साधनों को देखा जाय तो इनसे स्पष्ट हो जायेगा कि भक्ति केवल भावातिरेक मात्र नहीं है; इसका विकास ठोस नैतिक और बौद्धिक आधार पर होता है। भक्ति ईश्वर का अनुभूति द्वारा ज्ञान और उसकी इच्छा के प्रति समर्पण दोनों है। क्योंकि सम्पूर्ण विश्व उसकी इच्छा का विलास है अतः भक्ति विश्व के साथ भावुक सामञ्जस्य और स्नेह उत्पन्न करती है। इसी भक्ति-भावना और भगवान् की अनुकम्पा की कामना से भक्त अपने जीवन को सरल और पवित्र बनाता है।

मोक्ष, भक्ति और नीति का घनिष्ठ और अभेद्य सम्बन्ध है। नैतिक गुणों से पवित्र मन में भक्ति का प्रादुर्भाव होता है और भक्ति प्रवर्द्धमान मोक्ष है। भक्ति का प्रत्येक क्षण मोक्ष का अनुभव कराता है। इसलिए मोक्ष के अन्य साधनों से भक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है। भक्ति स्वतः फलरूपा है। जब इसका उदय होता है तो मनुष्य का अहंकार, राग-द्वेष, स्वार्थ, भय आदि जो विकार मानस में शेष रहते हैं उनका पूर्ण क्षय हो जाता है। जिस प्रकार ज्ञानी प्रबुद्ध होकर ब्रह्म का साक्षात्कार करता है उसी प्रकार भक्त अपने शुद्ध हृदय में भगवान् का अनुभव करता है। भगवान् के साथ तन्मयता अथवा तादात्म्य उत्पन्न होने पर भक्त का अहंकार सम्पूर्ण रूप से खो जाता है। जीवात्मा चिन्मय भगवान् बन जाता है।

भक्ति-साधना के दो चरण हैं—(१) वैधी भक्ति और (२) मुख्या भक्ति।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वैधी भक्ति औपचारिक रूप से बाहरी क्रिया-कलापों द्वारा भगवान् की पूजा है। इससे मन की शुद्धि होती है और जीवात्मा के विकास में सहायता मिलती है। मुख्या भक्ति उपासना द्वारा सीधे विना किसी बाहरी साधन के ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण है। भगवान् ही भक्त के ध्यान का अन्तिम तत्त्व—ध्येय—है। भक्ति के इन दो चरणों को साधन-भक्ति और परा भक्ति भी कहते हैं। साधन भक्ति में शरीर, वचन और मन का संयम, स्वधर्म का पालन, स्वाध्याय और अनासक्ति आदि सम्मिलित हैं। परा भक्ति साक्षात् भगवान् की उपासना है। साधन-भक्ति साधन अथवा सहायक है जिसकी परिणति पराभक्ति के रूप में होती है।

रामानुज ने अपने गीता-भाष्य में पराभक्ति के चरम रूप प्रपत्ति का निरूपण किया है और मोक्ष का सबसे सफल साधन इसको बतलाया है। प्रपत्ति के जिन तत्त्वों का उन्होंने निरूपण किया है उनमें नैतिक जीवन का पूर्ण पालन स्पष्ट है : (१) आनुकूल्यस्य सम्पत्ति : (ईश्वर के प्रति समर्पण के योग्य पात्र बनने के लिए अनुकूल गुणों की प्राप्ति), (२) प्रातिकूल्यस्य वर्जन (प्रतिकूल गुणों का त्याग), (३) भगवान् के रक्षकत्व में विश्वास (रक्षयिष्यति इति विश्वासः), (४) रक्षक रूप में भगवान् का वरण (गोपतृत्व-वरणं), (५) कार्पण्य (ईश्वर के सामने अपनी तुच्छता का अनुभव और (६) आत्म-समर्पण (ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण समर्पण)। भक्ति और प्रपत्ति के भेद को उन्होंने स्पष्ट किया है। भक्ति में कर्म और ज्ञान की आवश्यकता होती है, जो सबके लिए सुलभ नहीं होते; प्रपत्ति में किसी गुरु के उपदेश से कोई भी सीधे अपने को भगवान् के प्रति समर्पित कर सकता है। प्रपत्ति को लेकर दाक्षिणात्य और औदीच्य सम्प्रदायों में भेद है। दक्षिण में आळवार भक्तों की परम्परा में यह माना जाता है कि प्रपत्ति ही केवल मोक्ष का एकमात्र साधन है; दूसरे कर्म, ज्ञान आदि की कोई उपयोगिता नहीं। उत्तर के भक्तों की यह मान्यता है कि प्रपत्ति के पूर्व रूप में मानव पुरुषार्थ—कर्म, ज्ञान आदि—की आवश्यकता है। दक्षिण के भक्त प्रपत्ति में मार्जार-किशोर-न्याय मानते हैं, अर्थात् जिस प्रकार मार्जार (बिल्ली) का बच्चा कोई प्रयास नहीं करता और उसकी माँ जहाँ चाहती है उसे उठा ले जाती है उसी प्रकार जब भक्त अपना प्रयास छोड़कर भगवान् के प्रति समर्पण कर देता है तब भगवान् उसके सम्पूर्ण योग-क्षेम का भार अपने ऊपर ले लेता है। उत्तर के भक्त कपि-किशोर-न्याय को मानते हैं, अर्थात् जिस प्रकार वन्दरिया उसी बच्चे को ढोती है जो उससे चिपटा रहता है उसी प्रकार भगवान् भी उन्हीं के योग-क्षेम का भार वहन करते हैं जो कर्म, ज्ञान के पुरुषार्थ द्वारा उनको पकड़े रहते हैं। इस प्रकार दक्षिण के भक्तों में भक्ति का अतिरेक स्पष्ट है।

आगे चलकर भागवत सम्प्रदाय में भक्ति का अनियंत्रित और अतिरंजित रूप दिखायी पड़ता है। मानव हृदय में धार्मिक चेतना और भक्तिभाव उत्पन्न करने का यह नया साहसिक प्रयोग था। इसका आधार था उल्लास और आनन्द। भागवत के अनुसार भक्ति मानव-हृदय में उछलता हुआ निर्झर है जो उसके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सम्पूर्ण व्यक्तित्व को स्पंदित, पुलकित और आप्लावित कर देता है। जब मनुष्य में भक्ति का उदय होता है तो शरीर में हर्ष, वचन में मौन और चेतना में लय का अनुभव होता है। इस स्थिति की प्राप्ति के लिए यज्ञ-याग आदि कर्मों की कोई आवश्यकता नहीं; भगवान् के प्रति केवल प्रेम की आवश्यकता है जो स्वयं फलरूप है; प्रेम करके फिर किसी दूसरे फल की आकांक्षा नहीं रह जाती। भगवान् सभी के लिए सुलभ है। भक्त उससे तादात्म्य स्थापित कर सकता है। किन्तु तादात्म्य-भक्ति से सायुज्य-भक्ति श्रेष्ठ है, जिसमें भक्त भगवान् के साथ प्रेम का आनन्द ले सकता है। भागवतों ने भक्त और भगवान् के बीच अत्यन्त कोमल और सरस मानव सम्वन्ध की कल्पना की। भगवान् भक्त के प्रेम-पाश में पड़कर स्वतंत्र नहीं रह जाता; वह भक्त-पराधीन हो जाता है; भक्तों के अतिरिक्त उसका कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। इस सम्प्रदाय में कृष्ण-पूजा की प्रधानता हुई। कृष्ण और उनकी अनन्य भक्ता गोपियों के रूपक से प्रेमा भक्ति का निरूपण किया गया। परवर्ती सभी भागवत सम्प्रदाय इस कृष्ण-गोपी भाव से अनुप्राणित और प्रभावित हुए।[१]

२. सामाजिक नीति

समाज और नीति का आधार-आधेय सम्बन्ध है। सामाजिक परिस्थितियाँ नीति को प्रभावित करती हैं और नैतिक सिद्धान्त सामाजिक जीवन को अनुप्राणित और प्रभावित करते हैं। भारतीय इतिहास में दोनों प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ से काम करती हुई दिखायी पड़ती हैं। सामाजिक संस्थाओं के उदय, विकास और ह्रास में सामाजिक नीति का क्रमिक इतिहास पाया जाता है। यहाँ पर कुछ मुख्य सामाजिक संस्थाओं को लेकर ही उनके नैतिक पक्ष पर विचार किया जायेगा।

प्राचीन भारत में जिन दो स्तम्भों पर सामाजिक जीवन का संघटन किया गया था, वे हैं—(१) वर्ण और (२) आश्रम। वर्ण का अर्थ है अपनी प्रकृति अथवा स्वभाव के अनुसार, अपनी सामाजिक परिस्थिति में, अपने व्यवसाय का चुनाव। इस चुनाव में व्यक्तिगत स्वार्थ और महत्त्वाकांक्षा का प्रश्न नहीं है। इसका आधार है सामाजिक समष्टि का बोध, सामाजिक उपयोगिता और लोकहित। वैसे समाज के सहज विकास में अचेतन रूप से 'प्राकृतिक श्रम-विभाजन' के सिद्धान्त के अनुसार कई वर्गों में समाज का विभाजन अपने आप हो जाता है। किन्तु यदि इसके पीछे कोई नैतिक सिद्धान्त न हो तो यह वर्गगत बँटवारा घोर

---

१. द्रष्टव्य साहित्य :—(१) व्यास : ब्रह्मसूत्र (रामानुज के श्रीभाष्य के साथ), (२) रामानुज : गीताभाष्य, (३) गोविन्दाचार्य : यतीन्द्रमत दीपिका, (४) सर्वदर्शन-संग्रह, अध्याय ४।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, व्यक्तिगत स्वार्थ और महत्त्वाकांक्षा, सामाजिक संघर्ष और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भयानक सैनिक विध्वंस का रूप धारण करता है। भारतीय समाज में भी प्राकृतिक वर्ग, अनेक जातियाँ और उपजातियाँ पहले से वर्तमान थीं, परन्तु सामाजिक चिन्तन से उत्पन्न नैतिक सिद्धान्तों ने उनको एक नया आधार और नयी मान्यता दी। सबसे पहले ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में चारो वर्णों—(१) ब्राह्मण, (२) राजन्य (क्षत्रिय) (३) वैश्य और (४) शूद्र—की उत्पत्ति का वर्णन रूपक के द्वारा किया गया है। सम्पूर्ण विश्व की कल्पना एक विराट् अथवा विश्व-पुरुष के रूप में की गयी है। संसार में जो कुछ भी है वह उसके अन्तर्गत है; किन्तु विराट्-पुरुष महान् होने के कारण संसार में व्याप्त होकर भी उससे कहीं बड़ा और अतिरेकी है। चारो वर्ण इसी विराट्-पुरुष के अंगभूत हैं। ब्राह्मण की उत्पत्ति विराट्-पुरुष के मुख से, राजन्य (क्षत्रिय) की भुजाओं से, वैश्य की जंघाओं से और शूद्र की पावों से बतायी गयी है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि समाज अथवा सम्पूर्ण विश्व की कल्पना यहाँ सावयव है; अपने अपने स्थान में सभी अवयव उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हैं; इनमें ऊँच-नीच का कोई भाव नहीं। सामाजिक कर्तव्य-पालन और व्यवहार में ये एक-दूसरे के सहयोगी हैं, प्रतियोगी नहीं। इस व्यवस्था में समष्टिगत भावना के आधार पर सहकारिता और सहयोग की प्रवृत्ति से प्रतियोगिता, संघर्ष और अशान्ति के स्थान पर सामाजिक सामञ्जस्य और सामाजिक शान्ति की भूमिका प्रस्तुत होती है।

उपर्युक्त मूल सामाजिक न्याय को दार्शनिक आधार भी देने का प्रयास किया गया। सांख्यदर्शन के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि (जिसके अन्तर्गत मानव समाज भी है) तीन गुणों—(१) सत्त्व (२) रज और (३) तम से निर्मित और संचालित होती है। सामाजिक व्यक्ति भी इन्हीं गुणों से निर्मित और संचालित हैं। जिन व्यक्तियों में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है वे ब्राह्मण, जिनमें रजोगुण की प्रधानता होती है वे क्षत्रिय, जिनमें रज-तम की प्रधानता होती है वे वैश्य और जिनमें तमोगुण की प्रधानता होती है वे शूद्र होते हैं। सृष्टि के धारण में तीनों गुणों की आवश्यकता होती है। उनके समवेत (साथ-साथ गुणित) होने से ही सृष्टि-चक्र संचालित होता है। समाज के इस दार्शनिक विभाजन में भी ऊँच-नीच का कोई भाव नहीं, क्योंकि इसमें तीनों गुणों की स्थिति और उपयोगिता स्वीकार की गयी है।

वर्ण-व्यवस्था के उद्‌गम पर विचार करते हुए कतिपय विद्वानों ने इसका आधार प्रजातीय माना है। उनके मत में वर्ण का मूल अर्थ है 'रंग'। आर्य और आर्येतर लोगों में रंग-भेद था; आर्य गोरे और आर्येतर भारतीय काले थे। यद्यपि इस मान्यता से किसी अंश तक आर्य और शूद्र के बीच रंगभेद की व्याख्या हो भी जाती है, परन्तु द्विजाति—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के बीच वर्ण-भेद की व्याख्या नहीं हो सकती। वास्तव में वर्ण का मूल अर्थ 'वरण' अथवा चुनाव (वृत्ति और व्यवसाय का चुनाव) ही है; जहाँ इसका अर्थ 'रंग' है वहाँ यह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रतीकात्मक है, जैसे, श्वेत रंग सत्त्वगुण, रक्त रंग रजोगुण और काला रंग तमोगुण का द्योतक है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि जब आर्यों का प्रसार आर्यावर्त के बाहर हुआ अथवा जब आर्येतर जातियाँ ऐतिहासिक कारणों से आर्यावर्त में आने लगीं तो आर्यों के सम्मुख यह प्रश्न उठा कि आर्येतर जातियों का आर्यों के साथ किस प्रकार समाजीकरण किया जाय। और देशों—प्राचीन यूनान, रोम आदि और आधुनिक अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि—में श्वेत जातियों ने रंगीन जातियों के साथ तीन प्रकार की नीति का व्यवहार किया—(१) जहाँ संभव हुआ वहाँ विजित रंगीन जातियों को समूल नष्ट करने का प्रयास, (२) जहाँ विजित जातियों की उपयोगिता श्रम के लिए थी वहाँ उनका दासीकरण और (३) जहाँ प्रथम दो नीतियों का व्यवहार संभव नहीं था वहाँ उनके प्रति अत्यन्त वर्जनशीलता का व्यवहार। यह नीति स्पष्टतः अनुदार और अमानुषिक थी। भारतीय आर्यों ने इससे भिन्न और उदारनीति का व्यवहार किया। प्रजातीय भाव को एक साथ समूल नष्ट करना तो संभव नहीं था। परन्तु उन्होंने आर्येतर तत्त्वों का अधिकाधिक समाजीकरण किया। उन्होंने आर्येतर तत्त्वों को विभिन्न वर्णों, विशेषकर शूद्र-वर्णों, में सम्मिलित कर लिया। कुछ वन्य और अति असभ्य और अशुचि जातियों (चाण्डाल आदि अन्त्यज़) को छोड़कर सभी को समाज का अंग बना लिया। अनुलोम और कभी-कभी प्रतिलोम विवाहों द्वारा आर्य और आर्येतर प्रजातियों का प्रचुरमात्रा में सम्मिश्रण हुआ। थोड़ी बहुत वर्जनशीलता भी थी, किन्तु विवाह और भोजन को छोड़कर अन्य सामाजिक व्यवहारों में इससे कोई बाधा नहीं उत्पन्न होती थी।

वर्ण-विभाजन के होते हुए भी, आधुनिक युग के पहले, वर्णों में परस्पर कटुता और विद्वेष नहीं था; उनमें परस्पर अन्योन्याश्रय, सद्भावना और सहकारिता का व्यवहार था। इसके कई कारण थे। एक तो समाज में वर्ण-विभाजन आधारवत् था, लम्बवत् नहीं, अर्थात् वर्णों का विभाजन सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से क्रियात्मक और श्रमगत था; इसमें सभी वर्ण अपने अपने स्थान में महत्त्वपूर्ण थे; उनमें ऊँच-नीच का भाव नहीं था। दूसरे वर्ण-व्यवस्था में कठोरता आने पर भी वर्ण का परिवर्तन संभव था—पहले एक ही जीवन में पुनः विवाह-सम्बन्ध द्वारा कई पीढ़ियों में और फिर जन्मान्तर में उत्तरोत्तर शुभकर्मों द्वारा। तीसरे किसी वर्ण में जन्म लेना किसी पूर्व जन्म के कर्मों का फल माना जाता था और पुनः कर्मद्वारा वर्ण-परिवर्तन में विश्वास था। चौथे जीवन के चरम लक्ष्य निःश्रेयस् अथवा मोक्ष अथवा भक्ति अथवा भगवत्कृपा प्राप्त करने के लिये स्वधर्म अर्थात् वर्ण-धर्म का पालन आवश्यक और पर्याप्त समझा जाता था। पाँचवें, समाज में आदर किसी वर्ण में जन्म लेने से नहीं अपितु शील और चरित्र के कारण होता था महाभारत (वनपर्व, नहुषोपाख्यान) में, युधिष्ठिर और यक्ष के संवाद के रूप में एक सुन्दर कथा है। यक्ष ने जाति के सम्बन्ध में युधिष्ठिर से प्रश्न किया। उत्तर निम्नांकित है:

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

"हे महामति सर्प, जाति (शब्द) का प्रयोग मनुष्यत्व में होता है। ऐसा मेरा मत है कि सभी वर्णों के (निरन्तर) मिश्रण से जाति (प्रजाति) दुष्परीक्ष्य है। (सभी जाति के) पुरुष (सभी जाति की) स्त्रियों से सन्तान उत्पन्न करने आये हैं। इसलिए जो तत्त्वदर्शी हैं वे शील (चरित्र) को ही प्रधान मानते हैं।"[१]

आश्रम-व्यवस्था ने भी सामाजिक नीति को दृढ़ किया। अपनी जीविका के लिए तो सभी श्रम करते हैं। किन्तु जब तक इसके साथ कोई सिद्धान्त और आदर्श नहीं है तब तक जीविकार्थी श्रमिक है। जब वह समाज अथवा समष्टि की दृष्टि से सम्यक् प्रकार से काम करता है तब वह आश्रमी बन जाता है। मानव समाज और पाशव समूह में यही मौलिक भेद है। सभ्य समाज में आश्रम-व्यवस्था के द्वारा मानव जीवन का संस्कार होता रहता है। वास्तन्व में वर्ण-व्यवस्था का आधार मानव-प्रकृति है और आश्रम-व्यवस्था का आधार मानव संस्कृति है। चार आश्रमों—(१) ब्रह्मचर्य (२) गार्हस्थ्य (३) वानप्रस्थ और (४) सन्यास—के द्वारा सम्पूर्ण मानव जीवन का उत्तरोत्तर संस्कार (परिष्कार और उन्नयन) होता है। चारो वर्णों के लोग समष्टि के लिए ही जब अपने जीवन का संस्कार करते हैं तब वे आश्रमी कहलाते हैं; जब वे अपने स्वार्थ के लिए श्रम करते हैं तो श्रमिक। जो केवल अपने आत्मिक कल्याण (महान् स्वार्थ) के लिए तपस्या करते हैं वे श्रमण हैं आश्रमी नहीं। इस प्रकार सिद्धान्ततः वर्ण और आश्रम-व्यवस्था के द्वारा सामाजिक संतुलन और न्याय दृढ़ बना रहता था।

भारत में एक दूसरी सामाजिक संस्था जाति थी, जो ऐतिहासिक दृष्टि से वर्ण से भी पुरानी थी। वर्ण वैचारिक संस्था थी; जाति ऐतिहासिक। वर्ण का आधार था 'वरण' (चुनाव) किन्तु जाति का आधार था 'जाति' (जन्म)। इन दो संस्थाओं में मौलिक भेद था। एक बल देती थी प्रकृति (गुण-स्वभाव) के आधार पर वृत्ति (व्यवसाय) के चुनाव पर; दूसरे का निर्धारण होता था विवाह और भोजन के आधार पर। वर्ण-व्यवस्था ने बहुत सीमा तक जाति के प्रभेदों और विषमता को दूर करने का प्रयास किया। परन्तु वैचारिक संस्थाओं को चलाने के लिए ज्ञान और तपस्या (त्याग-बलिदान) की आवश्यकता होती है। जब इनका अभाव होता है तो वैचारिक संस्थाएँ शिथिल पड़ जाती हैं। जाति का आधार प्राकृतिक रक्त-सम्बन्ध है। इसकी ओर सहज प्रवृत्ति होती है; इसको चलाने के लिए विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं। इसीलिए यह बीच-बीच में प्रबल होकर वर्ण-व्यवस्था को दबा देती है। जाति जब प्रबल होती है तब सामाजिक नीति क्षीण हो जाती है।

---

१. जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
संकरत्वात्सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयंति सदा नराः।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः॥ महाभारत, वनपर्व, अध्याय १८०

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भारत का सम्पूर्ण सामाजिक इतिहास वर्ण और जाति के बलाबल और पारस्परिक संघर्ष तथा सामञ्जस्य का है। जब वैचारिक वर्ण की प्रधानता होती है तो समाज में संतुलन स्थापित हुआ है। जब रक्त-सम्बन्ध पर आधारित जाति की प्रधानता होती है तो यह संतुलन शिथिल हो जाता है। वैदिक युग में महान् सामाजिक सत्य का साक्षात्कार हुआ जिसके अनुसार सभी मानव विराट् पुरुष के अभिन्न अङ्ग माने गये; सभी वर्ण और वर्ग अपने स्थान में महत्त्वपूर्ण, परस्परोपयोगी और विश्व-शरीर (समष्टि) के पोषक घोषित हुए। यजुर्वेद में इस बात की घोषणा की गयी कि 'वेदों की कल्याणी वाणी सम्पूर्ण जनता के लिए है—ब्राह्मण, राजन्य, (क्षत्रिय) के लिए; अर्य (वैश्य) और शूद्र के लिए है।'[१] परन्तु धीरे-धीरे समाज में निहित स्वार्थों के उदय के कारण वर्ण-भेद, सामाजिक शोषण और सामाजिक अन्याय की प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ने लगीं। उत्तर वैदिक काल में ये प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होने लगीं। ऐतरेय ब्राह्मण[२] के अनुसार क्षत्रिय समाज का केन्द्र है जिसके चारों ओर समाज घूमता रहता है; ब्राह्मण सोम पीनेवाला और इच्छानुसार विचरण करनेवाला है। वैश्य दूसरे का खाद्य है। शूद्र दूसरे की सेवा करनेवाला; कामोत्थाप्य (इच्छानुसार प्रेष्य) और यथाकामवध्य (इच्छानुसार वध करन योग्य = निलम्वित अथवा कार्यमुक्त करने योग्य)। रामायण में आदर्श पुरुष (= मर्यादा पुरुष) राम के चरित्र का वर्णन है और वर्णाश्रम का महत्त्व बतलाया गया है। परन्तु बीच-बीच में प्रजातीय तत्त्व उभड़ा हुआ मिलता है। शम्बूक-वध की कथा राम के आदर्श चरित्र में इसी भावना का अवशेष है। महाभारत के युग में अन्तर्जातीय, अन्तरजातीय और प्रजातीय सभी प्रकार के सामाजिक संघर्ष उत्पन्न हो गये थे। इसीलिए भगवान् कृष्ण को वर्ण-व्यवस्था के वास्तविक स्वरूप—गुण कर्म-विभाग—को पुनः दुहराना पड़ा और वर्णों के स्वधर्म (कर्तव्यों) की घोषणा करनी पड़ी।[३] यह संतुलन कुछ समय तक चला परन्तु बौद्ध धर्म के उदय के पूर्व यह पुनः भग्न हो गया। वर्ण ने प्रायः जाति का रूप धारण कर लिया। इसलिए सुधारवादी—धर्मों ने वर्ण के जन्मगत आधार को चुनौती दी और वर्णों की नयी परिभाषा स्थापित की। परन्तु सामाजिक विषमता और प्रजातीय भावना का इस समय भी लोप नहीं हुआ। बौद्ध और जैन वर्ण-गणना के अनुसार ब्राह्मण के बदले क्षत्रिय-वर्ण प्रथम हो गया और उसका जात्याभिमान बहुत बढ़ गया। जैन साहित्य में तो यहाँ तक मिलता है कि भगवान् महावीर पहले ब्राह्मणी के गर्भ में आय, किन्तु क्योंकि तीर्थङ्कर का जन्म ब्राह्मणी के गर्भ से नहीं हो सकता इसलिए वे क्षत्रिय त्रिशला के गर्भ में स्थानान्तरित हुए। वर्ण और आश्रम पर सुधारवादी धर्मों के कड़े आघात हुए; पारसीक, यवन आदि आक्रमणकारियों ने इसकी अवहेलना और विरोध

१. यजुर्वेद २.२६
२. ऐतरेयब्राह्मण, ७, २९.४।
३. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। गीता, ४.१३।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

किया। इसका परिणाम यह हुआ कि वर्ण और आश्रम के ऊपर आधारित जो सामाजिक मूल्य थे वे अस्त-व्यस्त हो गये और उनके स्थान पर किसी स्थायी मूल्य की स्थापना नहीं हुई। इसके पश्चात् सामाजिक मूल्यों का दूसरा अध्याय प्रारम्भ हुआ। शुङ्ग-काल (द्वितीय शती ई० पू०) में मनुस्मृति का जो संस्करण प्रस्तुत हुआ उसमें समाज के सभी तत्त्वों को एक सामाजिक व्यवस्था में बाँधने का प्रयास किया गया। समाज में वैदिक परम्परा को माननेवाला पुरातनवादी तत्त्व था ही; देश के भीतर सुधारवादी तत्त्व भी प्रचुरमात्रा में था; बहुत-सी विदेशी जातियाँ देश के भीतर आकर वस गयी थीं। इन सव को एक सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत लाना था। एक विशाल और उदार सामाजिक संघटन की आवश्यकता थी जिसके अन्तर्गत सभी विभिन्न तत्त्वों का समावेश हो सके। मनुस्मृति में इस बात का उद्घोष किया गया कि समाज में केवल चार ही वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र—गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार हैं; पाँचवाँ कोई वर्ण नहीं।[१] इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी व्यक्ति वर्णेतर अथवा वर्णवाह्य नहीं। विभिन्न तत्त्वों के समाजीकरण का एक बहुत वड़ा सिद्धान्त स्वीकृत किया गया। विदेशी जातियाँ (जो अधिकांश सैनिक थीं) व्रात्य क्षत्रियों के रूप में स्वीकार की गयीं। बौद्ध तथा जैन मतावलम्वियों का वर्ण नष्ट नहीं माना गया; वे भी केवल व्रात्य ही माने गये। दोनों ही प्रकार के व्रात्य व्रात्य-स्तोम आदि वैदिक यज्ञ करके वैदिक वर्ण-व्यवस्था में सम्मिलित हो सकते थे। अगणित आर्येतर जातियाँ और हीन-व्यवसायी वर्ग वर्ण-संकर के अन्तर्गत परिगणित कर लिए गये। आजकल वर्ण-संकर एक भड़कानेवाला शब्द है। परन्तु इसका मूल अर्थ 'मिश्र वर्ण' है। इसके द्वारा सभी आर्येतर जातियाँ वर्ण के अन्तर्गत स्वीकार कर ली गयीं। इस मान्यता और व्यवसाय का उद्घोष संसार के अन्य देशों में, जहाँ विभिन्न जातियों जा सम्पर्क हुआ है, नहीं पाया जाता है। अन्यत्र प्रजातीय वर्जनशीलता अत्यधिक मात्रा में पायी जाती है।

महाभारत और मनुस्मृति के मुख्य अंशों में सामाजिक संघटन की जो व्यवस्था की गयी है वह संसार के अन्य देशों की अपेक्षा उदार और न्यायसंगत है।

---

१. वर्णाश्रम धर्म अथवा नीति का विवेचन और पुनर्स्थापन ही मनुस्मृति का मुख्य उद्देश्य था, जो मौर्यशासन और विदेशी सम्पर्क-संघर्ष के कारण आवश्यक हो गया था। इसके पहले महाभारत के अनुशासनपर्व (४७. १७-१८) में भी इयी तत्त्व का उद्घोष हुआ था :

स्मृताश्च वर्णाश्चत्वारः पञ्चमो नास्ति गम्यते।
गोप-कृष्णस्य लोमकूपेभ्यः सद्यो गोपगणो मुनेः।
आविबभूव रूपेण वेशेनैव च तत्समः।। ब्र. वै. ५।४१
योगेन–अमृतइष्टचा च कृपया च कृपानिधिः।
गोपीभिश्च तथा गोपैः परिपूर्णं चकार सः।। ब्र. वै.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इससे पूर्ण सामाजिक न्याय और समता की स्थापना हो गयी। प्रजातीय रुचि, रूढ़ियाँ और स्वार्थ बीच-बीच में उभड़ आते हैं। सामाजिक सम्वन्धों की स्थापना में इनके उदाहरण पाये जाते हैं। वर्णमूलक समाज को दृढ़ बनाने के लिए वैंवाहिक सम्बन्ध में इस बात की व्यवस्था थी कि अन्तरवर्ण विवाह सम्वन्ध हो सकते हैं। इससे सबसे बड़ा लाभ यह था कि समाज के विभिन्न वर्गों में इससे स्नेह-सम्बन्ध और भावनात्मक एकता बनी रहती थी। परन्तु वर्णगत अहंकार और निहित स्वार्थ के कारण इस विधान पर प्रतिबन्ध लगने प्रारम्भ हो गये। पहले ब्राह्मण का विवाह-सम्वन्ध नीचे के तीन वर्णों की कन्या के साथ अनुलोभ विधि से हो सकता था। ऐसे विवाहों से उत्पन्न सन्तति ब्राह्मण वर्ण की होती थी; पन्चम वर्ण अथवा वर्ण-संकर का प्रश्न नहीं उठता था।[1] परन्तु प्रजातीय शुचिता और वर्ण-स्वार्थ के कारण पहले ब्राह्मण का वैश्या और शूद्र कन्या के साथ विवाह हीन समझा जाने लगा और फिर वर्जित कर दिया गया।[2] आगे चलकर क्षत्रियों और वैश्यों ने भी ब्राह्मणों का अनुकरण किया और शूद्र के साथ उनका विवाह वर्जित हो गया। किन्तु यह प्रवृत्ति यहीं नहीं रुकी। द्विजातियों में भी ऊँच-नीच का भाव उत्पन्न हुआ और फलतः उनमें भी अन्तर-वर्ण विवाह निषिद्ध समझे जाने लगे। यद्यपि इन निषेधों के प्रचलित होने के बाद भी अपवाद रूप से अन्तर-वर्ण विवाह होते रहे, परन्तु समाज इनको पसन्द नहीं करता था और उनसे उत्पन्न सन्तति की सामाजिक स्थिति हेय समझी जाने लगी। उसकी गिनती वर्ण-संकर और हीन जातियों में होने वगी। परवर्ती स्मृतियों में अन्तर-वर्ण सम्वन्ध की घोर निन्दा और भर्त्सना की गयी है।[3]

---

१. त्रिषु वर्णेषु जातो हि ब्राह्मणाद् ब्राह्मणो भवेत्।
स्मृताश्च वर्णाश्चत्वारः पन्चमो नाधिगम्यते ।। महा० अनु० ४७.१७

२. भार्या चतस्त्रो विप्रस्य द्वयोरात्मा प्रजायते।
आनुपूर्व्याद्द्वयोर्हीनौ मातृजात्यौ प्रसूयतः ।। महा. अनु.–४८.४

३. वर्ण-भेद अथवा रंग-भेद की भावना मानव स्वभाव में बहुत गहराई तक जाती है। अन्तर-वर्ण विवाह के निषेध का मूल कारण यही था। अमेरिका में गौरांग यूरोपीय और कृष्णवर्ण निग्रो के बीच विवाह विधि द्वारा निषिद्ध है। ऐंग्लो-सैक्सन जाति का काले लोगों के प्रति घृणा का उद्गार एक अंग्रेजी लेखक इस प्रकार करता है: "हम दासता से घृणा करते हैं परन्तु उससे अधिक घृणा करते हैं निग्रो के साथ" (इ. वेस्टरमार्क : दि ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट ऑफ् मॉरल आइडियाज, जिल्द, १, पृ० ७१४), नाज़ी शासन के समय जर्मनी की दण्ड-संहिता में जो संशोधन हुआ उसके अनुसार जर्मन का, यहूदी, निग्रो आदि के साथ विवाह-सम्बन्ध निषिद्ध घोषित किया गया। जर्मन रक्त का विदेशी रक्त के साथ मिश्रण भी अपराध ठहराया गया। जर्मन और जर्मनेतर का यौन-सम्बन्ध दोनों पक्षों के लिए दण्डनीय था।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जहाँ तक विभिन्न वर्णों में सहभोज का प्रश्न है प्रारम्भ में इसके ऊपर कोई प्रतिबन्ध नहीं दिखायी पड़ता। धर्मसूत्रों में पाचक प्रायः शूद्रवर्ण के ही पाये जाते हैं, यद्यपि रात्रि के समय शूद्रा द्वारा प्रस्तुत भोजन कुछ अशुद्ध माना जाता था; सम्भवतः इस बात की आशंका थी कि वह लोभवश भोजन को जूठा न कर दे। ब्राह्मण के लिए द्विजातिमात्र का भोजन उत्तम समझा जाता था, परन्तु वह गोप, कृषक, नापित और घरेलू भृत्य के हाथ का भोजन ग्रहण कर सकता था। वह किसी वर्ण के द्वारा अर्पित भोजन को अस्वीकार नहीं कर सकता था।[१] आपस्तम्ब के अनुसार वैश्यदेव-यज्ञ के लिए द्विजातिमात्र की तैयार की हुई हवि उत्तम मानी जाती थी; परन्तु किसी भी आर्य (प्रथम तीन वर्ण) के निरीक्षण में शूद्र भी यज्ञ-हवि तैयार कर सकता था; यदि उसने हवि स्वतन्त्र रूप से पकाया हो तो उसे अग्नि दिखा कर यज्ञ के लिए उपयुक्त कर लिया जाता था।[२] प्रारम्भिक स्मृतियों में भी भोजन-सम्बन्धी प्रतिबन्ध बहुत कम पाये जाते हैं। मनु के अनुसार भी उन शूद्रों के हाथ का अन्न ग्राह्य है जो अपने खेत पर काम करनेवाला हो, अपने परिवार का मित्र हो, अपनी गौओं को चरानेवाला हो, अपने यहाँ नौकरी करनेवाला अथवा नापित हो।[३] व्याससमृति के अनुसार द्विजातिमात्र का भोजन ग्राह्य है; केवल एक शर्त है कि जिस परिवार से भोजन लिया जाय वह परिचित होना चाहिए।[४] कुछ स्मृतियों में शूद्रवर्ण की कई जातियाँ अनुसूचित हैं, जिनके हाथ का पका भोजन ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु पूर्व मध्यकाल से कृच्छ्राचार, अतिशुचितावाद और ऊँच-नीच की भावनाओं की वृद्धि से अन्तर-वर्ण भोजन पर भी प्रतिबन्ध लगने लगे। दशम शती में न्याय कुसुमाञ्जलि के लेखक उदयनाचार्य को इस बात की शिकायत थी कि उनके समय के ब्राह्मण यौन-सम्बन्ध और सन्तानोत्पादन, एक ही वैदिक शाखा के संकीर्ण अध्ययन, व्यवसाय और वृत्ति, शूद्रान्न-ग्रहण आदि के कारण पतित थे।[५] यह प्रवृत्ति और बढ़ती गयी, यहाँ तक कि एक वर्ण में भी जाति और देश-भेद के कारण परस्पर-भोज निन्दित माना जाने लगा।

शूद्रों और अन्त्यजों के साथ सामाजिक व्यवहार नीति की दृष्टि से विशेष रूप से विचारणीय है। जैसा कि पहले कहा गया है शूद्र-वर्ण समाज का अंग था, जब कि अन्त्यज- समाजबाह्य थे। इस सम्बन्ध में एक बात मूलतः ध्यान में रखने की है। यद्यपि प्रारम्भ में शूद्रवर्ण में सामाजिक श्रम-विभाजन के कारण आर्य-तत्त्व था, आगे चलकर शूद्रवर्ण में अधिकांश आर्येतर आ गये। अन्त्यज तो

---

१. गौतम, १७. १-६।
२. आपस्तम्ब, २.२.३.१.४.६।
३. मनुस्मृति, ४.२५३।
४. व्याससमृति, ३.५२।
५. न्यायकुसुमाञ्जलि, स्तबक २, कारिका ३।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

शत-प्रतिशत आर्येतर थे। अतः शूद्रों और अन्त्यजों के साथ सामाजिक सम्बन्ध का प्रश्न मूलतः प्रजातीय था। प्रजातीय पक्षपात और पूर्वाग्रह की प्रवृत्तियाँ सम्पूर्ण संसार में पायी जाती हैं। मानवतावादी धर्म और नीति इनको कम करने की चेष्टा करते हैं; सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थ प्रजातीय सामञ्जस्य में बाधा उपस्थित करते हैं। भारतवर्ष में भी प्रजातीय तत्वों में आरम्भ में भेद-भाव था; आर्येतरों के ऊपर कई प्रतिबन्ध लगाये गये और उनकी सामाजिक सुविधाएँ सीमित की गयीं। किन्तु भारतीय सामाजिक नीति की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि बस्ती में रहने योग्य आर्येतर प्रजातियाँ समाज का अभिन्न अंग मान ली गयीं और उनके साथ सम्पर्क (विवाह और भोजन छोड़कर) वैध समझा गया। वर्णों के उत्कर्ष के सिद्धान्त के अनुसार शूद्रवर्ण के व्यक्ति को अपने उत्कर्ष का अधिकार था और वह अपने ज्ञान और शील के अनुसार उत्तरोत्तर अपने वर्ण में परिवर्तन कर सकता था।[1] अन्त्यज वे लोग होते थे जो बस्ती से बाहर और दूर (सभ्य क्षेत्र की सीमा के परे) रहते थे। इनका सभ्य बस्ती से सम्पर्क और सम्बन्ध नहीं के बराबर था। परन्तु जब सभ्य बस्ती के जीवन और सभ्यता का विस्तार विजय और उपनिवेश के द्वारा होता था अथवा जब अन्त्यज (जंगल की असभ्य जातियाँ) अपनी जीविका और स्थिरता के लिए सभ्य बस्ती की ओर आकृष्ट होते थे तब अन्त्यजों का समाजीकरण प्रारम्भ हो जाता था। समाजीकरण की पद्धति थी अन्त्यज से शूद्र; शूद्र से सच्छूद्र; सच्छूद्र से वैश्य; वैश्य से क्षत्रिय और क्षत्रिय से ब्राह्मण। इसमें सन्देह नहीं कि अधिकांश अन्त्यज शूद्र वर्ण में ही रह जाते थे परन्तु उनके विकास का मार्ग बन्द नहीं होता था। सभ्यता के वितरण और विकरण के साथ यह प्रवृत्ति भारतीय इतिहास में बराबर चलती रही, यद्यपि ऐतिहासिक कारणों से यह कभी-कभी मन्द पड़ जाती थी और सुविधा मिलने पर फिर जारी कर दी जाती थी।[2]

---

१. तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे।
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ मनुस्मृति, १०.४२।

२. अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के झाड़ बासियों के साथ यूरोपीय उपनिवेशियों तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी राज्यों में निग्रों के साथ अमेरिकनों के व्यवहार के साथ यदि भारतीय आर्यों के भारतीय शूद्रों और अन्त्यजों के प्रति व्यवहार की तुलना की जाय तो भारतीय व्यवहार अधिक भद्र और उदार दिखाई पड़ेगा (दे० इ. वैस्टरमार्क : दि ओरिजिन एण्ड डेवेलपमेंट ऑफ दी मॉरल आइडियल्स, जिल्द १, पृ० ३७०-७१; ७१२-७१४)। निग्रो के साथ भेद-भाव के कई रूप हैं, जैसे, आवासीय वर्जनशीलता; सवारियों और आमोद-प्रमोद के स्थानों का पार्थक्य, सार्वजनिक स्थानों और शिक्षण-संस्थाओं से बहिष्कार; कृषि और पारिवारिक सेवा छोड़कर शेष उद्योग-धन्धों में पक्षपात् आदि (दे० इनसाइक्लोपीडिया ऑफ, सोसल साइंसेज, जिल्द ११, पृ० ३९९ : निग्रो प्राबलेम)।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्राचीन भारतीय समाज में दास-प्रथा का प्रचलन था, यद्यपि यह इतनी व्यापक और स्थायी नहीं थी जितनी पश्चिमी एशिया, यूरोप और अमेरिका में थी।[1] वास्तव में जहाँ भी प्रजातियों का जय-पराजय हुआ वहाँ विजयी जाति न युद्ध में विजित वन्दियों को प्रायः दास अथवा नौकर वनाया। जस्टिनियन के अनुसार "दासत्व विश्व के राष्ट्रों की वह विधिक संस्था है जिसके द्वारा नैसर्गिक अधिकारों के विरुद्ध, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की सम्पत्ति वन जाता है।"[2] भारत में इसकी निम्नलिखित परिभाषा पायी जाती है: "जब कोई स्वतन्त्र व्यक्ति स्वेच्छा से अपने को दूसरे के लिए दान कर देता है तव वह उसका दास हो जाता है।"[3] यह असंभव नहीं है कि अपने को स्वेच्छा से समर्पित करने के कारण दासता की प्रथा प्रारम्भ हुई हों। पीछे से अपनी सुरक्षा और जीविका के लिए समर्पण से इसका विस्तार हुआ, यह भी संभव है। किन्तु इसके अतिरिक्त भी दासता के कई प्रकार स्मृतियों में वताये गये हैं। मनुस्मृति के अनुसार दास सात प्रकार के होते थे—(१) ध्वजाहृत (युद्ध में वन्दी वनाया हुआ व्यक्ति), (२) भक्तदास (जीविका के लिए स्वतः समर्पित), (३) गृहजः (दास से अपने घर में उत्पन्न)

---

१. 'प्राचीन (सामाजिक) विचारकों के लिए दासता जीवन में एक निश्चित और स्वीकृत तत्त्व था। इसमें जैसे कोई नैतिक प्रश्न ही नहीं उठता था। बैबिलोनिया के सुमेरियन संस्कृति में चतुर्थ सहस्राब्दी ई० पू० में दासता के सुदृढ़ संस्था थी। तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के दासता के ऊपर सुमेरियन विधान से यह वात विश्वासपूर्वक मानी जा सकती है। (इनसाइक्लोपीडिया ऑफ् सोशल साइंसेज, जिल्द १४ पृ० ७४)। यह तो ईसा पूर्व युग की स्थिति थी। परन्तु ईसाई राष्ट्रों ने भी बहुत दिनों तक दासता का समर्थन, व्यवहार और व्यापार किया। विशेष-कर इंग्लैण्ड और अमेरिका ने अत्यन्त घृणित रूप में दासता का व्यापार किया, जिसकी कल्पना भी किसी प्राचीन देश ने नहीं की थी। इन्होंने अफ्रीका में चुराने, बहकाने और अपहरण करनेवाले जत्थे भेजे जो वहाँ के आदिवासियों को इकट्ठा करते, उनको पशुओं की तरह जहाजों में भरते और अत्यन्त अस्वास्थ्यकर स्थिति में उनको अमेरिका ले जाते थे। उनमें से तो बहुत से रास्ते में ही मर जाते थे। शेष जो पहुँचते थे पशुओं की भांति खरीदे जाते थे और खेतों, खदानों में उनसे अमानुषिक कार्य कराया जाता था। बदले में उन्हें दासता, दरिद्रता और अपमान मिलता था। (दे० वेस्टरमार्क: ओरिजिन एण्ड डिवेलपमेंट ऑफ् मॉरल आइडियज़, जिल्द १, पृ० ७११)।

२. इंस्टीट्यूट्स लाइन, टिट. ३।

३. स्वतंत्रस्यात्मनो दानाद्दासत्वं दासवद्भृगुः। कात्यायन, व्यवहारमयूख में दासत्व के ऊपर उद्धृत। यह परिभाषा व्युत्पत्तिमूलक है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

(४) क्रीत (खरीदा हुआ), (५) दत्रिम (दान म प्राप्त), (६) पौत्रिक (उत्तराधिकार से प्राप्त), और (७) दण्डदास (विधि से दण्डित)।[1] नारद के अनुसार पन्द्रह प्रकार के दास थे—(१) गृहज (घर में उत्पन्न), (२) क्रीत (खरीदा हुआ) (३) दत्रिम (दान में प्राप्त अथवा किसी प्रकार दिया हुआ), (४) पौत्रिक (उत्तराधिकार में प्राप्त), (५) दुष्काल में रक्षित, (६) स्वामी द्वारा अनुवद्ध, (७) महान् ऋण से मुक्त, (८) युद्ध में वन्दी, (९) दाव में हारा, (१०) 'मैं तुम्हारा दास हूँ' ऐसा कह कर दासता स्वीकार करनेवाला, (११) सन्यास अथवा यतिधर्म से भ्रष्ट, (१२) अल्पकालिक अनुवद्ध, (१३) भक्तदास (भोजनाश्रयी) (१४) (१४) दास-कन्या के लोभ से वना हुआ दास और (१५) विक्रीत (अपने को वेचनेवाला)।

ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में दास-प्रथा वैदिक काल से ही पायी जाती है। ऋग्वेद के अधिकांश संदर्भों में दास शब्द का प्रयोग आर्यों के विरोधियों अथवा विजित प्रजातियों के अर्थ में पाया जाता है। ऐसा लगता है कि विजित प्रजातियों का ही एक वर्ग दास के रूप में काम करता था और अपने स्वामी द्वारा उपहार रूप में दूसरों को दिया जा सकता था। एक स्थल पर ऋग्वेद में वर्णन है: "आपने मुझे उपहार में एक सौ गधे, एक सौ ऊनवाली भेंड़े और एक सौ दास दिया।"[2] दूसरे स्थल पर एक ऋषि के वचन हैं: "पुरुकुत्स के पुत्र त्रसद्दस्यु ने मुझे पचास नवयुतियों को प्रदान किया।"[3] तैत्तिरीयसंहिता में कहा गया है: "दासियाँ अपने शिर पर जलपूर्ण घट रखती हैं और मधु का गान करती हुई तथा भूमि को अपने पैरों से आहत करती हुई मार्जालीय के चारों ओर नाचती हैं।"[4] वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक वचन पाये जाते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि इस युग में दास प्रथा प्रचलित थी और कतिपय स्त्री-पुरुष दासता का जीवन व्यतीत करते थे।

वैदिक काल के पश्चात् गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में दास-प्रथा और दृढ़रूप में पायी जाती है। आतिथ्य और दूसरे कई कामों में दासों से काम लिया जाता था। परन्तु स्वामी को दास के साथ मानवता का व्यवहार करना पड़ता था। "अतिथि आने पर चाहे अपने, भार्या और पुत्र को उपवास करना पड़े किन्तु दास

---

१. ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्रिमौ।
पौत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः॥ मनु. ८.४१५।

२. शतं मे गर्दभानां शतम् ऊर्णावतीनां। शतं दासां अति स्रजः॥
ऋग्वेद. ८.५६.३।

३. वही, ८.१९.३६।

४. अधिकुम्भान् अधिनिधाय दास्यो मार्जालीयं परिनृत्यन्ति पदो
निघ्नतीरिदं मधु गायन्त्यो मधुवै देवानां परम् अन्नाद्यम्। ७.५.१०-१।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और भृतक को नहीं उपवास कराना चाहिए।"[१] महाभारत में दासता के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं, परन्तु दासों के साथ उदारता के व्यवहार का उपदेश प्रायः मिलता है: "अन्य अपरिचित व्यक्ति (दास) को नहीं वेचना चाहिए; फिर अपने बच्चों का तो कहना ही क्या?"[२] मनु ने दासता का स्पष्ट वर्णन किया है। वे दण्ड की दृष्टि से दास को पुत्र, भार्या आदि की कोटि में रखते हैं: "पत्नी, पुत्र, दास, नौकर और भाई को, यदि ये अपराधी पाये जायँ तो रस्सी अथवा बाँस की द्विदल में फटी छड़ी से मारना चाहिए, और वह भी पीठ पर; उत्तमांग (शिर) पर कभी नहीं। यदि कोई उनको उत्तमांग पर मारता है तो उसे चोरवत् दण्ड मिलेगा।[३]

ईसा पूर्व की चौथी और तीसरी शतियों में, ऐसा लगता है, दास प्रथा का प्रचलन कम हो गया था, अथवा उसके स्वरूप में काफी परिवर्तन हो गया था। चन्द्रगुप्त मौर्य की राजसभा में यवन राजदूत मेगस्थने लिखता है कि उसके समय में कोई भारतीय दास नहीं रखता था।[४] परन्तु अन्य स्रोतों से दास-प्रथा के अस्तित्व का पता लगता है। अशोक के अभिलेखों में दास और भृतकों का उल्लेख पाया जाता है। अपनी धर्मानुशस्ति में वह इनके साथ समुचित व्यवहार का उपदेश करता है।[५] कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी दास-प्रथा का पता लगता है। वहाँ दासों के सम्वन्ध में वहुत से नियमों का विधान है। इसके अनुसार अपने बच्चों को दासता के लिए वेचनेवाले म्लेच्छों (विदेशियों) को दण्ड नहीं मिलता; किन्तु आर्य कभी दास नहीं बनाया जा सकता।[६] यदि कोई सम्वन्धी अवयस्क शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण बालक को दासता में देता है तो उसे क्रमशः १२, २४, ३६ और ४८ पण दण्ड मिलेगा। और यदि कोई असम्बद्ध व्यक्ति उनको दासता में देता है तो विक्रेता, क्रेता और सहायक सभी दण्ड के भागी होते हैं। विशेष पारिवारिक संकट के समय आर्य भी दासता स्वीकार कर सकता था। अर्थशास्त्र में दासों का वर्गीकरण मनुस्मृति से मिलता-जुलता है। उनके वर्ग हैं—(१) ध्वजाहृत (युद्धवन्दी), (२) आत्मविक्रयी, (३) उदरदास (गर्भदास = जो घर में दासी से उत्पन्न हुआ हो), (४) आहितिक (ऋणी) और (५) दण्ड प्रणीत (किसी न्यायालय के निर्णयद्वारा दण्डित)। आचार्य कौटिल्य ने दासता से मुक्त होने का उपाय भी वतलाया है। आत्मविक्रयी, उदरदास जितने में अपने को

---

१. काममात्मानं भार्यां पुत्रं वोपरुन्ध्यान्न त्वेव दासकर्मकरम्।
—आप. ध. सू. २.४.९.११।

२. अन्योऽप्यथ न विक्रेयो मनुष्यः किं पुनः प्रजाः। अनुशासन. ४५.२३

३. मनुस्मृति, ८. २९९-३०० पृ०।

४. मैकक्रिंडल, पृ० ७१ (दे० स्ट्रैबो. १५.१.५४)

५. त न इदं भवति दासभतकम्हि सम्यप्रतिपती। —शिला अभिलेख ११।

६. म्लेच्छानामदोषः विक्रेतुमाधातुं वा। नत्वेवार्यस्य दासभावः। अर्थ ३.१३।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वेचे हों अथवा जितना उनका मूल्य लग सके उतना धन देकर स्वतन्त्र हो सकते थे। जो अर्थदण्ड के कारण दास होते थे, वे उतना अर्थ देकर अथवा उसके वदले काम करके अपनी मुक्ति पा सकते थे। युद्धवन्दी बन्दी-काल और उस समय अपने किये हुए काम के अनुसार व्यय चुका कर अथवा उसका आधा देकर अपना मोक्ष पा सकता था। आहितिक (ऋणी) दास की सन्तति आर्य बनी रहती है। यदि कोई स्वामी आहितिक से शव ढुलाता है; मल, मूत्र अथवा उच्छिष्ट उठवाता है; उसको नंगा करता अथवा पीटता है; किसी स्त्री दास की पवित्रता को नष्ट करता है तो स्वामी अपना स्वामित्व खो देता है और दास मुक्त हो जाता है। यदि कोई स्वामी दास-कन्या की इच्छा के विरुद्ध उसके साथ सम्पर्क करता था तो वह दण्डित होता था।

जैसा कि ऊपर कहा गया है मनु ने सात प्रकार के दासों का वर्णन किया है। मनुस्मृति के अनुसार पत्नी, पुत्र और दास अधन होते हैं। वे जो कुछ भी अर्जन करते हैं वह पति, पिता और स्वामी का होता है।[1] मनु ने ब्राह्मण के लिए ६०० पण अर्थदण्ड का विधान किया है, यदि वह किसी उपनीत द्विज को दास बनाता है।

परवर्ती स्मृतिकारों में नारद और कात्यायन ने दासता के ऊपर विस्तार से विचार किया है। नारद ने वतलाया है कि शूश्रूषा करनेवाले पाँच प्रकार के होते हैं—(१) वैदिक ब्रह्मचारी (२) अन्तेवासी (कोई काम-धन्धा सीखनेवाला) (३) अधिकर्मकृत् (निरीक्षण करनेवाला) (४) भृतक (मजदूर) और (५) दास।[2] इनमें से प्रथम चार कर्मकर हैं। इनसे केवल शुद्ध काम ही कराया जा सकता है। किन्तु दास से अशुद्ध काम भी कराया जा सकता है।[3] जिन पन्द्रह प्रकार के दासों का वर्णन नारद ने किया है उनमें से प्रथम चार—गृहज, क्रीत, दत्त्रिम और पैतृक—स्वामी की कृपा के बिना मुक्त नहीं हो सकते थे। जो अपने आप को वेचता था वह अधमतम दास होता था। परन्तु याज्ञवल्क्य, नारदादि सभी इस पर एकमत हैं कि यदि कोई दास अपने स्वामी को किसी आसन्न संकट से वचाता था तो वह दासता से मुक्त हो जाता था और उसको पुत्रों के साथ पैतृक ऋक्थ में भाग भी मिलता था। जो यति, मुनि, सन्यासी होने के बाद आश्रम-भ्रष्ट होता था उसको आमरण राजा की दासता करनी पड़ती थी।[4]

---

१. भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधना स्मृताः।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्त ते तस्य तद्धनम्॥ ८.४१६।

२. नारद, अभ्युपेत्याशुश्रूषा, ४१।

३. गृहद्वाराशुचिस्थानरथ्यावस्करशोधनम्।
गुह्याङ्ग स्पर्शनोच्छिष्टविण्मूत्रग्रहणोज्झनम्॥ नारद, अभ्यु. ६।

४. याज्ञ. २.१८२।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

याज्ञवल्क्य[1] और नारद[2] दोनों ने इस बात का विधान किया है कि जो बलात् दास बनाया गया हो अथवा जो डाकुओं द्वारा बलात् अपहृत या विक्रीत हो उसे राजा तुरन्त मुक्त कर दे। दासत्त्व से मुक्ति की एक और स्थिति कौटिल्य ने बतलाया है। यदि किसी स्वामी से अपनी दासी में सन्तान उत्पन्न हो तो माँ और सन्तति तुरन्त मुक्त हो जाते हैं।[3] याज्ञवल्क्य और नारद द्वारा दासता पर एक और प्रतिबन्ध लगाया गया है। वह यह है कि दासता वर्ण के अनुलोभ क्रम से ही हो सकती है। इसके अनुसार ब्राह्मण के दास अवर तीन वर्ण के, क्षत्रिय के अवर दो वर्ण के, वैश्य के अवर एक वर्ण के और शूद्र के केवल शूद्र दास हो सकते हैं।[4] इसका एक ही अपवाद स्वीकार किया गया है। सन्यास-धर्म से पतित व्यक्ति वैश्य अथवा शूद्र राजा का दास हो सकता। किन्तु यह एक प्रकार की सार्वजनिक सेवा थी। कात्यायन ने स्पष्ट लिखा है कि ब्राह्मण ब्राह्मण का भी दासत्व नहीं कर सकता; परन्तु यदि वह स्वयं चाहे तो विद्या और शील-सम्पन्न ब्राह्मण के यहाँ शुद्ध कार्य कर सकता है।[5]

सम्पत्ति के ऊपर दास के अधिकार के सम्बन्ध में मतभेद है। कौटिल्य के अनुसार दास की सम्पत्ति के अधिकारी उसके सम्बन्धी होते हैं; उनके अभाव में उसका स्वामी। परन्तु कात्यायन का कथन है कि दास का अधिकार केवल उस धन पर होता है जो वह अपने स्वामी से अपने मूल्य के रूप में प्राप्त करता है अथवा स्वामी उसे प्रसन्न होकर प्रदान करता है।[6]

दास के कुछ विधिक अधिकार स्मृतियों में स्वीकार किये गये हैं। नारद और कात्यायन के अनुसार किसी गृहस्वामी की अनुपस्थिति में उसका दास कुटुम्ब के हित में ऋण ले सकता है और उस ऋण को गृहस्वामी को चुकाना होगा।[7] दास साधारणतः साक्ष्य के लिए उपयुक्त नहीं माना जाता था। परन्तु

१. वही।
२. नारद ५.३८।
३. स्वामिनस्तस्यांदास्यां जातं समातृकमदासं विद्यांत्। कौटिल, ३.१३।
४. वर्णानामानुलोभ्येन दास्यं न प्रतिलोमतः।
याज्ञ २.१८३; नारद ५.३९।
५. समवर्णोऽपि विप्रं तु दासत्वं नैव कारयेत्।
ब्राह्मणस्य हि दासत्वान्नृपतेजो विहन्यते ॥
शीलाध्ययनसम्पन्ने तद्नं कर्म कामतः।
तत्रापि नाशुभं किञ्चित्प्रकुर्वात् द्विजोत्तमः ॥ श्लोक ७१७-१९ स्मृति-चन्द्रिका में उद्धृत।
६. दासस्य तु धनं यत्स्वामी तस्य प्रभुः स्मृतः[illegible]।
प्रसादविक्रयाद्यत्तु न स्वामी धनमर्हति ॥ का[illegible]यन, ७२४।
७. नारद, ऋणादान, ५.१२; कात्यायन, अपरार्कद्वारा उद्धृत।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मनु और उशना के अनुसार अन्य प्रकार के साक्षियों के अभाव में दास का साक्ष्य लिया जा सकता था।[1]

भारतीय समाज में स्त्रियों का स्थान भी नैतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व का है। वास्तव में किसी सभ्यता के विकास का माप-दण्ड उसके विभिन्न वर्गों और विशेषकर स्त्रियों के साथ लोगों का सद्व्यवहार है। स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण और व्यवहार विभिन्न युगों की परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहे हैं। जिस समय समाज और परिवार की जैसी रचना होती है उसी के अनुसार समाज में स्त्रियों का स्थान और आदर होता है। आदिम साम्यवाद और मातृसत्तात्मक परिवार, राज्यतंत्र का उदय और पितृसत्तात्मक परिवार, यायावरीय जातीयता और व्यवस्थित समाज, कृषि-गोपालन-प्रधान समाज और औद्योगिक एवं यांत्रिक समाज, संयुक्त परिवार प्रथा और स्वातंत्र्यप्रिय व्यक्तिवाद, सहकारिता और प्रतियोगिता, इन सभी प्रवृत्तियों और जीवन-धाराओं का स्त्री-जीवन पर प्रभाव पड़ा है। ऐतिहासिक दृष्टि से स्त्रियों के प्रति नैतिक दृष्टिकोण का परिचय नीचे दिया जा रहा है। परन्तु स्त्रियों के प्रति कुछ ऐसी मान्यताएँ थीं जो युग-युग में आवर्तित होती रहती हैं। उदाहरणार्थ 'स्त्री' शब्द का अर्थ है (जाति का) विस्तार करनेवाली ? इसलिए स्त्रियों के प्रजातीय कर्तव्य और दायित्व पर बराबर बल दिया जाता रहा है। इसी प्रकार 'मातृ' शब्द भी बहुत प्राचीन है। इसका मूल अर्थ है 'मापनेवाला' और 'ढालनेवाला'। समाज में अन्तर्निहित इस मातृ-शक्ति की आदिशक्ति के रूप में बराबर पूजा होती रही है। इसी तरह 'कन्या' शब्द भी समाज में स्त्री के स्थान का द्योतक है। इसका अर्थ है: 'किससे यह प्रणीत होगी ?' अर्थात् इसको दूसरे परिवार में जाना ही है। अभी तक ये मान्यताएँ भारतीय समाज में बनी हुई हैं।[2]

वैदिक युग में यद्यपि समाज काफी विकसित हो चुका था तथापि जीवन अभी उन्मुक्त और स्वतंत्र था; सभ्यता की जटिलताएँ और कुंठाएँ उसे अभिभूत नहीं कर पायी थीं। इसलिए इस युग का स्त्री-जीवन भी परवर्ती युगों की अपेक्षा अधिक उन्मुक्त और स्वतंत्र था; उस पर अभी प्रतिबन्धों का बोझ नहीं था। कन्या के जन्म से, भावी झंझटों की आशंका से, यद्यपि पिता गम्भीर हो जाता था, फिर भी परिवार में कन्या समुचित रीति से लालित और पालित होती थी। उसका उपनयन होता था और शिक्षा का उसको पूरा अधिकार था। इस बात को पिछले शास्त्रकार भी स्वीकार करते हैं। उसको उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा थी। कई वैदिक सूक्तों के ऋषि स्त्रियाँ थी। अपाला, घोषा, विश्व-

---

१. मनु. ८.७०; उशना, व्यवहारमयूख (पृ० ३७) में उद्धृत।

२. यह बात ध्यान देने की है कि प्राचीन भारतीय नीति में स्त्री-पुरुष सम्बन्धी नीति का विवेचन दोनों के नैसर्गिक भेद के आधार पर किया गया है। दोनों की समता केवल सामान्य धर्म में है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वारा आदि की गणना वैदिक ऋषियों में है। उपनिषदों में गार्गी, मैत्रेयी आदि दर्शन की प्रकाण्ड पण्डिता थीं। विवाह करने अथवा न करने की उनको स्वतंत्रता थी। वे गुरुकुल में ब्रह्मवादिनी अथवा पितृगृह में अविवाहित रह सकती थीं। पत्नी के रूप में भी स्त्री का समुचित आदर था। पति के चुनाव में उसको स्वतन्त्रता थी; स्वयंवरा स्त्री की प्रशंसा होती थी। विवाह के अवसर पर पति इस बात की प्रतिज्ञा करता था कि वह धर्म, अर्थ और काम में पत्नी का अतिक्रमण नहीं करेगा। वह गृह की स्वामिनी (पत्नी) और पति की सहधर्मिणी समझी जाती थी। पतिगृह पहुँचने पर उसको इस वात का आशीर्वाद मिलता था कि वह पति के पूरे परिवार की साम्राज्ञी वने।[1] माता के रूप में स्त्री आदर और श्रद्धा का पात्र थी। देवताओं की माता अदिति और देव और मानव दोनों की माता पृथिवी के रूप में माता की उच्चतम कल्पना पायी जाती है। उषा, अरण्यानी, श्रद्धा, वाक्, सरस्वती आदि के रूप में स्त्री के सौन्दर्य, शक्ति और पवित्रता को सादर स्वीकार किया गया है। परन्तु जहाँ धार्मिक और सामाजिक जीवन में स्त्री का इतना महात्म्य था वहाँ आर्थिक क्षेत्र में उसके अधिकार वहुत सीमित थे। वह 'अदायादा' (ऋक्थ के लिये अनधिकारिणी) मानी जाती थी, इसलिए कि वह 'निरिन्द्रिया' (दुर्वल) थी। इसीलिए वह 'समिति' (वड़ी सभा) में भी नहीं जा सकती थी, क्योंकि वहाँ उसको वलवान् पुरुष से पीड़ित होने का भय था। इसका कारण यह था कि परिवार पितृ-सत्तात्मक था और सम्पत्ति पारिवारिक थी, व्यक्तिगत नहीं। पितृ-सत्तात्मक परिवार होने के कारण पुरुषों की प्रधानता वढ़ती गयी और स्त्रियों का कार्यक्षेत्र क्रमशः घरेलू होता गया। रामायण और महाभारत के समय तक पितृ-सत्तात्मक समाज होते हुए भी, समाज में स्त्रियों का स्थान ऊँचा था। सीता, सावित्री, द्रौपदी आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

जब से सामाजिक शास्त्रों की संहिताएँ वनने लगीं तब से सामाजिक प्रतिवन्ध वढ़ने लगे और क्रमशः स्त्रियों के सामाजिक स्थान और मान में परिवर्तन होने लगा। सूत्र-काल से यह बात स्पष्ट होने लगती है। सर्वप्रथम उनके शैक्षणिक अधिकारों पर ही प्रतिवंन्ध लगा। उनका औपचारिक उपनयन संस्कार वन्द हो गये और गुरुकुलों में जाना रुक गया। स्त्रियाँ वेदाध्ययन की अनधिकारिणी मानी जाने लगीं। उनका विवाह ही उपनयन समझा जाने लगा, पतिगृह ही उनका गुरुकुल और पति ही आचार्य। कई अर्थों में स्त्रियाँ शूद्र के समकक्ष समझी जाने लगीं, यद्यपि कई स्मृतिकारों ने इसका विरोध किया। हारीत ने विरोध में कहा, "द्वि-जातियों की स्त्रियाँ शूद्र के समान नहीं मानी जा सकतीं। शूद्रा के गर्भ से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य नहीं उत्पन्न हो सकते। इसलिए स्त्रियों के सभी संस्कार वैदिक मंत्रों के साथ होना चाहिए।"[2] मनुस्मृति में जहाँ इस वात पर वल दिया गया है

१. सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु। ऋग्वेद, १०. ८५, ४६।
२. हारीत, २१-२०।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कि परिवार में स्त्रियों का आदर होना चाहिए और जहाँ स्त्रियों का आदर होता है वहाँ देवता वास करते हैं, वहाँ यह भी कहा गया है कि स्त्रियों में स्वावलम्बन और स्वातंत्र्य की क्षमता नहीं होती है : "जव स्त्रियाँ कुमारी होती हैं तो उनकी रक्षा पिता करता है; यौवन में पति रक्षा करता है और वार्द्धक्य में पुत्र। स्त्री में स्वतन्त्रता की अर्हता नहीं होती।" मनुस्मृति में यह भी कहा गया है कि स्त्री की वुद्धि स्थिर नहीं होती; इसलिए उनका साक्ष्य ठीक नहीं समझा जाता। परवर्ती संस्कृत साहित्य में वैदिक अध्ययन की क्षमता स्त्रियों में नहीं मानी गयी हैं; वे पुराणों के अध्ययन से ही अपने धर्म और कर्तव्य का ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि स्त्रियों के सम्वन्ध में यह परिस्थिति कैसे उत्पन्न हो गयी ? वास्तव में उनकी बौद्धिक हीनता के कारण ये प्रतिवन्ध नहीं उत्पन्न हुए; अपितु अत्यधिक प्रतिवन्ध के कारण उनकी बौद्धिक क्षीणता उत्पन्न हुई। प्रतिवन्धों के पीछे देश की कई परिस्थितियाँ थी। एक तो पितृ-सत्तात्मक और संयुक्त परिवार होने के कारण स्त्रियों का जीवन क्रमशः बिलकुल घरेलू और सीमिति हो गया। दूसरे, छठी शती ई० पू० से लेकर पाँचवीं शती ई० पू० तक भारत पर लगातार विदेशी आक्रमण होते रहे। स्त्रियों की सुरक्षा का प्रश्न, उनके स्वातन्त्र्य की अपेक्षा, अधिक महत्त्व का हो गया और उनके घर के बाहरी और सामाजिक कार्य सीमित और संकुचित होते गये।

यौन और विवाह-सम्वन्धी नीति में भी क्रमशः परिवर्तन होता आया है। परन्तु यह मान्यता वरावर दृढ़ रही है कि सुव्यवस्थित और सभ्य जीवन के लिए यौन-सम्वन्ध नियमित और सीमित होना चाहिए। इसी के लिए विवाह-प्रथा का विकास हुआ था। ऋग्वेद के सूर्या-सूक्त में विवाह का जो रूप है वह शुद्ध और संस्कृत ब्राह्म विवाह का है। परन्तु इसके अतिरिक्त भी विवाह के अनेक प्रकार थे। सूत्रों और स्मृतियों में आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन मिलता है।[१] आदिम असभ्य स्तर से लेकर शुद्ध और संस्कृत स्तर तक क्रमशः इनकी गणना इस प्रकार है—(१) पैशाच, (२) राक्षस, (३) गान्धर्व, (४) आसुर, (५) प्राजापत्य, (६) आर्ष, (७) दैव और (८) ब्राह्म। पैशाच विवाह वह कहलाता था जिसमें छल-छद्म के द्वारा सुप्त, प्रमत्त अथवा अचेतन कन्या के साथ कोई यौन सम्वन्ध कर लेता था। यह बिलकुल कच्चे रक्त-मास का सम्वन्ध था। इसलिए यह पैशाच (नर-भक्षण से सम्वन्ध रखनेवाला) और अधमाधम कहलाता था। जब कोई कन्या का वलात् अपहरण कर और उसके वन्धु-वान्धवों से उसको छीन कर उसके साथ विवाह करता था तो उसको राक्षस कहते थे, क्योंकि इसमें वल और हिंसा का प्रयोग होता था। जव परस्पर राग और काम-वासना से प्रेरित होकर

---

१. ब्राह्मो दैवस्तथा आर्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचस्त्वष्टमोऽधमः॥ मनुस्मृति ३.२१; याज्ञ, १.५८.६१।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विवाह-सम्बन्ध किया जाता था तो उसे गान्धर्व कहते थे, क्योंकि पार्वत्य गन्धर्व-जाति में यह अधिक प्रचलित था। जब कन्या को शुल्क से खरीद कर उससे विवाह-सम्बन्ध होता था तो उसका नाम आसुर होता था, क्योंकि असुर जाति में इसकी प्रथा थी। इसको कहीं-कहीं मानव भी कहा गया है, क्योंकि पैशाच, राक्षस और गान्धर्व से इसमें मानव भाव अधिक था। जब कोई अत्यन्त विरक्त ऋषि औपचारिक दान के लिए वर से एक जोड़ी गाय लेकर अपनी कन्या विवाह में देता था तो उसे आर्ष कहते थे, क्योंकि यह कुछ ऋषियों तक ही सीमित था। समानाधिकार के अनुबन्ध के आधार पर जब प्रजा उत्पन्न करने के लिए विवाह सम्बन्ध होता था तो उसे प्राजापत्य कहते थे। यह आजकल के सिविल विवाह से मिलता-जुलता था। जब कोई यज्ञमान किसी ऋत्विज को दैवकर्म (यज्ञ) कराते समय अपनी कन्या को विवाहार्थ समर्पित करता था तो उसे दैव कहते थे। जब कन्या का पिता और सरंक्षक, उचित समय पर, सोच विचार कर, उचित वर को अपने स्थान पर निमंत्रित कर, कन्या को सुन्दर वस्त्र और आभूषण से अलंकृत कर उसे विधिवत् अर्पित करते थ, तब इस प्रकार के विवाह को ब्राह्म विवाह कहते थे। यह विवाह पैशाच की पाशविकता, राक्षस की हिंसा, गान्धर्व की कामुकता, आसुर के लोभ, प्राजापत्य के बन्धन, आर्ष की अवांछनीय औपचारिकता और दैव के अनिश्चितता से मुक्त था; अतः सर्वोत्तम समझा जाता था।

पैशाच और राक्षस को विवाह की संज्ञा क्यों दी गयी, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इससे बलात्कार को एक प्रकार से विधिक रूप मिल जाता था। परन्तु वास्तविक बात यह थी कि समाज विवाह के लिए कन्या का अक्षतयोनि होना आवश्यक समझता था। इसलिए समाज बलात् क्षतयोनि कन्या के निर्वाह का भार शील भंग करनेवाले व्यक्ति पर ही डालता था। किन्तु यह स्थिति कन्या के व्यक्तित्व की दृष्टि से वांछनीय नहीं थीं। बलात् अपहृत और भग्नशील कन्या का कोई दोष नहीं होता था। इसलिए परवर्तीकाल में यह सिद्धान्त निकाला गया कि बलात् भग्नशील कन्या आगामी रजोधर्म के पश्चात् शुद्ध हो जाती है। पहले प्रथम चार प्रकार के विवाह प्रतिलोम क्रम से अप्रशस्त और दूसरे चार प्रकार के प्रशस्त माने जाते थे। और आगे चल कर केवल ब्राह्म और आसुर ही वैध रह गये, शेष केवल ऐतिहासिक अध्ययन की सामग्रीमात्र बनकर लुप्त हो गये।

समाज में प्राचीन काल में बहुविवाह प्रचलित था, परन्तु कभी प्रशस्त नहीं माना जाता था। बहुपतित्व की प्रथा वैदिक काल के पहले ही समाप्त हो चुकी थी। महाभारत में द्रौपदी की कथा अपवाद रूप से युग-विरुद्ध थी। हिमालय की कुछ जातियों में इसका वर्तमान प्रचलन आदिम प्रथा का अवशेष है। ऋग्वेद के सूर्यासूक्त में सूर्या के जिस विवाह का वर्णन है वह एक-पत्नीत्व का है। एक-पत्नीत्व ही श्रेष्ठ माना जाता था, यद्यपि समाज बहुपत्नीत्व के प्रति सहिष्णु था।[१]

---

१. अपवाद रूप से कुछ शास्त्राकार बहुपत्नीत्व को अच्छा समझते हैं। उदाहरणार्थ, कौटिल्य ने कहा है कि सन्तान के लिए बहुत-सी स्त्रियों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मनुस्मृति में बहुपत्नीत्व का विधान है, परन्तु यह कथन है कि प्रथम पत्नी ही धर्मार्थ है; अन्य कामार्थ होती है। मनु ने वैवाहिक सम्बन्ध की पवित्रता पर बहुत बल दिया है। किन्तु इस पवित्रता का पालन जितना पत्नी के लिए आवश्यक समझा जाता था उतना पत्नी के लिए नहीं। संभवतः यह इसलिए था कि पत्नी परिवार का केन्द्र थी; उसके भ्रष्ट होने से परिवार की पवित्रता, सौमनस्य और सुख सभी नष्ट हो जाते। "आमरणात् दाम्पत्य की पवित्रता का पालन करना चाहिए। पति और पत्नी के लिए यह धर्म का सार है। विवाहित पुरुष और स्त्री को इस प्रकार प्रयास करना चाहिए कि यदि वे एक-दूसरे से अलग भी रहें तो भी पवित्रता का भंग न हो।"[1]

यौन-सम्बन्ध के बारे में एक और बात ध्यान देने की है। विधिवत् यौन-सम्बन्ध में कोई अपवित्रता की भावना नहीं थी। भारत में विवाह पवित्र धार्मिक कर्तव्य माना जाता था; ईसाई धर्म की तरह यह कोई रियायत नहीं था। विवाहित जीवन का मान अविवाहित जीवन से किसी प्रकार कम नहीं था। एक पत्नी-व्रत को ब्रह्मचर्य ही माना गया है। अविवाहित जीवन का कोई सम्प्रदाय स्थायी रूप से भारत में नहीं स्थापित हुआ। बौद्ध भिक्षुओं का सम्प्रदाय बन कर नष्ट हो गया। जैन यति-मुनियों का सम्प्रदाय अत्यन्त सीमित और संकुचित है। एक प्रकार से भारत में आजीवन अविवाहित जीवन का विधान था; परन्तु यह सर्वसाधारण के लिए आदर्श नहीं था। विवाहित स्त्री-पुरुषों के अनेक उदाहरण हैं जहाँ उन्होंने जीवन में उच्चतम उपलब्धियाँ प्राप्त कीं और आदर और श्रद्धा के पात्र हुए। प्रायः सभी मंत्र-द्रष्टा ऋषि विवाहित थे। भारत के सर्वप्रसिद्ध अवतार राम और कृष्ण विवाहित थे। अर्द्धनारीश्वर शिव की कल्पना में परमतत्त्व के युग्मरूप स्त्री-पुरुष दोनों का समान आदर है। कहीं-कहीं तो यहाँ तक कहा गया है कि शक्ति के बिना शिव शव के समान व्यर्थ हैं।[2]

से विवाह करना चाहिए। स्त्रियाँ रति और पुत्र दोनों के लिए होती हैं (अर्थशास्त्र)। सम्भवतः नन्द-मौर्य युद्ध के पश्चात् इस बात की आवश्यकता थी कि अधिक सन्तान उत्पन्न की जाय।

१. मनु ९.१०१–१०२।

२. कई पाश्चात्य विद्वान्, जो प्राच्य जीवन के अशुभ पक्ष को ही ध्यान से देखते हैं और उसके शुभ पक्ष को नहीं देखते, उनको प्राच्य विवाहित जीवन में कामवासना की ही प्रधानता दिखायी पड़ती है। लेकी ने अपने ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑफ् युरोपियन मारल्स', जिल्द २ पृ० २९४-२९५ (लाइब्रेरी संस्करण) में लिखा है: "अपने प्राच्य अथवा बहुपत्नीत्व की स्थिति में विवाह अपने निम्नतम स्तर पर रहता है और पाशविक वासना की तृप्ति का साधनमात्र समझा जाता है, जब कि युरोपीय विवाहों में, दोनों अनुबंध करनेवाले पक्षों में, पारस्परिक अनुराग और आदर भाव, गार्हस्थ्य संघटन, घरेलू

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

स्त्रियों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण भी सामाजिक नीति की दृष्टि से विचारणीय है। बहुत प्राचीन काल से ही विभिन्न परिस्थितियों के लोगों के विभिन्न दृष्टिकोण स्त्रियों के प्रति पाये जाते हैं। सफल अथवा असफल प्रेमी, सन्तुष्ट अथवा असंतुष्ट गृहस्थ, खिन्न अवधूत अथवा अनुभवी एवं सिद्ध महात्मा, सुधारवादी अथवा शास्त्रकार सभी ने स्त्रियों के प्रति अपने उद्गार और विचार प्रकट किया है। एक सफल प्रेमी के लिए स्त्री संसार में अत्यन्त सुन्दर और स्पृहणीय वस्तु है। असफल प्रेमी के लिए वह अविश्वास और क्रूरता की मूर्ति है। सफल गृहस्थ के लिए वह सुख की खानि और असंतुष्ट के लिए 'गृहबन्धन नाना जंजाला' है।' खिन्न और पथभ्रष्ट अवधूत के लिए वह नरकका द्वार है। अनुभवी सिद्ध महात्मा के लिए वह आद्याशक्ति तथा परमकल्याण कारिणी माँ है। सुधारवादी के लिए वह विताडित दया का पात्र है। शास्त्रकार के लिए कई प्रतिवन्धों और अयोग्यताओं के साथ धर्मपत्नी और गृहस्वामिनी है आदि। किन्तु एक बात सच है कि कन्या, पत्नी और माता के रूप में स्त्री भारत में सदा वात्सल्य, स्नेह और श्रद्धा का पात्र रही है।

कन्या के अनिश्चित भविष्य, विवाह सम्वन्धी दायित्व और उसके शील के ऊपर दोनों कुलों की मर्यादा के अवलम्वन के कारण कन्या के पिता को चिन्तित होना स्वाभाविक है। कहीं-कहीं कहा गया है, "कन्येति जाता महती विचिन्ता"।

भावना और कर्तव्य––इन सब का अनुबन्ध के उद्देश्यों में प्रमुख स्थान रहता है और निम्नतर तत्त्वों का प्राधान्य बहुत कम होता है।" प्रथम कठिनाई तो यह है कि लेकी साहब ने सम्पूर्ण प्राच्य देशों को एक वर्ग में सम्मिलित कर लिया है। वे इस बात को भूल जाते हैं भारत में विवाह मुख्यतः सांस्कारिक माना जाता रहा है, आनुवन्धिक नहीं। एक विवाह अथवा वहुविवाह से विवाह के सांस्कारिक पक्ष में कोई अन्तर नहीं पड़ता चाहे बहुविवाह समकालिक हो अथवा पाश्चात्य देशों की तरह क्रमिक। वहुविवाह का बहुत कुछ सम्बन्ध आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों से है, जो आज बदलती जा रही हैं। यह परिवर्तन एक-पत्नीत्व अथवा एक-पतित्व के पक्ष में न होकर संयम और भावना का विरोधी तथा स्वच्छन्द यौन-सम्बन्ध का पोषक है। सांस्कारिक विवाह का उद्देश्य था कामुक वासनाओं को संयत और सीमित कर दम्पती की भावनाओं का उदात्तीकरण। भारतीय धर्म-शास्त्रों में विवाह के उद्देश्य और पति-पत्नी के कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन है। उनके अनुसार धार्मिक और सामाजिक कर्तव्यों––देहकार्य, देशकार्य और देव-कार्य का सम्पादन–– का पालन ही विवाह का उद्देश्य था, काम-वासना की तृप्ति नहीं। यद्यपि शरीर के धरातल पर जीवन में काम का तिरस्कार नहीं था, परन्तु अनेक विधि-निषेधों से उसको बहुत सीमित किया गया था।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हर्षचरित में प्रभाकरवर्धन अपनी पुत्री राज्यश्री को युवती होते हुए देख कर अपनी पत्नी से कहता है, "कन्या के यौवन के प्रवाह को देखकर पिता का हृदय उसी प्रकार विकम्पित हो जाता है जिस प्रकार वर्षा ऋतु में बाढ़ के समय नदी-कूल का वृक्ष।"[१] परन्तु इस दायित्व की चिन्ता के साथ भी कन्या बराबर स्नेह और आदर के साथ लालित और पालित होती रही है। कन्या को दूसरे घर जाना है, इसलिए वह पवित्र धरोहर मानी जाती रही है। वह दातव्य है किन्तु उसके दान से दोनों ही कुल पवित्र माने जाते हैं। पत्नी के रूप में भी नारी का स्थान भारतीय समाज में बराबर ऊँचा रहा है। वास्तव में पत्नी (गृहिणी) ही गृह मानी जाती रही है, उसके बिना घर अरण्य समझा जाता रहा है।[२] वह गृह की स्वामिनी और गृहस्थी की साम्राज्ञी रही है। वह परिवार के धर्म, अर्थ और काम की दात्री और संरक्षिका है। पूर्व मध्ययुगीन नाटककार भवभूति ने पत्नी के सम्बन्ध में निम्नांकित उद्‌गार प्रकट किया है: "पत्नी का स्नेह सुख और दुःख दोनों में अद्वैत (एकरस) और सभी अवस्थाओं में अनुकूल रहता है। वह हृदय का विश्राम है। उसमें वृद्धावस्था से अहार्य रस है। ज्यों-ज्यों समय बीतता है त्यों-त्यों आवरण (पर्दा=दूरी) हटने से वह घनीभूत प्रेम में स्थित होता है। वह भाग्यशाली मनुष्य धन्य है, जिसको वह किसी प्रकार प्राप्त हो गया।"[३] पत्नी के स्नेह का यह आदर्श परवर्ती भारतीय साहित्य में भी सुरक्षित सुरक्षित है। 'रामचरितमानस' में सीता का चरित्र, मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में सीता और उर्मिला का चरित्र और उन्हीं की 'यशोधरा' में यशोधरा का चरित्र इस आदर्श के ज्वलन्त उदाहरण हैं। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में मातृत्व नारी का चरम उत्कर्ष और आदर और श्रद्धा का आस्पद माना गया है। ऋग्वेद में देवताओं की माता अदिति और अथर्ववेद में पृथिवी-माता (देव और मानव दोनों की) की अद्‌भुत कल्पना है। वह जन्मदात्री, पालयित्री और संस्कारकर्त्री है। वही जाति अथवा राष्ट्र का उद्‌गम और सनातन प्राध्यापिका है। इसीलिए मनु ने कहा है कि आचार्य से शतगुण पिता और पिता से सहस्रगुणा माता आदरणीय है।[४] समस्त स्त्री-जाति के लिए मनुस्मृति में अत्यन्त आदर और

---

१. हर्षचरित।

२. न गृहं गृह मित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहणीहीनम् अरण्यसदृशं मतम्॥ महाभारत, शान्तिपर्व, १४४.६।

३. अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यत्।
विश्रामो हृदयस्य यः जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः॥
कालेनावरणात्ययात्परिणतो यत्स्नेहसारे स्थितम्।
भद्रं तस्य सुमानुषस्य सुमानुषस्य कथमप्येको हियः प्राप्यतै॥ उत्तररामचरित।

४. उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रंतु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥ मनुस्मृति, २.१४५

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

श्रद्धा के भाव व्यक्त किये गये हैं: "अपना कल्याण और समृद्धि चाहने वाले पिता, भाई, पति, देवर आदि से स्त्रियाँ अवश्य आदृत और अलंकृत होनी चाहिए। जहाँ स्त्रियों का आदर होता है वहाँ देवता आनन्दित होते हैं; किन्तु जहाँ उनका आदर नहीं होता, वहाँ यज्ञादि का कोई फल नहीं मिलता। जिस परिवार में स्त्रियाँ दु:खी रहती हैं, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। जिसमें वे प्रसन्न रहती है, वह बराबर समृद्ध बनता है। उन परिवारों में जहाँ स्त्रियाँ अपमानित होकर शाप देती हैं, वे पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं, मानों जादू से। इसलिए जो लोग अपना कुशल-क्षेम चाहते हों उनको चाहिए कि पर्व और उत्सव के अवसरों पर उपहार, अलंकार, वस्त्र, भोजनादि से स्त्रियों का सम्मान करें। जहाँ पति पत्नी से संतुष्ट रहता है और पत्नी पति से, उस गृह में सदा मंगल रहता है।"[१] इसी प्रकार महाभारत में भी स्त्रियों के प्रति सम्मान का महात्म्य बताया गया है: "जो लोग अपना कल्याण चाहते हैं उन्हें स्त्रियों का आदर और सम्मान करना चाहिए। जो स्त्री आदृत और पूजित होती है वास्तव में वही (गृह-) लक्ष्मी है।"[२]

३. विधिक नीति

सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक अनुशासन के लिए सभी सभ्यताओं में विधि का विकास हुआ है। भारत में विधि का समावेश सदा धर्म के अन्तर्गत रहा है। परन्तु यहाँ धर्म का अर्थ धर्म-विज्ञान नहीं है। धर्म का सैद्धान्तिक पक्ष जहाँ दर्शन के रूप में विकसित हुआ, वहाँ उसका व्यावहारिक पक्ष धर्मशास्त्र के रूप में जो विधि का आधार है। दर्शन का उद्देश्य जहाँ ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा मोक्ष की अनुभूति है वहाँ धर्मशास्त्र का ध्येय समाज में धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति और इनके माध्यम से मोक्ष के लिए तैयारी है। विधि अथवा धर्म का मूल उद्देश्य था समाज का धारण। राज्य का प्रथम कर्तव्य था विधि के द्वारा समाज के अन्तर्गत शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना। राज्य के मूल कर्तव्य प्रजारक्षण में विधि अन्तर्निहित है। राज्य और विधि दोनों की उत्पत्ति एक विशेष आवश्यकता की पूर्ति के कारण हुई। वैसे दार्शनिक दृष्टि से मनुष्य मूलतः ब्रह्म का अंश तथा अभिन्न और शुद्ध एवं प्रबुद्ध है, परन्तु व्यवहार में जब अज्ञान के कारण उसमें मलिनता आती है तो वह राग-द्वेष से अभिभूत हो जाता है। महाभारत और पुराणों में राज्य की उत्पत्ति का जो वर्णन है उसमें कहा गया है कि आदि में

---

१. मनुस्मृति, ३.५५-६०।

२. अनुशासनपर्व, ४६.१५।

द्रष्टव्य साहित्यः—(१) वैदिक संहिताएँ, (२) उपनिषदें, (३) धर्मसूत्र, (४) स्मृतियाँ, (५) भाष्य, (६) निबन्ध, (७) म. काणे: हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जिल्द, १,२ (८) पी. एन. सेन: हिन्दू जुरिसप्रूडेन्स।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

न राज्य था और न राजा; न दण्ड न दाण्डिक; मनुष्य स्वतः धर्मबुद्धि से समाज में रहते थे। किन्तु कुछ समय के वाद मानव हृदय में राग-द्वेष ने प्रवेश किया। लोग एक-दूसरे का सत्त्वापहरण करने लगे। समाज में मात्स्य-न्याय (बड़ी मछली द्वारा छोटी-मछली का खाया जाना) फैल गया। इसी को रोकने के लिए राज्य की उत्पत्ति हुई। समाज ने जो समय और संहिता (मानव आचार-व्यवहार के नियमों का संग्रह) तैयार किया उसके द्वारा राजा ने समाज का नियमन और शासन प्रारम्भ किया।[1] ये ही समय और संहिता विधि संहिता के रूप में धर्मशास्त्र के माध्यम से विकसित हुए।

विधिक नीति की दृष्टि से एक बात ध्यान देने की है कि भारतीय विचार धारा के अनुसार विधि का विकास राज्य के द्वारा न होकर समाज के द्वारा हुआ। विधि अथवा धर्म राज्य और राजा के ऊपर था। राजा विधि-प्रवर्त्तक नहीं, केवल विधि-संस्थापक था। जब तक विधि सामाजिक प्रथा के रूप में होती थी तब तक उसमें परिवर्त्तन सरलता से होता था; फिर भी राजा उसका आदर करता था। परन्तु जब वह संहिता अथवा स्मृति का रूप धारण करती थी तो राजा के लिए वह अनिवार्य हो जाती थी। विधि अथवा विधान बनाने का अधिकार राज्य को नहीं प्राप्त था। इसलिए राजा अपनी सुविधा और स्वार्थ के लिए नयी विधि वना कर प्रजा के ऊपर अत्याचार नहीं कर सकते थे। दूसरी वात ध्यान देने की यह है कि विधि वर्णाश्रम व्यवस्था के संरक्षण के लिए मुख्यतः थी। जो लोग इस बात को नहीं समझते उनको भारतीय विधि (धर्मशास्त्र) में असंगति और विषमताएँ दिखायी पड़ती हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार समाज में विभिन्न व्यक्तियों की प्रकृति और अवस्थाभेद से उनकी शारीरिक और मानसिक परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं। इसी प्रकार लिङ्ग भेद से भी शारीरिक और मानसिक परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं। इसलिए सबके कर्तव्य और कार्य भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः सबके लिए एक ही प्रकार के कर्तव्य का विधान नहीं होता। सामाजिक कर्तव्य और धर्म कोई सुधा-सिन्धु अथवा अमृतधारा जैसा औषध नहीं जो सबको समान रूप से उपयोगी हो। इसी प्रकार सम्पत्ति के विभाजन और अपराध करने की भूमियाँ भी वर्ण और आश्रमभेद तथा लिङ्ग-भेद से भिन्न-भिन्न होती हैं। अतएव सभी के लिए एक ही प्रकार की विधि और दण्ड-विधान नहीं हो सकता। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि यह वर्णाश्रम व्यवस्था-

---

१. नैव राज्यं न राजासीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेण वै प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्।।
पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत।।
दैन्यं परमुपाजग्मुस्ततस्तान्मोह आविशत्।
प्रतिपत्तिर्विमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत्।।
कामो नामापस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो।। महाभारत, शान्ति पर्व, ५८.१४-१६

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

एक आदर्श व्यवस्था थी। इसने प्रजातीय और जातीय भावना को वहुत कम किया। किन्तु व्यवहार में प्रजातीय और जातीय तत्त्व बीच-बीच में उमड़ आते थे और इससे विधिक न्याय में बाधा पड़ती थी। स्वाभाविक और परिस्थितिगत भेदों के अतिरिक्त राग-द्वेष, क्रोध-अमर्ष और उच्च-नीच के भाव विधिक न्याय को प्रभावित करते थे। इसलिए विभिन्न वर्णों के लिए विहित विधानों में विषमता और कठोरता अधिक दिखायी पड़ती है। सामाजिक और अपराधगत अभियोगों के आधार पर न्यायालय दो प्रकार के होते थे--(१) धर्मस्थीय और (२) कंटक शोधन।[१] धर्मस्थीय में वे ही अभियोग आते थे जिनका सम्वन्ध सम्पत्ति तथा सामाजिक व्यवहारों से था। कंटकशोधन में अपराध-सम्वन्धी अभियोगों का निर्णय होता था। पहले प्रकार के अभियोगों में वर्णगत और जातिगत भेद कम था; अधिक भेद और विषमता दूसरे प्रकार के अभियोगों में पायी जाती थी। आज के युग में वैज्ञानिक और औद्योगिक आन्दोलन और वर्गहीन समाज की कल्पना से प्रभावित साम्यवादी जनता को ये भेद और विषमतायें विचित्र जान पड़ेंगी। परन्तु इन विषमताओं को उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ही देखना होगा। आधुनिक युग में भी आज के सभ्य देशों--अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका आदि-में ये विषमताएँ समाप्त नहीं हुई हैं। फिर आज से शताब्दियों और सहस्राब्दियों पूर्व भारत में गणितीय (स्वाभाविक नहीं) साम्यवाद की आशा कैसे कर सकते हैं।

विधिक नीति के विकास को कई क्षेत्रों में देखा जा सकता है। सर्वप्रथम पैतृक सम्वन्धों में इसे देखना चाहिए। पिता और उसकी संतानों के बीच का सम्वन्ध मानव सम्वन्धों में वहुत ही आधारभूत और स्थायी है। यह सम्वन्ध प्रायः रक्त-सम्वन्ध माना जाता है, अर्थात् पति से उसकी अपनी पत्नी में उत्पन्न पुत्र-पुत्री ही उसकी सन्तान समझी जाती हैं। परन्तु प्राचीन भारत में पिता-पुत्र सम्वन्ध का क्षेत्र केवल रक्त-सम्वन्धी अथवा शारीरिक न होकर सामाजिक कर्तव्य और न्याय के ऊपर आधारित था। धर्मशास्त्र में दो प्रकार के पुत्रों का वर्णन मिलता है—(१) मुख्य और (२) गौण। इनकी संख्या वारह है, जिनकी सूची निम्नांकित है:[२]

(१) औरस (पिता द्वारा अपनी पत्नी में उत्पन्न);

(२) पुत्रिका-पुत्र (पुत्रहीन पिता का पुत्री में उत्पन्न पुत्र; अथवा विशेष नियुक्तिद्वारा स्वयं पुत्री ही);

(३) क्षेत्रज (अक्षम पिता का अपनी पत्नी में दूसरे पुरुष द्वारा उत्पन्न अथवा नियोगज पुत्र);

(४) गूढज (पत्नी द्वारा गुप्त रीति से पति के अतिरिक्त दूसरे पुरुष से उत्पन्न पुत्र);

---

१. कौटिल्य अर्थशास्त्र।

२. मनुस्मृति में इनको (१) बन्धुदायाद और (२) अदायादवन्धु दो षटकों में विभक्त किया गया है (दे० मनुस्मृति, अध्याय ६, श्लोक १५८-१६०)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

(५) कानीन (विवाह के पूर्व अविवाहित कन्या में उत्पन्न पुत्र);
(६) सहोढ (विवाह के समय गर्भवती कन्या से पति के गृह में उत्पन्न पुत्र);
(७) पौनर्भव (दुबारा विवाहित पत्नी में उत्पन्न पुत्र);
(८) दत्तक (पुत्रहीन पिता द्वारा दूसरे परिवार से परिगृहीत पुत्र);
(९) क्रीत (दूसरे से क्रय किया हुआ पुत्र);
(१०) कृत्रिम (कोई अनाथ बालक अपनी स्वेच्छा से बनाया हुआ पुत्र);
(११) स्वयंदत्त (माता-पिता से परित्यक्त स्वतः समर्पित पुत्र) और
(१२) अपविद्ध (वास्तविक माता-पिता द्वारा लज्जा और भय के कारण फका हुआ और प्राप्त पुत्र)।

इनमें प्रथम दो मुख्य और दूसरे गौण हैं। प्रथम छः में भी शारीरिक दृष्टि से प्रथम ही वास्तविक पुत्र है; दूसरा भी प्रायः प्रथम के समकक्ष है, क्योंकि पिता का पुत्री के द्वारा इससे रक्त-सम्बन्ध है। इनके अतिरिक्त अन्य पुत्रीकृत और गौण हैं। परन्तु इसी पुत्रीकरण का सामाजिक न्याय की दृष्टि से बहुत बड़ा महत्त्व है। बहुत से बालक, जो सामाजिक लज्जा और भय के कारण हत, अपविद्ध, तिरस्कृत, विताडित और इस कारण से समाज में अनाचार-व्यभिचार के माध्यम बनते हैं, परिवार में सम्मिलित, समज्जित और संस्कृत होते थे। पिता इस विधिक व्यवस्था के कारण अपने रक्त-सम्बन्ध और छोटे परिवार के संकुचित क्षेत्र को पार कर अपने सामाजिक कर्तव्यों का पालन कर सकता था।

यद्यपि विधि ने बारह प्रकार के पुत्रों को स्वीकार किया था, परन्तु सभी के पद और अधिकार बराबर नहीं के थे और न सभी के द्वारा पिता को समान पारमार्थिक पुण्य-प्राप्ति की आशा ही होती थी। "जो फल टूटी-फूटी नाव से समुद्र पार करने में मिलता है (अर्थात् संकट और कष्ट प्राप्त होता है और डूब जाने का भय रहता है), वही फल कुपुत्रों (मुख्य दो को छोड़कर) द्वारा संसार के अन्धकार को पार करने में मिलता है (अर्थात् इन पुत्रों का पिता संसार सागर में गोते लगाता है और उसके पतन का भय रहता है)।[1] परन्तु प्रश्न यह है कि क्या पारमार्थिक पुण्य के लिए ही पिता इतने प्रकार के पुत्रों को स्वीकार करता था? हेनरी मेन के अनुसार प्रत्येक आर्य गृहस्थ के लिए पुत्र का होना अनिवार्य माना जाता था; इसलिए पुत्र-प्राप्ति के लिए सभी संभव उपायों का वह उपयोग करता था; और क्योंकि प्राचीन काल में यौन-सम्बन्ध में बहुत शिथिलता थी इसलिए उसके इस प्रयत्न में अनौचित्य और भावना से कोई बाधा नहीं पड़ती थी।[2] मेन साहब के मत से पूरा सहमत होना कठिन है। कुछ पुत्रों (पुत्रिका-पुत्र और दत्तक) के बारे में उनका मत ठीक हो सकता है।

---

१. यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः सन्तरन् जलम्।
तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः संतरंस्तमः॥ मनुस्मृति
२. हेनरी मेन, हिन्दू ला (८वाँ संस्करण), पृ० ८३।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

परन्तु शेष गौण पुत्रों के स्वीकार करने में पिता का क्या स्वार्थ हो सकता था? दूसरे यौन-सम्बन्ध की पवित्रता के बारे में जितना भारतीय धर्मशास्त्र में जोर दिया गया है, संभवतः उतना अन्य देश के साहित्य में नहीं उपलब्ध होता। स्वयं मनु ने नियोग और विधवा के पुनर्विवाह को पशु-धर्म कहा है और विवाह-योग्य कन्या से अक्षत योनि होना आवश्यक बतलाया है। फिर कभी-कभी एक साथ इतने प्रकार के पुत्रों को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता? न तो उनसे आर्थिक लाभ था और न पर्याप्त पुण्य की प्राप्ति। वास्तव में यह समाज-कल्याण की एक व्यवस्था थी। प्रत्येक शिशु को किसी न किसी पिता के संरक्षकत्व में रहना आवश्यक समझा जाता था, चाहे वह किसी भी प्रकार क्यों न उत्पन्न हुआ हो। प्राचीन काल में जनन-गृहों और अनाथालयों का प्रचलन तो था नहीं। अतः यह भार गृहस्थों पर ही पड़ता था। यह ठीक है कि उस समय समाज उदार था; एक बार के पतन से स्त्री को सदा के लिए नष्ट नहीं समझता था और न तो अवैध-रूप से उत्पन्न निरीह शिशु को समाज अभिशप्त और दण्डित करता था। इस प्रकार प्रत्येक शिशु का संरक्षण और समाजीकरण संभव होता था

पुत्र की कल्पना और संख्या में क्रमशः परिवर्तन होने लगा। पराशरस्मृति, जो कलियुग के लिए रची हुई मानी जाती है, इस बात का विधान करती है कि कलियुग में केवल चार ही प्रकार के पुत्र वैध माने जायेंगे। ये चार हैं—(१) औरस (२) क्षेत्रज (३) दत्तक और (४) कृत्रिम।[1] पुराणों के जो अंश मध्य-युग में संगृहीत हुए उनके अनुसार कलि में पुत्रों की संख्या और भी कम कर दी गयी। पुराणों में कलिवर्ज्ज के अन्तर्गत प्राचीन काल में प्रचलित कई प्रथाएँ बन्द कर दी गयीं। अब केवल दो ही प्रकार के पुत्र वैध रह गये।[2] वे हैं औरस और दत्तक। केवल मिथिला में ही कृत्रिम पुत्र को भी दत्तक के अन्तर्गत मानते हैं।[3] आज परिस्थिति यह है कि वही पुत्र वैध माना जा सकता है जो वैध पति द्वारा वैध पत्नी में उत्पन्न हो। दत्तक पुत्र भी एक विधिक कर्मकाण्ड तथा मन्त्रों की अपूर्व शक्ति द्वारा औरस के समान बना दिया जाता है। पुत्रों की कल्पना और संख्या में परिवर्तन के कई कारण थे। समाज धीरे-धीरे स्थिर किन्तु जड़ होने लगा। जीवन के सभी अंग नियमों से विजगडित होने लगे। सामाजिक परिवार से व्यक्तिगत परिवार बनने लगा। पहले एक ही परिवार में विभिन्न वर्णों के बालकों का प्रवेश और समाजीकरण संभव था। वर्णों की जन्मगत

---

१. औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिमकः सुतः।

२. दत्तौरसेतरेषान्तु पुत्रत्वेन परिग्रहः।

और दे० एतानि लोक गुप्त्यर्थं कलेरादों महात्मभिः।
निर्वतितानि कर्माणि व्यवस्थापूर्वक बुधैः।
समयश्चापि साधूनां प्रनाणं वेदवद् भवेत्।

३. दत्तपदं कृत्रिमस्याप्युपलक्षणम्। दत्तकमीमांसा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कल्पना से यह प्रक्रिया बन्द हो गयी। दूसरे यौन-सम्बन्ध की पवित्रता के विचार उत्तरोत्तर कृच्छ्र (कठोर) होने लगे। विवाह के लिए कन्या का अक्षतयोनि होना अनिवार्य माना जाने लगा। इसके लिए कन्याओं का संतान उत्पन्न करने में असमर्थ अल्पायु में ही विवाह होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि अनियमित पुत्रों--कानीन, सहोढ आदि का होना बन्द हो गया। नियोग कलिवर्ज्य के अन्तर्गत आ गया। विधवा-विवाह पर प्रतिवन्ध लगने से पौनर्भव की उत्पत्ति भी वन्द हो गयी। पुत्रों द्वारा प्रदत्त पिण्ड से पुण्य की कल्पना भी शिथिल पड़ने लगी; इसके वदले व्यक्तिगत परिवार के आर्थिक लाभ और जीवन के मापदण्ड की भावना वढ़ने लगी। इन सभी तत्त्वों ने मिलकर परिवार के विस्तार और सार्वजनिकता को कम कर दिया।

सन्तान और परिवार के अन्य सदस्यों के ऊपर पिता के अधिकार का इतिहास भी नीति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पितृ-सत्तात्मक परिवार में पिता परिवार का संरक्षक और पालक था। इसलिए उसके अधिकार भी बहुत व्यापक थे। परन्तु वे इतने कठोर नहीं थे जितने रोमन विधि में पिता के अधिकार थे। रोमन विधि में संतान के ऊपर पिता के अधिकार निरंकुश और अवाधित थे। सन्तान के वेचने, दान देने, फेंकने, दण्ड देने और यहाँ तक कि मार डालने तक का अधिकार उसे विधि के अन्तर्गत प्राप्त था। वैदिक साहित्य में सन्तान के प्रति वहुत ही स्नेह-पूर्ण और उदार विचार पाये जाते हैं। पिता वहुत-से पुत्रों की कामना करता था; पत्नी कम से कम दस पुत्रों की कामना करती थी और पति को ग्यारहवाँ पुत्र समझती थी। गृह्यसूत्रों में पुत्र-जन्म के समय जो जातकर्म संस्कार होता था उसमें पिता पुत्र को अत्यन्त आनन्द और उल्लास से आशीर्वाद देता था: "तुम मेरे अंग-अंग से उत्पन्न हुए हो; मेरे हृदय से तुम्हारा उदय है। पुत्र नाम से तुम वास्तव में मेरा आत्मा ही हो। तुम सौ वर्ष जीवो।...वज्र के समान दृढ़ बनो; परशु के समान शत्रुहन्ता होवो; स्वर्ण के समान खरे और अमर।"[१] परन्तु इन उदार भावनाओं के साथ भी पिता के व्यापक अधिकार थे। कुछ विद्वानों का यहाँ तक मत है कि रोमन पिता के समान उसके अधिकार अनियंत्रित थे। इसके समर्थन में वे वैदिक काल की कई घटनाओं को वे उद्धृत करते हैं। उदाहरण के लिए, ऋग्वेद के अनुसार वृषागिरि ने अपने पुत्र ऋजास्रवस की आँखें इसलिए फोड़ दी थीं कि उसकी असावधानी से उनकी सौ भेड़ों को भेड़िया खा गये थे। ऐतरेय ब्राह्मण में शुनःशेप की जो कथा पायी जाती है उसके अनुसार अजीगर्त ने अपने पुत्र शुनःशेप को बेंच दिया था। कठोपनिषद् से यह पता लगता है कि नचिकेता के पिता ने उसको यम के यहाँ भेज दिया था। परन्तु

१. अङ्गाद् अङ्गाद् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥
अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमसृतं भव॥ पारास्करगृह्यसूत्र, १.१६.१४

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ये कथाएँ रुपक अथवा प्रतीकात्मक हैं। अश्विन् ने ऋजास्रवस की आँखें फिर लौटा दी थीं। शुनः शेष वरुण के प्रसाद से वलि होने से बच गया था। नचिकेता को यम ने बहुत से वरदान के साथ इस लोक में वापस भेज दिया था। फिर भी ये कथाएँ प्रतीकात्मक होती हुई भी पिता के अधिकार का संकेत करती हैं।

आगे चलकर पिता के अधिकार क्रमशः कम होने लगे। यास्क ने निरुक्त में कहा है कि स्त्रियों (पुत्रियों) का दान, विक्रय और त्याग देखा जाता है पुरुषों का नहीं; परन्तु फिर वे कहते हैं, "पुरुषों (पुत्रों) का भी, ऐसा कुछ लोग कहते हैं, जैसे शुनःशेप का।" वसिष्ठ धर्मसूत्र में तो माता-पिता का वालकों के प्रदान, विक्रय और त्याग का अधिकार स्वीकार किया गया है। इसका कारण यह वतलाया गया है कि संतान माता-पिता के शुक्र-शोणित से उत्पन्न होती है। किन्तु वसिष्ठ ने एक प्रतिवन्ध लगाया है। पुत्र का दान (दत्तक के लिए) तभी हो सकता है जब उसका आर्थिक लाभ हो। इसके विरुद्ध आपस्तम्ब धर्मसूत्र में यह कहा गया है कि पिता को दान, विक्रय और त्याग का अधिकार नहीं है। पूर्व मीमांसा में सर्वमेध यक्ष के सम्वन्ध में कहा गया है कि पत्नी और पुत्र पर कोई स्वाम्य नहीं होता और वे दान में नहीं दिये जा सकते। मनुस्मृति में भार्या, पुत्र और दास को अधना कहा गया है और उनकी सम्पत्ति उनके पति, पिता और स्वामी के पास जाती है, परन्तु उनके दान, विक्रय और त्याग का अधिकार नहीं स्वीकार किया गया है।"[१] मनु ने पिता के दण्ड देने के अधिकार को स्वीकार किया है: "भार्या पुत्र, दास, शिष्य और सहोदर भाई यदि अपराध करें तो रज्जु अथवा वेणुदल से उनका ताडन करना चाहिए। परन्तु उनको पीठ पर ही मारना चाहिए, कभी भी शिर पर नहीं।"[२] परन्तु यह दण्ड हलका ही कहा जायेगा, कठोर नहीं। याज्ञवल्क्य, नारद और कात्यायन आदि स्मृतियों में पिता के निरंकुश अधिकारों को अस्वीकार कर दिया गया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार पत्नी और पुत्र को छोड़कर (परिवार की अन्य सम्पत्ति) अपने परिवार की सहमति से दान में दी सकती है। नारद ने तो पुत्र और दारा को स्पष्ट रूप से अदेय घोषित किया है। भाष्यों और निवन्धों के समय तक समाज का दृष्टिकोण इस प्रकार के अधिकारों के विरुद्ध स्पष्ट रूप से वदल गया।

पिता के अधिकार ही नहीं, उसके वहुत-से कर्तव्य भी थे। सन्तान के भरण-पोषण और शिक्षण का पिता के ऊपर अनिवार्य भार था। सन्तान की उत्पत्ति

---

१. भार्यापुत्रश्य दासश्च त्रय एवाधना स्मृताः।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनम्॥ मनु. ८.४१६

२. भार्या पुत्रश्च दासश्च शिष्यो भ्राता च सोदरः।
प्राप्तापराधास्ताड्याः स्युः रज्ज्वावेणुदलेन वा॥
पृष्ठतः शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथञ्चन॥ मनु. ८.२९९-३००।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और पालन द्वारा ही वह स्वयं पितृ-ऋण से मुक्त हो सकता था। यदि पिता की अनुमति से पुत्र कोई ऋण लेता था तो उसके चुकाने का भार भी पिता पर ही पड़ता था। हाँ, यदि पुत्र ने उसकी अनुमति के विना ऋण लिया तो उसको चुकाने का दायित्व पिता का नहीं होता था। पुत्रियों के पालन और शिक्षण का विशेष दायित्व पिता पर होता था, क्योंकि वे पवित्र न्यास (धरोहर) के रूप में पिता को मिलती थीं और उनको धार्मिक भाव से सुसंस्कृत रूप में लौटा देना कर्तव्य माना जाता था: "कन्या भी इसी प्रकार (पुत्र के समान) अतियत्न-पूर्वक पालनीया और शिक्षणीया है। उसको धन के सहित रत्न (आभूषणादि) से अलंकृत कर किसी विद्वान् और सुयोग्य वर को प्रदान करना चाहिए।"[१]

परिवार में पुत्र के अधिकार और कर्तव्य में भी क्रमशः परिवर्तन और विकास हुआ। पितृसत्तात्मक परिवार में पिता के व्यापक अधिकारों के होते हुए परिवार के अन्य सदस्यों के अधिकार स्वभावतः वहुत सीमित थे। परन्तु समाज ने अन्य सदस्यों के अधिकार भी क्रमशः स्वीकार कर लिए। पुत्र के अधिकारों के सम्बन्ध में दो सम्प्रदाय थे। एक था 'जन्मना सत्त्ववादी'—और दूसरा 'उपरमसत्त्ववादी'। पहला मानता था कि परिवार में जन्म लेने मात्र से ही पारिवारिक सम्पत्ति में पुत्र का अधिकार हो जाता है। पारिवारिक सम्पत्ति एक प्रकार का न्यास था, जिसके ऊपर परिवार का संयुक्त स्वाम्य था। पिता उसका एक वरिष्ठ सदस्य और व्यवस्थापक था। उसको पैतृक सम्पत्ति बेचने का अधिकार नहीं था; उसको पैतृक सम्पत्ति को सुरक्षित अपने उत्तराधिकारियों को सौंपना होता था। इस वाद के सबसे बड़े समर्थक याज्ञवल्क्य स्मृति के भाष्यकार विज्ञानेश्वर थे। पुत्र के अधिकार की रक्षा के लिए पिता के अधिकार पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये उनकी कठोरता को पीछे कम किया गया। वह परिवार के हित में अथवा पैतृक ऋण चुकाने के लिए परिवारिक सम्पत्ति का कुछ अंश का विक्रय अथवा प्रतिबन्ध कर सकता था।

उपरमसत्त्ववादी सम्प्रदाय के अनुसार पिता के उपरम अथवा देहावसान के पश्चात् ही पारिवारिक सम्पत्ति में पुत्र का अधिकार उत्पन्न होता था। पारिवारिक सम्पत्ति पर जीते जी पिता का अनियंत्रित अधिकार था। वह पारिवारिक सम्पत्ति का दान अथवा विक्रय कर सकता था, चाहे वह परिवार के हित में हो अथवा नहीं। इसमें तर्क यह है कि उस स्वाम्य का अर्थ ही क्या जिसमें उपयोग-सम्बन्धी पूर्ण अधिकार न प्राप्त हों। पिता के मरने पर ही पुत्र का अधिकार स्थापित हो सकता है। यह विधिक वाद रोमन विधि से मिलता जुलता है। इसके सम्प्रदाय के सबसे प्रसिद्ध समर्थक 'दायभाग' के लेखक जीमूतवाहन थे जो बंगाल के उत्तरमध्यकालीन निवासी थे। इन्होंने उपरम सत्त्ववाद को मनु के ऊपर

१. कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयाऽतियत्नतः।
देया वराय विदुषे धनरत्न समन्विता॥

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आधारित बतलाया। मनु के अनुसार "पिता और माता के मरण के पश्चात् भाइयों को एकत्र होकर पैतृक ऋक्थ का विभाजन करना चाहिए। उसके जीते जी वे अनीश (अनधिकारी हैं)।"[१] परन्तु व्यवहार में इसके अपवाद भी पाये जाते हैं। बहुत हद तक पिता के प्रति आदर-सम्मान के कारण उसके जीवन में पैतृक सम्पत्ति का बटवारा नहीं होता था। परन्तु यह प्रथा पीछे कठोर विधि के रूप में बदल गयी।

यह बात ध्यान देने की है कि भारत में पुत्र के अधिकार और देशों की अपेक्षा पहले स्वीकार कर लिए गये। इसके कई कारण थे। जिस समय भारतीय आर्यों ने समाज का संघटन किया और उसके लिए धर्मशास्त्र की रचना की उस समय तक उनकी सभ्यता बहुत उन्नत हो चुकी थी। भारतीय पिता भी स्नेह और प्रेम का प्रतीक था। ऋग्वेद में पिता प्रेम का उपमान माना गया है।[२] पुत्र की कामना और उसके लिए वात्सल्य भारतीय परम्परा का एक दृढ़ अंग रहा है। वेदों में अनेक पुत्रों के लिए प्रार्थनाएँ भरी पड़ी हैं। पिता-पुत्र में अभेद बुद्धि—आत्मा वै पुत्रनामासि'—यहाँ शीघ्र विकसित हुई। पिता के पारमर्थिक कल्याण के लिए पुत्र आवश्यक माना जाता था; इसलिए उसका मूल्य भारतीय समाज में बढ़ गया। आश्रम-व्यवस्था के कारण पिता प्रायः एक निश्चित अवस्था के बाद अपनी सम्पत्ति अपने आप छोड़ देता था। पिता के जीवन-काल में सम्पत्ति के बटवारे से भाइयों में संघर्ष कम होता था और छोटे भाइयों के साथ अन्याय होने की संभावना कम हो जाती थी। इन सभी कारणों ने पुत्र के मूल्य और अधिकार बढ़ाने में सहायता की।

भारतीय धर्मशास्त्र में पुत्र के कर्तव्यों का विस्तृत उल्लेख पाया जाता है। माता-पिता के प्रति आदर, उनकी सेवा और उनके सामने पूर्ण समर्पण पुत्र का प्रथम कर्तव्य था। यहाँ तक कि अर्थशास्त्र और नारदस्मति में भी, जो व्यावहारिक दृष्टि से लिखे गये थे, पिता के सम्मुख पुत्र अनीश्वर ही कहा गया है। नारद का कथन है कि वृद्ध होने पर भी यदि पिता जीवित हो तो पुत्र उसी के अधीन होता है।[३] पुत्र का यह अनिवार्य कर्तव्य होता है कि वह माता-पिता का पालन-पोषण करे।[४] पुत्र का यह भी कर्तव्य था कि पिता के जीवन में वह पैतृक सम्पत्ति का बटवारा न करावे। पैतृक ऋण को चुकाना भी पुत्र का परम कर्तव्य और विधिक दायित्व था।

---

१. अर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम्।
भजेरन् पैतृकं रिक्थं अनीशास्ते हि जीवितोः॥ मनुस्मृति, ९.१०४

२. पित्रो न पुत्रं हुवे। ऋग्वेद, ७.२२. ३।

३. अनिश्वराः पितृमन्तः पुत्राः। अर्थशास्त्र
जीवतोऽस्वतन्त्रः स्यात् जरयाऽपि समन्वितः। नारद।

४. वृद्धौ च माता-पितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत्॥

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भारतीय समाज में स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार का प्रश्न भी काफी विवादग्रस्त और मनोरंजक है। उनके साम्पत्तिक अधिकार को स्वीकार करने में प्रायः वे ही कठिनाइयाँ थी, और लैङ्गिक भी, जो पुत्र और परिवार के अन्य सदस्यों के सम्बन्ध में। भारतीय परिवार पितृसत्तात्मक और संयुक्त था। इसलिए पिता और उसके पश्चात् परिवार का प्रमुख पुरुष परिवार की सम्पत्ति का अभिभावक और व्यवस्थापक होता था। स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र धीरे-धीरे गृह हो गया और वे शरीर और स्वभाव से दुर्बल समझी जाने लगीं। अतः परिवार की सम्पत्ति की वाहरी और विधिक व्यवस्था से उनका सम्बन्ध धीरे-धीरे कम हो गया।

परन्तु पुत्र की तरह पत्नी, और सामान्यतः स्त्री, के अधिकार भी स्वीकृत किये गये। स्त्री दो प्रकार की सम्पत्ति पर अधिकार रख सकती थीं। एक प्रकार की सम्पत्ति थी स्त्री-धन जिस पर स्त्री का अवाधित अधिकार था। दूसरे प्रकार की सम्पत्ति थी पैतृक सम्पत्ति जिसको परिस्थिति विशेष में उत्तराधिकार के रूप में वह प्राप्त करती थी। किन्तु इसके उपयोग का उसको अवाधित अधिकार नहीं था; इसके लिए वह प्रायः माध्यम का कार्य करती थी और इसे सुरक्षित किसी पुरुष उत्तराधिकारी को सौंप देती थी।

स्त्री-धन के ऊपर स्त्री का अधिकार वहुत पहले स्वीकार किया गया। ऋग्वेद के सूर्यासूक्त में कन्या के साथ 'वहतु' (उपहार में दी हुई वस्तुएँ और द्रव्य) का उल्लेख है जिसे वह अपने साथ ले जाती थी।[1] तैत्तिरीय-ब्राह्मण में इस बात का स्पष्ट विधान है कि पत्नी विवाह के समय मिले हुए उपहारादि (पारिणेय) की स्वामिनी है।[2] पूर्व वैदिक काल में जब पर्दे का अभाव था, स्त्रियाँ सभा तथा समिति में भाग लेती थीं, युद्ध में जाती थीं, कृषि-व्यापार को सँभालती थीं तव उनको सम्पत्ति का भार सँभालने में कोई कठिनाई नहीं थी। परन्तु इस स्थिति में परिवर्तन हुआ; स्त्री के अधिकार संकुचित होने लगे। किन्तु जब सामान्य सम्पत्ति पर उसका अधिकार नहीं भी रहा तव भी स्त्री-धन पर उसका अधिकार बना रहा। धर्मसूत्रों ने स्त्री-धन को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया है। स्त्री-धन का एक वहुत बड़ा स्रोत था आसुर विवाह। इसके अन्तर्गत कन्या के पिता को जो कन्या-शुल्क मिलता था उसका अधिकांश तो उसी के पास रह जाता था, किन्तु स्नेहवश उसका कुछ अंश वह कन्या को भी देता था, जिससे वह अपने नये घर की व्यवस्था कर सके। कन्या के मरने के पश्चात् यह सम्पत्ति यदि सुरक्षित रही तो वह पितृ-गृह को लौट जाती थी। मनु ने स्त्री-धन के छः स्रोत माना है—(१) अध्यग्नि (विवाह के समय अग्नि के सम्मुख मिला हुआ उपहार), (२) अध्यवाहनिक (कन्या की विदाई के समय मिला हुआ अलंकार, द्रव्यादि), (३) प्रीति-कर्मों में दिया हुआ, (४) भाई (५) माता

---

१. ऋग्वेद, १.१४१.३।

२. पत्नी हि पारिणेयस्यांशे। ६.२.१.१।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और (६) पिता से प्राप्त धन।[१] परवर्ती शास्त्रकारों के अनुसार छः संख्या न्यूनतम है; अधिक संख्या की कोई सीमा नहीं (याज्ञ० पर विज्ञानेश्वर)। मनु ने स्त्री को जो अधना कहा है[२] उस पर भाष्य करते हुए कई टीकाकारों ने कहा है कि उसका तात्पर्य सम्पत्ति के ऊपर स्त्री के अधिकार का अभाव नहीं, अपितु उसका पारतंत्र्य प्रकट होता है। मनु का कथन है कि पारिवारिक सम्पत्ति के बटवारे के समय स्त्री-धन का दायादों द्वारा बटवारा नहीं हो सकता।[३]

दायभाग के अनुसार स्त्री-धन के ऊपर पत्नी का पति से स्वतन्त्र पूर्ण अधिकार था।[४] वह जैसा चाहे इसका उपयोग कर सकती थी। परन्तु मिताक्षर इस प्रश्न पर मौन है; संभवतः वह इसके ऊपर कुछ प्रतिबन्ध के पक्ष में है। कात्यायन के अनुसार स्त्री-धन के दो वर्ग हैं—(१) सौदायिक और (२) असौदायिक। सौदायिक पर, स्थावर सम्पत्ति के साथ, स्त्री का पूरा अधिकार है; असौदायिक पर बाधित। नारद स्थावर सम्पत्ति को छोड़कर सौदायिक पर स्त्री का पूर्ण अधिकार मानते हैं।[५] देवल के अनुसार स्त्री-धन पर पूरे अधिकार के लिए स्त्री में शील का होना अनिवार्य है: "जो पत्नी अपकार क्रियायुक्त हो, कुल की मर्यादा का पालन न करती हो; अर्थनाशिका हो; और व्यभिचाररता हो वह स्त्री-धन का उपयोग करने योग्य नहीं होती।"[६]

स्त्रीवधन के ऊपर पत्नी के जीते जी अथवा उसके निकट वैध सम्बन्धियों के होते हुए पति का कोई अधिकार नहीं होता था। परन्तु देवलस्मृति और व्यवहारमयूख के अनुसार वह आवश्यकता पड़ने पर स्त्री-धन से उधार ले सकता था। परन्तु उधार लिया हुआ धन उसे लौटाना पड़ता था।[७] याज्ञवल्क्य स्मृति में इसका अपवाद भी मिलता है: "दुर्भिक्ष, धर्मकार्य, व्याधि और सम्पत्तिरोध में लिया हुआ धन स्त्री को लौटाने की आवश्यकता नहीं।"[८] किन्तु स्वेच्छा से यह धन भी लौटाया जा सकता था।[९] यदि पति स्त्रीधन से ऋण लेकर मर जाय तो पुत्रों

१. अध्यग्न्यध्यवहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि।
भ्रातृ-मातृ-पितृ प्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनंस्मृतम्।। मनुस्मृति, ९.१९४
२. वही, ८.४१६।
३. पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत्।
न त भजेरन् दायादा भजमाना पतन्ति ते।। मनु स्मृति, १०.२००
४. भर्तृतः स्वातन्त्र्येण व्यवहर्तुं शक्नोति।
५. सा यथाकाममश्नीयाद्द्याद्वा स्थावरादृते।
६. अपकारक्रियायुक्ता निर्मर्यादा थनाशिका। व्यभिचार रता या च स्त्री धनं न च सार्हति।। —देवल, वीरमित्रोदय में उद्धृत।
७. व्यवहारमयूख में उद्धृत।
८. दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ सम्पतिरोधके।
गृहीतं स्त्रीधन भर्तान स्त्रियै दातुमर्हति।। याज्ञवल्क्यस्मृति, २.१४७
९. कात्यायन।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

को उसे अपने ऋण के समान ही लौटाना पड़ता था।[१] स्त्री धन की उत्तराधिकारिणी कन्याएँ होती थीं : "माता का जो यौतुक होवे वह कुमारी का भाग है।"[२] इसका कारण यह है कि प्रायः भाइयों के साथ पैतृक सम्पत्ति में कन्या को भाग नहीं मिलता था; अतः स्त्री-धन पर उसका एकाधिकार था। यदि पत्नी सन्तानहीन मर जाती थी तो ब्राह्म आदि प्रथम चार प्रशस्त विवाहों में स्त्री-धन पति को मिलता था; आसुर आदि द्वितीय चार अप्रशस्त विवाहों में स्त्री-धन पत्नी के पितृगृह को लौट जाता था।[३] स्त्री-धन का लड़कियों में जो वटवारा होता था वह औचित्य और आवश्यकता के ऊपर आधारित था। "सभी प्रकार के विवाहों में सन्तानवती होने पर दुहिता (लड़कियों) को ही स्त्री-धन मिलता था। दुहितृ-शब्द का अर्थ दुहिता का दुहिता भी है। वहाँ भी विवाहिता और अविवाहिता के वीच अविवाहिता को ही मिलता था। उसके अभाव में परिणीता को। उनमें से भी प्रतिष्ठिता-अप्रतिष्ठिता में से अप्रतिष्ठिता को मिलता है। उसके अभाव में प्रतिष्ठिता को।"[४] भारत के आधुनिक न्यायालय विज्ञानेश्वर की इसी व्यवस्था को प्रामाणिक मानते हैं।

पैतृक सम्पत्ति के ऊपर स्त्री का अधिकार भारतीय समाज में वरावर वाधित था। इसका मुख्य कारण परिवार का पितृ-सत्तात्मक स्वरूप था। शारीरिक क्षमता और कार्य-क्षेत्र सीमित होने के कारण पारिवारिक सम्पत्ति के उत्तराधिकार से वह पृथक् होती गयी। फिर भी कुछ विचारक ऐसा मानते रहे कि जब एक वार स्त्री-धन के स्वाम्य का अधिकार उसके पक्ष में स्वीकार कर लिया गया तो पारिवारिक सम्पत्ति के उत्तराधिकार और व्यवस्था का अधिकार स्त्री से नहीं छीना जाना चाहिए। परन्तु बहुमत स्त्रियों के उत्तराधिकार को बाधित रखने के ही पक्ष में था।

पुत्री के उत्तराधिकार को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) भाइयों के साथ और (२) भाइयों के अभाव में। भाइयों के साथ पुत्री का दाय-भाग प्राचीन काल में कभी स्वीकार नहीं किया गया था। ऋग्वेद में स्पष्ट कहा गया गया है कि पुत्रियाँ रिक्थ (पैतृक सम्पत्ति) की अधिकारिणी नहीं होतीं।[५] तैत्तिरीय संहिता में कथन है कि "स्त्रयाँ निरिन्द्रिया (दुर्बल) और अदायादा होती हैं।"[६] कुछ लोग मनु के इस वचन का कि "धर्मानुसार अविशेष रूप से मिथुन पुत्रों का

१. वही।
२. मातुः तु यौतुकं यत्स्यात् कुमारीभाग एव तत्। मनु०
३. अप्रजस्त्री-धनं भर्तुर्ब्राह्मादिषु चतुर्ष्वपि। दुहितृणां प्रसूता स्याच्छेशेषु पितृगामि तत्। विज्ञानेश्वर
४. विज्ञानेश्वर।
५. ऋग्वेद, ३.३१.२।
६. ६-५.८-२।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दाय होता है, ऐसा सृष्टि के आदि में मनु ने कहा।" यह अर्थ लगाते हैं कि 'मिथुन' शब्द से पुत्र और पुत्री दोनों का बोध होता है क्योंकि दोनों ही माता-पिता के अंग-अंग से उत्पन्न होते हैं। परन्तु 'अदायादा' शब्द बिलकुल इस व्याख्या के विरुद्ध जाता है। बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में भाइयों के साथ बहनों का अधिकार स्वीकार किया गया है। यह प्रश्न दूसरा है कि सामाजिक स्थिरता की दृष्टि से यह उचित है अथवा नहीं।

पुत्रों के अभाव में पुत्री का उत्तराधिकार बराबर स्वीकार किया गया है; यहाँ तक कि उसके सम्मुख चचा का अधिकार भी नहीं माना गया है।[1] मनु ने बड़े बल के साथ पुत्र के अभाव में पुत्री का अधिकार स्वीकार किया है, "जैसा आत्मा वैसा पुत्र; दुहिता पुत्र के समान है। इसलिए उस अपनी आत्मा (पुत्री) के रहते हुए (पैतृक) धन को दूसरा कौन हरण कर सकता है?"[2] महाभारत में भी इसका समर्थन पाया जाता है।[3] भाई के अभाव में राजकुमारियाँ तक राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त करती थीं। परन्तु यह स्मरण रखने की बात है कि स्त्रियाँ इस प्रकार के उत्तराधिकार में माध्यम मात्र थीं। वे अपने भावी पुत्र की ओर से ही उत्तराधिकार प्राप्त करती थीं; भाइयों के साथ अथवा अपने पुत्र के साथ उनके दाय का प्रश्न नहीं उठता। वे अपने पुत्र की अभिभाविका हो सकती थीं।

विधवा के उत्तराधिकार का प्रश्न भी बड़ा विवादग्रस्त रहा है और विधवा का उत्तराधिकार बहुत पीछे स्वीकार किया गया। आपस्तम्ब और बौधायन-धर्मसूत्रों में विधवा को पति की उत्तराधिकारिणी नहीं स्वीकार किया गया है।[4] वसिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार विधवा को केवल भरण-पोषण का अधिकार है, उत्तराधिकार का नहीं। अर्थशास्त्र में यह कथन है कि "अपुत्र की सम्पत्ति साथ रहने वाले भाइयों को मिलना चाहिए।"[5] मनु ने भी कहा है कि "अपुत्र की सम्पत्ति पिता को और उसके अभाव में भाइयों को मिलना चाहिए।"[6] मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि "पिता और भाई न रहने पर अपुत्र का धन माता को मिलना चाहिए और माता के मरने पर पिता के भाइयों को मिलना चाहिए।"[7] इस तरह

---

१. ऋग्वेद, २.१७-७।

२. यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥ मनुस्मृति, १०.१३०।

३. शान्तिपर्व, २।

४. आप. २.१४.२.४; बौधा. २.२.५३।

५. द्रव्यम् अपुत्रस्य सोदर्यः भ्रातरः सहजीवनः।

६. पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च। मनुस्मृति ९.१८५

७. अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम्॥ मनु० ९.२१७।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हम देखते हैं कि विधवा का उत्तराधिकार मनुस्मृति के समय तक स्वीकार नहीं किया गया था। ईसा पूर्व प्रथम शती तक विधवा का उत्तराधिकार नहीं माना जाता था। कालिदास ने अभिज्ञान-शाकुन्तल में यह कहलाया है कि अपुत्र का धन विधवा को न मिलकर राज्य को प्राप्त होगा (अनपत्यस्य तस्य राजगामी सञ्चयः)। हो सकता है कि यह अधिक पुरानी परम्परा का उल्लेख हो। इसका एक कारण तो स्त्री के उत्तराधिकार के प्रति समाज का विरोध अथवा उदासीनता थी; आर्थिक दायित्व के लिए स्त्रियाँ स्वभावतः दुर्वल और अक्षम समझी जाती थीं। किन्तु दूसरा कारण पारिवारिक और व्यावहारिक था। सम्पत्ति का स्वाम्य और स्वरूप पारिवारिक था; सम्पत्ति परिवार के बाहर किसी रूप में नहीं जानी चाहिए। विधवा के बारे में यह प्रायः संभावना अथवा आशंका रहती थी कि वह अपना परिवार छोड़कर दूसरे परिवार में जा सकती थी। अतः संयुक्त और पितृ-सत्तात्मक परिवार में उसको उत्तराधिकार देना उस समय की सामाजिक व्यवस्था के अनुसार व्यवाहारिक नहीं था।

परन्तु आगे चलकर सामाजिक परिवर्तन के कारण इस दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुआ। मनुस्मृति के पूर्व भी यास्क ने 'निरुक्त' में कन्या और पुत्र के समान अधिकार स्वीकार किया था। यास्क ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि दक्षिणाची (दाक्षिणात्या स्त्री) अपने पति का रिक्क्थ प्राप्त करने के लिए समिति में जाती थी। धर्मसूत्रकारों में गौतम ने आधे मन से विधवा का अधिकार माना है। विष्णु ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।[१] याज्ञवल्क्य विधवा के अधि-कारों के प्रखर समर्थ हुए। इन्होंने कहा है कि "(किसी पुरुष के उत्तराधिकारी क्रम से) पत्नी, दुहिता, माता-पिता, भाई, उसकी गोत्रजा सुता, बन्धु, शिष्य, सब्रह्मचारी (गुरुभाई) होंगे।"[२] याज्ञवल्क्य से बढ़कर बृहस्पति ने विधवा के अधिकार का समर्थन किया :"आधे शरीर (पत्नी) के जीते जी किस प्रकार दूसरा व्यक्ति (पति का रिक्थ) पा सकता है? पिता, सहोदर भाई आदि कुल्यों (पारिवारिक व्यक्तियों) के रहते हुए भी अपुत्र पति के मरने पर उसके रिक्थ की अधिकारिणी पत्नी ही होगी।"[३] वृद्धमनु के अनुसार "अपुत्रा विधवा पति के शयन (पातिव्रत्य) के प्रति सच्ची रहती हुई, व्रत में स्थित, उसके पिण्ड और सम्पूर्ण अंश को प्राप्त करे।"[४] इसी को प्रजापति ने दुहराया है, "पतिव्रता पत्नी ही (पति के

१. अपुत्रस्य धनं पत्न्यभिगामि। तदभावे दुहितृगामि। १७.४३।

२. पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा।
तत्सुता गोत्रजा बन्धु शिष्य सब्रह्मचारिणः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति।

३. जीवति अर्द्धशरीरे तु कथमन्यत्समाप्नुयात्।
कुल्येषु विद्यमानेषु पितृ-भ्रातृसनाभिषु॥
असुतस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी। बृहस्पति।

४. अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता
पत्न्येव तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

रिक्‌थ को) प्राप्त करे।"[१] याज्ञवल्क्य के टीकाकार ज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य की परम्परा को पल्लवित करते हुए विधवा के अधिकार का समर्थन जोरदार शब्दों में किया। विधवा के उत्तराधिकार के विरुद्ध एक तर्क यह था कि पारिवारिक सम्पत्ति यज्ञार्थ होती है और क्योंकि विधवा यज्ञ करने की अधिकारिणी नहीं है अतः वह पारिवारिक रिक्‌थ की अधिकारिणी नहीं बन सकती। विज्ञानेश्वर ने इस तर्क का खण्डन किया। विज्ञानेश्वर ने कहा कि यज्ञ ही एक मात्र पुरुषार्थ नहीं है; काम और अर्थ भी महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ है। स्त्रियाँ यदि श्रौत नहीं तो स्मार्त धर्म सभी कर सकती है; अतः धार्मिक आधार पर भी वे पारिवारिक सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी हो सकती हैं। विधवा के उत्तराधिकार के संरक्षण का एक कारण और भी दिखायी पड़ता है और वह वैधव्य-व्रत का पालन। इसके पूर्व विधवा के साथ नियोग से पुत्रोत्पत्ति और उसका पुनर्विवाह दोनों संभव थे। परन्तु धीरे-धीरे प्रथम प्रथा बिलकुल बन्द हो गयी और दूसरी प्रथम तीन वर्णों में लुप्त हो गयी। अब विधवा निश्चित रूप से पति के परिवार में आजीवन रहने लगी। अतः उसके उत्तराधिकार से पारिवारिक सम्पत्ति के छिन्न-भिन्न होने का भय नहीं था। परन्तु विधवा का यह अधिकार भी सीमित और बाधित था। वैसे तो संयुक्त परिवार में पुरुष उत्तराधिकारी के अधिकार भी सीमित थे; फिर विधवा स्त्री का तो और भी सीमित था।

प्राचीन भारतीय दण्ड-विधान में इस बात पर बल दिया गया है कि राजा को निष्पक्ष होकर न्याय करना चाहिए।[२] परन्तु निष्पक्षता का अर्थ समता नहीं, अपितु शास्त्र में जो दण्ड विहित है उसका निष्पक्ष प्रयोग करना चाहिए। साथ ही सिद्धान्त रूप से यह माना गया है कि अपराध और दण्ड की गुरुता परिस्थिति विशेष के कारण घटती बढ़ती रहती है। वसिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार दण्ड की कल्पना देश, काल, धर्म, वय, विशेषकर विद्यास्थान, हिंसा, आक्रोश आदि देख कर करना चाहिए।[३] याज्ञवल्क्य ने भी दण्ड-विधान के आधार का निरूपण इस प्रकार किया है: "अपराध के स्वरूप, देश, काल, बल, वय, कर्म और वित्त (भौतिक साधन) को जानकर अपराधी को दण्ड देना चाहिए।"[४] इन सिद्धान्तों का प्रयोग तत्कालीन वर्णाश्रम व्यवस्था पर किया गया, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का स्थान उसकी प्रकृति और सांस्कृतिक स्तर पर अवलम्बित है। इसलिए दण्ड-विधान भी अधिकार-भेद और अवस्था भेद पर अवलम्बित है; समानता के सिद्धान्त पर नहीं। अतः आधुनिक समता के सिद्धान्त की दृष्टि से प्राचीन भारतीय विधान में बहुत-सी विषमताएँ देख पड़ेंगी।

---

१. लभेत् पतिव्रता नारी एष धर्मः सनातनः।

२. मनुस्मृति, ८।

३. दण्डस्तु देशकालधर्मवयो विद्यास्थान विशेषैः हिंसा क्रोशयो कल्प्यः।

४. ज्ञात्वायपराधं देशं च कालं बलमथावि वा।
वयं कर्म क वित्तं च दण्डं दण्डयेषु पातयेत्॥ याज्ञवल्क्य स्मृति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अवस्था-भेद के ऊपर आधारित दण्ड-विधान की विषमताएँ उत्तर वैदिक काल से ही मिलनी प्रारम्भ हो जाती हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों और सूत्रों में नर-हत्या के लिए रक्त-शुल्क का विधान विभिन्न लर्णों के लिए विभिन्न प्रकार से किया गया है। आपस्तम्ब और गौतम धर्मसूत्रों के अनुसार क्षत्रिय का रक्त-शुल्क एक हजार गाय; वैश्य का एक सौ गाय; और शूद्र का दस गाय था; इसके अतिरिक्त प्रत्येक हत्या के दण्ड में एक साँड राजा को देना पड़ता था।[1] एक स्त्री की हत्या का रक्त-शुल्क उतना ही था जितना एक शूद्र का।[2]

वर्ण, जाति और लिङ्ग के आधार पर धर्मस्थीय (दीवानी) और कंटक-शोधन (फौजदारी) दोनों प्रकार के अभियोगों में अनेक प्रकार के भेद पाये जाते हैं अधिकार, कर्तव्य और आयोग्यताएँ सभी वर्ण, जाति और लिङ्ग से प्रभावित औंर संचालित होती थीं। इसी प्रकार दण्ड और क्षतिपूर्ति भी वादी और प्रतिवादी अथवा अभियुक्त के सामाजिक पद के अनुसार निर्धारित होते थे। वर्ण-भेद और लिङ्ग भेद का सिद्धान्त न्यायालयों के संघटन, साक्षियों की योग्यता, प्रमाण आदि पर भी लागू होता था। यद्यपि वैदिक काल में वर्ण भेद अभी स्थिर नहीं हुआ था; उसमें परिवर्तन संभव था; परन्तु आर्य और आर्येतर का भेद स्पष्ट दिखायी देता है। वर्णों में ब्राह्मण का महत्त्व और उसी विधिक सुविधाएँ भी मिलती हैं।

---

१. आपस्तम्ब, १.९.२४, १–४; गौतम, २२. १३–१६।

२. बौधायन, १.९.१९.३ दण्ड-विधान की यह विषमता भारत तक ही सीमित नहीं थी; दूसरे देशों और जातियों में और भीषण रूप में पायी जाती थी; और आधुनिक युग तक चली आयीं हैं। भारत में ब्रिटिश राज्य के समय जो दण्ड-विधान सन् १९२३ ई० तक प्रचलित था उसमें प्रजातीय विषमताएँ वर्तमान थीं। इसके अनुसार युरोपियन ब्रिटिश प्रजा, युरोपियन और अमेरिकन को विशेष सुविधाएँ प्राप्त थी। बेचुआना-लैण्ड का शासक त्शेकेडी इसलिए पदच्युत कर दिया गया था कि उसने एक युरोपियन निवासी को कोड़े लगाने का दण्ड दिया था। इसी प्रकार "ब्रेट्स और स्काट्स के दण्ड-विधान में स्काट्स के राजा का रक्त-शुल्क एक हजार गाय; किसी सामन्त के पुत्र का रक्त-शुल्क एक सौ गाय और एक दास का सोलह गाय था। केलटिक और टयूटन लोगों में भी यही विधान प्रचलित था। किसी व्यक्ति का रक्त-शुल्क उसके पद, जन्म और कार्य के अनुसार निश्चित था। नार्मन युग के इंगलिश दण्ड विधान में भी एक दास का रक्त-शुल्क चार पौण्ड था, जब कि किसी अभिजात पुरुष का पचीस पौंड था" (इ. वेस्टरमार्क: दि ओरिजिन एण्ड डेवलेपमेंट आफ मॉरल आइडियाज, जिल्द १, पृ० ४३१)। कैम्ब्रियन विधान के अनुसार एक स्त्री का रक्त-शुल्क उसके भाई के रक्त-शुल्क के आधे के बराबर था (वही, पृ० ४२०)।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

स्त्री-पुरुष का भेद भी स्पष्ट मिलता है। तत्कालीन विधि के ऊपर इन सभी का प्रभाव पड़ा था।

परवर्ती काल में नारद ने इस प्रकार दण्ड का विधान किया है: "यह दण्ड-विधि सभी के लिए सामान्य रुप से (अविशेषेण) कही गयी है। केवल ब्राह्मण के लिए वध छोड़ कर क्योंकि ब्राह्मण वध के योग्य नहीं होता। उसका सिर से मुण्डन, नगर से निष्कासन, ललाट पर अभिशाप का चिह्न और गधे पर चढ़ाकर उसका प्रयाण कराना ही दण्ड है।"[१] यम के अनुसार "किसी भी ब्राह्मण का शारीरिक दण्ड नहीं होता। उसको किसी गुप्त स्थान में कारागार में डालकर उसके भोजन की व्यवस्था कर देनी चाहिए।"[२] परन्तु आततायिता के अपराध में प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार था कि वह हत्या का उद्देश्य रखने वाले व्यक्ति का वध करे, चाहे वह गुरु, बालक, वृद्ध अथवा वेदविद् ब्राह्मण ही क्यों न हो।[३]

वर्ण-भेदमूलक अनेक विधिक विषमताओं के बीच उसका एक मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण अंग भी है। मान-हानि और वाक्-पारुष्य के अपराधों में दण्ड वर्ण की हीनता के अनुसार बढ़ता था अर्थात् इन अपराधों में सबसे कम दण्ड ब्राह्मण को; उससे अधिक क्षत्रिय को; उससे अधिक वैश्य को और सबसे अधिक शूद्र को। इसका आधार यह था कि जिसके साथ अपराध करने से उसको अधिक आत्म-ग्लानि और वेदना हो, उसके अपराधी को उत्तरोत्तर अधिक दण्ड मिले। लोभ और चौर्य के अपराधों में दण्ड वर्ण की वरीयता के अनुसार वढ़ता था अर्थात् इन अपराधों में सबसे कम कदण्ड शूद्र को; उससे अधिक वैश्य को; उससे अधिक क्षत्रिय को; और उससे अधिक ब्राह्मण को मिलता था। लोभ और चौर्य के अपराध में सबसे अधिक दण्ड राजा को मिलता था। इसका कारण यह है कि वरीयता के क्रम से ऊपरी वर्ण के लोगों से अपेक्षा की जाती थी कि वे अपराध के गुरुत्व को अधिकाधिक जानते थे। इसलिए जान-बूझ कर अपराध करने से दण्ड वढ़ जाता था।

मान हानि के अपराध में सत्य बोलने मात्र से छुटकारा नहीं मिलता था; दण्ड अवश्य मिलता था।[४] यदि कोई क्षत्रिय ब्राह्मण का अपमान करता था तो उसे सौ पण का अर्थ दण्ड होता था। यदि वैश्य ब्राह्मण का अपराध करता था

---

१. अविशेषेण सर्वेषामेष दण्डविधः स्मृतः।
बधादृते ब्राह्मणस्य न बधं ब्राह्मणोऽर्हति॥
शिरसो मुण्डनं दण्डस्तस्य निर्वासनं पुरात्।
ललाटे चाभिशस्ताङ्कः प्रणाणं गदूभेन च॥ नारद

२. न शारीरो ब्राह्मणस्य दण्डो भवति कस्यचित्।
गुप्ते तु बन्धने बद्धा राजा भक्तं प्रदापयेत्॥यम

३. मनुस्मृति ८.३५०।

४. नारद १५-१६, २१।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तो उसे डेढ़ अथवा दो सौ पण का अर्थ-दण्ड होता था। यदि कोई शद्र ब्राह्मण का अपमान करता था तो उसे शारीरिक दण्ड दिया जाता था। परन्तु यदि कोई ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र का अपमान करता था तो उसे क्रमशः पचास, पचीस अवेर बारह पण का अर्थ-दण्ड मिलता था। समान वर्ण में मान-हानि के अपराध में बारह पण अर्थ-दण्ड होता था। यदि कोई शूद्र द्विजाति का घोर अपमान करता था तो उसे जिह्वा-छेदन का दण्ड मिलता था।

चौर्य के अपराध में शूद्र की अपेक्षा वैश्य और क्षत्रिय को दूना और चौगुना दण्ड मिलता था। शूद्र की अपेक्षा ब्राह्मण को आठ गुना दण्ड मिलता था;[१] कभी-कभी सोलह गुना।[२] यदि राजा स्वयं चोर हो तो उसे शूद्र की अपेक्षा एक हजार गुना अधिक दण्ड का विधान था।[३] राजा को जो अर्थ-दण्ड देना पड़ता था, वह या तो जल में फेंक दिया जाता था अथवा दानरूप में ब्राह्मणों में वितरित कर दिया जाता था। इसका कारण यह समझा जाता था कि वरुण दण्ड का स्वामी है, जो सभी को (ब्राह्मण—राजा-समेत) दण्ड देता है; किन्तु वेदविद ब्राह्मण सभी वर्णों का गुरु और सारे विश्व का स्वामी है, अतः वह राजा द्वारा दिये हुए अर्थ-दण्ड को पचा सकता है।

केवल निषिद्ध कर्म करने से ही अपराध नहीं होता था; अपितु विहित कर्म न करने से भी अपराध होता था। यदि कोई व्यक्ति चोर, डाकू अथवा हिंस्र पशु से आक्रान्त होकर चिल्लाता था और कोई सुनकर उसकी सहायता के लिए नहीं दौड़ता था तो वह दण्ड का भागी होता था। यदि किसी गाँव पर डाका पड़े, किसी जलाशय का बाँध टूट रहा हो, यदि किसी सड़क पर लूट मच जाय, और कोई व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार सहायता न करे तो उसे मनुस्मृति के अनुसार अपने बोरिया-बँधना के साथ देश-निकाला का दण्ड मिलता था।[४] याज्ञ-वल्क्य स्मृति के अनुसार इस प्रकार के व्यक्ति को अर्थ-दण्ड मिलता था।[५] नदी तट के ग्रामवासी यदि डूबते हुए व्यक्ति को नहीं बचाते तो वे दण्ड के भागी होते थे।[६] व्याघ्र अथवा अन्य वन्य जन्तु के चंगुल में फँसे व्यक्ति को बचाने के लिए यदि कोई पुरुष दौड़कर नहीं जाता था तो उसे दण्ड मिलता था।[७]

अपने कर्तव्य के पालन में प्रमाद अथवा पक्षपात करने के लिए राजकीय अधिकारियों और कर्मचारियों को भी दण्ड दिया जाता था। न्यायाधीशों को जिन

---

१. मनुस्मृति ८.२६७-२७२।
२. वही ८.३३७-३३८।
३. वही ८.३३६।
४. मनुस्मृति, ९.२७४।
५. याज्ञवल्क्य, २.२३४।
६. अर्थशास्त्र (मैसूर संस्करण) पृ० २०६।
७. वही, पृ० २०७।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अपराधों के लिए दण्ड मिलता था वे ये थे—धमकी देना, आँख मारना, वादी-प्रतिवादियों को न्यायालय से निकाल देना अथवा चुप कर देना। इन अपराधों के लिए प्रथम धिग्दण्ड मिलता था। यदि वादी-प्रतिवादी में से किसी को वह अपमानित करता अथवा गाली देता तो उसका दण्ड दूना हो जाता था। यदि वह जो पूछना चाहिए वह नहीं पूछता; जो नहीं पूछना चाहिए वह पूछता है; अथवा जो पूछ चुका है उसे छोड़ देता है; यदि किसी को सिखाता, याद दिलाता अथवा अपने पूर्व वक्तव्य का उपयोग कराता है तो उसे मध्यम दण्ड मिलता है। जब कोई न्यायाधीश आवश्यक परिस्थितियों का पता नहीं लगाता, अनावश्यक परिस्थितियों की खोज-बीन करता है; न्याय करने में विलम्ब करता; द्वेषवश काम स्थगित करता; वादी-प्रतिवादी को थका कर न्यायालय छोड़ने के लिए विवश करता; समझौता करने में बाधा डालता; साक्षियों को अभियोग का रहस्य बतलाता; समझौते से निश्चित अभियोगों को पुनः न्यायालय में प्रविष्ट करता तो उसको उत्तम दण्ड मिलता। यदि वह अपराधों की पुनरावृत्ति करता तो उसे दूना दण्ड मिलता और अपदस्थ कर दिया जाता।"[१] इसी प्रकार दूसरे कर्मचारियों को भी दण्ड मिलता था।

साक्षियों से यह आशा और अपील की जाती थी कि वे सत्य बोलेंगे। "साक्ष्य में सत्य बोलता हुआ साक्षी पुष्कल दिव्य लोकों को प्राप्त करता है। इस लोक में सर्वोत्तम कीर्ति उसको मिलती है। उसकी वाणी ब्राह्मणों से पूजी जाती है। साक्ष्य में असत्य बोलते हुए पुरुष वरुण के भीषण पाशों से बँधता है। विवश होकर अनेक योनियों में भटकता है। इसलिए सत्य ही बोलना चाहिए। साक्षी सत्य से पूजित होता है। धर्म सत्य से बढ़ता है। इसलिए साक्षियों द्वारा सभी वर्णों के साथ सत्य ही बोलना चाहिए। आत्मा ही आत्मा का साक्षी है; आत्मा ही आत्मा की गति है। अतः मनुष्यों के उत्तम साक्षी आत्मा का अपमान नहीं करना चाहिए। यदि कोई पापी यह समझता है कि उसके असत्य को कोई देखता नहीं, तो वास्तव में देवता उसको देखते हैं; और उसका अन्तरात्मा उसको देखता है। द्यौः (आकाश), भूमि, आप (जल), हृदय, चन्द्र, अर्क (सूर्य), अग्नि, यम, पवन, रात्रि, सन्ध्या, और धर्म सभी देहधारियों के चरित्र को जाननेवाले हैं।"[२] किन्तु इस अपील में वर्णानुक्रम से भेद था। ब्राह्मण से केवल बोलने को कहा जाता था, क्योंकि यह समझा जाता था कि ब्राह्मण से इतना कहना पर्याप्त है। क्षत्रिय से सत्य बोलने को कहा जाता था। वैश्य को चोरी के पाप का भय दिखा कर सत्य बोलने को कहा जाता था। शूद्र को भयंकर दुःखदायी पापों का भय दिखा कर सत्य बोलने की आज्ञा दी जाती थी।[३] सत्य की इतनी महिमा दिखाने

---

१. अर्थशास्त्र (मैसूर संस्करण), पृ० २२२।
२. मनुस्मृति, ८.८१–८६।
३. वही, ८.१०२।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के पश्चात् भी किन्हीं सन्दर्भों में पवित्र उद्देश्य से साक्ष्य में झूठ बोलना अपराध नहीं माना जाता था। जव कभी सत्य वोलने से किसी वैश्य अथवा शूद्र; क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण की मृत्यु की आशंका हो तो झूठ बोला जा सकता था। केवल कुछ प्रायश्चित्त करने से इस प्रकार के असत्य वोलने से उत्पन्न पाप का क्षय हो जाता था।[१]

दण्ड-विधान व्यापक और सार्वभौम था। शास्त्रकारों ने इस वात की घोषणा की है कि कोई भी व्यक्ति, चाहे वह राजा का कितना हू निकट सम्वन्धी हो, यदि वह विधि और धर्म का उल्लंघन करता है, तो वह दण्ड से वच नहीं सकता। याज्ञवल्क्य का कथन है, "जिस किसी ने विधि का उल्लंघन किया है वह राजा द्वारा दण्ड से मुक्त नहीं किया जा सकता, चाहे वह भले ही, भांई, पुत्र, पूज्य (गुरु आदि), श्वसुर, मातुल हो।"[२] मनुस्मृति में तो यहाँ तक कहा है कि राजा भी दण्ड से वंचित नहीं हो सकता। किसी अपराध के लिए राजा को साधारण व्यक्ति की अपेक्षा हजार गुना अधिक दण्ड मिलना चाहिए। भारतीय पुराण में ऐसे दृष्टान्तों का अभाव नहीं है जव राजाओं और न्यायाधीशों ने अपने सगे सम्वन्धियों और अपने को स्वतः दण्ड दिया। इसलिए धर्मशास्त्र में किसी न्यायालय से अभियोग स्थानान्तरित कराने की परम्परा प्रायः नहीं थी।

---

१. मनुस्मृति, ८.१०३ क्रमशः। इस प्रकार के असत्य की छूट प्रायः सभी धर्मों में पायी जाती है। प्रारम्भिक ईसाई धर्म के अनुसार सभी असत्य पापमय नहीं होते। पाप की मात्रा बोलनेवाले के उद्देश्य और विषय पर अवलम्बित होती है। टॉमस एक्विनास का कथन है कि असत्य भयानक पाप नहीं है यदि इसका उद्देश्य दया का विरोधी न हो। यूनानी पादरियों ने इस बात को माना है कि सभी असत्य झूठ नहीं यदि इसका उद्देश्य न्याय्य हो। और न्याय्य उद्देश्य केवल आत्म-रक्षा ही नहीं, अपितु ईश्वरीय सम्मान के लिए कोई भी उत्साह कार्य (देङ इ० वेस्टरमार्क।: दि ओरिजिन एण्ड डेवलेपमेंट ऑफ दि मॉरल आइडियाज, जिन्द २ पृ० ९९–१०१)। जरमीटेलर के अनुसार "अपने मित्र, सन्तान, अपना, अच्छे और वीर पुरुष का जीवन बचाने के लिए कौन नहीं निर्दोष झूठ बोलेगा?" (वही, पृ० १०४)।

२. याज्ञवल्क्य स्मृति।

द्रष्टव्य साहित्यः— (१) वैदिक संहितायें, (२) उपनिषदें (३) धर्मसूत्र (४) स्मृतियाँ, (५) भाष्य, (६) निवन्ध, (७) म. काणेः हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द ३, (८) पी. एन. सेनः हिन्दू जेरिसप्रूडेन्स, (८) शिवस्वामी ऐयर : इवोल्यूशन ऑफ हिन्दू मॉरल आइडियल्स।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

४. आधुनिक नैतिक प्रवृत्तियाँ

भारत में आधुनिक नैतिक प्रवृत्तियों के दो स्रोत हैं। एक पश्चिम और पूर्व का सम्पर्क और दूसरा आधुनिक अनुसन्धान तथा आविष्कार से उत्पन्न पर्यावरण, उद्योगीकरण तथा नगरीकरण और उनसे प्रभावित मानसिक स्थिति। सोलहवीं शती के पश्चात् भारत क्रमशः पश्चिमी देशों के सम्पर्क में आने लगा। पहले तो भारत का सामान और प्रभाव बाहर जाता था। परन्तु यूरोप में वैज्ञानिक तथा औद्योगिक क्रांति के बाद परिस्थिति बदल गयी। वहाँ से सामान के साथ नयी सभ्यता, धर्म, साहित्य, आचार-विचार भी आने लगे। इस प्रकार पाश्चात्य सम्पर्क आधुनिकता का माध्यम बन गया। इसके पूर्व धर्म और आचार-विचार की दृष्टि से दो आघात भारत पर पड़ चुके थे—एक ईसाई धर्म का और दूसरा इस्लाम का। सेंट टॉमस के आगमन के समय से ही ईसाई धर्म भारत में वर्तमान था; परन्तु था वह एक सन्त-सम्प्रदाय के रूप में और भारतीय वातावरण में। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के बाद उसके आघात और प्रभाव की प्रखरता बढ़ गयी और लोगों का आकर्षण उसके प्रति बढ़ा। इसी प्रकार इस्लाम आठवीं शती के प्रारम्भ में ही भारत में आ गया था और उसके आघात-प्रतिघात होते रहे। परन्तु भारतीय प्रतिरोध के कारण उसका व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा। मुगल साम्राज्य के पतन के बाद, राजनीतिक गर्मी कम होने पर, इस्लामी और भारतीय धाराओं का मिलन अधिक व्यापक हुआ; ह्रासोन्मुख इस्लामी प्रवृत्तियाँ पतनोन्मुख भारतीय प्रवृत्तियों से जुटने लगीं। किन्तु इसके पूर्व कि इनका समन्वय होता, आधुनिक प्रभाव आने लगे।

परन्तु पश्चिम और पूर्व के भौगोलिक आघात-प्रतिघात से कहीं अधिक तीक्ष्ण और तीव्र आघात और प्रभाव आधुनिक अनुसन्धानों और आविष्कारों का पड़ा है। वैज्ञानिक और औद्योगिक क्रांतियों ने न केवल मानव जीवन के भौतिक उपादानों और साधनों को बदल दिया है, परन्तु मानव जीवन की सामाजिक और मानसिक प्रवृत्तियों को आमूल विकम्पित और परिवर्तित कर दिया है। अतीत के किसी भी सेना और शासन से ये अधिक वेगवती और प्रभावशालिनी हैं। गत डेढ़-दो शतियों में विज्ञान के द्वारा जो जीवन का विस्फोट और परिवर्तन हुआ है वह इतिहास के इसके पूर्व दस सहस्र वर्षों में भी नहीं हुआ था। सबसे बड़ा परिवर्तन तो यह हुआ है कि मनुष्य के सोचने-विचारने और आचरण करने का ढंग ही बदल गया है। वह जीवन के महत्त्व, उपयोगिता, ध्येय और आदर्श के बारे में एक नये ढंग से सोचने लगा है। इस कारण से नैतिक मूल्यों के स्वरूप, क्षेत्र और आदर्श के सम्बन्ध में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं।

सर्वप्रथम परिवर्तन हुआ है नैतिक मूल्यों के स्रोत के सम्बन्ध में। अभी तक नीति के स्रोत ईश्वर, श्रुति, स्मृति, परम्परा, प्रथा आदि रहे हैं। मनुष्य इनको स्वीकार कर बिना किसी तर्क-वितर्क के चिर-प्रचलित अथवा बहु-प्रचलित मार्ग

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पर चलता रहा है। उसका विश्वास और अतीत के प्रति आदर ही उसके पथ-प्रदर्शक रहे हैं। परन्तु तथ्य को जानने के लिए विज्ञान ने जिस विश्लेषणात्मक पद्धति का विकास किया है वह बुद्धि और तर्क को ही ज्ञान और आचरण में प्रमाण मानती है। केवल बुद्धि और तर्क का आश्रय विश्वास और परम्परा दोनों का विरोधी है। जो विश्वासमूलक वस्तु बुद्धि और तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती उसको आधुनिक मनुष्य मानने को तैयार नहीं है। नीति उसके लिए विश्वास, शास्त्र और परम्परा की बात नहीं है। वह तर्क, व्यवहार, उपयोगिता और सुविधा के आधार पर अपनी जीवन-पद्धति का निर्माण करना चाहता है। इसलिए उसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सन्देह और प्रश्न करना प्रारम्भ कर दिया है; प्रगति के नाम पर नये प्रयोग करना और नयी दिशा पर चलना साहस का काम समझा जाता है। इस प्रयोग में विरोध, संघर्ष और विध्वंस सभी का पर्याप्त प्रदर्शन हो रहा है।

वैज्ञानिक और औद्योगिक क्रांति का जो प्रभाव पश्चिमी देशों पर पड़ा है उसी का आघात भारत पर बड़े वेग से हो रहा है। पाश्चात्य शिक्षित वर्ग में परम्परागत धर्म का प्रभाव बड़े जोरों से ह्रासोन्मुख है। अब वहाँ के अधिकांश लोग ईसाई-धर्म को आचार-शास्त्र अथवा आचार-संहिता न मानकर उसको जीवन का एक दृष्टिकोणमात्र मानते हैं। अधिक से अधिक उसको जीवन-मूल्यों का एक मानदण्ड स्वीकार करते हैं, परन्तु उसके अनुसार चलना आवश्यक नहीं मानते। बाइबिल में वर्णित सृष्टि विज्ञान को आज कोई मानने को तैयार नहीं है। ईसा को कोई ईश्वर-पुत्र नहीं मानता; केवल एक सन्त और सदाचारी पुरुष मानता है। यहाँ तक कि ईश्वर भी अमूर्त मूल्यों का एक प्रतीक मात्र समझा जाता है। यह तो आस्तिकों की स्थिति है; नास्तिकों का तो पूछना ही क्या; वे तो धर्म और ईश्वर दोनों को अनावश्यक समझते हैं। आस्तिक लोगों में भी धार्मिक भावना क्षीण होती जा रही है। डीन इंज का कथन है कि गिरिजा-घरों में यदि बाइबिल का ही उपदेश जारी रहा हो तो कुछ दिनों में वे बिलकुल खाली हो जायेंगे।[१] इसी प्रकार पादरी गोर बड़े निराश शब्दों में कहते हैं, "आज रूढ़िवादी धर्मविज्ञान की ही तरह परम्परागत और स्वीकृत ईसाई धर्म के नैतिक मानदण्ड घृणा, उपहास और आक्रोशपूर्ण तर्क के द्वारा आक्रान्त हो रहे हैं—केवल यौन-सम्बन्धी नैतिकता ही नहीं, अपितु आत्म-त्याग, सेवा, उदारता और दया आदि की कल्पनाएँ भी। आधुनिक लोकप्रिय साहित्य पैतृक और धार्मिक अधिकार तथा नम्रता एवं पवित्रता की भावनाओं से बिलकुल मुक्त और स्वतंत्र व्यक्ति की वासनाओं की अभिव्यक्ति चाहता है।"[२]

अब प्रश्न यह है कि भारत पर इस आघात की क्या प्रक्रिया है? यूरोप

---

१. डीन इंज : क्रिश्चियन एथिक्स एण मार्डन प्राबलेम्स, पृ० २९८

२. बिशॉप गोर : फिलॉसाफी ऑफ दि लाइफ, पृ० १४।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और अमेरिका की अपेक्षा भारत की सामान्य जनता अधिक परम्परावादी और धर्मभीरु है; इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि नये प्रकाश और उद्योग का सर्वव्यापक प्रभाव अभी तक उस पर नहीं पड़ा है। निम्नस्तर के जन-साधारण और स्त्रियों में बहुत से अंधविश्वासों के साथ धार्मिक भावना सुरक्षित है। परन्तु जहाँ तक भारत के शिक्षित जनता का प्रश्न है उसके कई वर्ग किये जा सकते हैं। एक तो आधुनिक विचारधारा से अत्यन्त प्रभावित और उद्घोष-पूर्वक नास्तिक हैं जो धर्म को अन्धविश्वास, अनावश्यक और कुछ तो घातक, समझते हैं और परप्परागत धर्म पर आधारित आचार-विचार को खुलकर कोसते और उसे त्याज्य समझते हैं। उन उग्र आधुनिकों में नवयुवकों की संख्या अधिक है। भारतीय धर्म और दर्शन के जिन तत्त्वों और उन पर आधारित आचार-विचार को विदेशी समझने की चेष्टा कर रहे हैं, उनको भी उखाड़ फेंकने का ये अथक और घोरतम प्रयत्न कर रहे हैं। दूसरा वर्ग ऐसा है जो वौद्धिक दृष्टि से धर्म और नीति के प्रति उदासीन है, परन्तु परम्परागत आचार-विचारों को सुविधा के लिए मानता जा रहा है। जो लोग धर्म और उस पर आधारित नीति में विश्वास करते हैं उनके भी कई वर्ग हैं। प्रथम तो वे हैं जिनको हम पुनरुत्थानवादी कह सकते हैं, जो पुराने शास्त्रों पर अवलम्वित आचार और नीति को उसी रूप में पुनरुज्जीवित करना चाहते हैं और शास्त्र में विहित सिद्धान्तों की विलक्षण व्याख्या करते हैं। इनका दूसरा वर्ग वह है जो पुराने आचार-विचारों को विज्ञान-सम्मत और युक्ति-युक्त वनाकर विज्ञान से समझौता करना चाहता है और इस प्रकार अपनी धार्मिक भावनाओं को सुरक्षित रखने के प्रयत्न में है। प्रत्येक वर्ग में जनता का कितना अंश है, यह वतलाना कठिन है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि भारत में धर्मप्रवण जनता की संख्या अभी काफी बड़ी है।

भारतीय नीति के कर्मकाण्डीय स्वरूप पर सवसे अधिक आघात हुआ है। जिन कर्मों को लोग अदृष्ट और अपूर्व समझकर करते थे उनमें विश्वास हिल चुका है; उनका पालन यत्र-तत्र केवल प्रथा के रूप में अवशिष्ट है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नीति का यह पहलू दुरूह और निष्प्राण हो चुका था। फिर भी कर्मकाण्डीय जीवन के सरलीकरण और परिवर्तित रूप में उसके पालन करने की प्रवृत्ति अभी वची है। यदि इसका संशोधन और परिवर्तन चलता रहा तो किसी न किसी रूप में यह सुरक्षित रहेगा। नीति के सार-तत्वों से इसका सम्वन्ध बनाये रखना आवश्यक है। जो निष्प्राण और अनावश्यक है उसकी सुरक्षा निसर्गतः असंभव है।

कर्मकाण्डीय नीति के साथ-साथ वर्णाश्रण नीति और जाति-प्रथा के ऊपर भी गहरा आघात हुआ है। वर्णाश्रम धर्म का सम्वन्ध जीवन की विशिष्ट नीति से रहा है, अर्थात् सामान्य नीति के पालन के साथ मनुष्य को अपने वर्ण विशेष (सामाजिक वर्ग) और आश्रम विशेष (व्यक्तिगत जीवन में अवस्था विशेष) में किस प्रकार आचरण करना चाहिए, इस वात पर वर्णाश्रम धर्म विकसित हुआ था। परन्तु आजकल के साम्यवादी विचारों और भोगवादी प्रवृत्तियों ने क्रमशः

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ण और आश्रम के प्रति अनास्था और विरोध उत्पन्न कर दिया है। न तो वर्ण-नीति के प्रति आग्रह है और न आश्रम-धर्म का पालन। समाज में अव्यवस्था और अनाचार का यही मूल कारण है। वृत्ति-संकर वर्ण-संकर से कहीं अधिक भयंकर और दुष्परिणामी है। फिर भी वर्ण और आश्रम के समूल नष्ट होने की संभावना नहीं है। समाज के विभिन्न वर्गों और जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के लिए कोई-न-कोई आचार-संहिता आवश्यक होगी। गणितीय साम्यवाद और अनियंत्रित भोगवाद स्वतः थक कर मानव को पुनः विनीत और संयत जीवन के वारे में सोचने और उसका पालन करने का अवसर देंगे । किसी न किसी रूप में वर्णाश्रमी नीति रहेगी, क्योंकि इसका आधार सामाजिक जीवन में निसर्ग से निहित है। परन्तु जाति-प्रथा पर जो आघात हुआ है उसका स्वरूप वर्णाश्रम नीति के ऊपर के आघात से भिन्न है। जाति का आधार नैसर्गिक न होकर कृत्रिम है। उसका आधार जन्म, विवाह, भोजन और वंशानुगत व्यवसाय है। आधुनिक युग में जन्म से अपने सारे भविष्य को वाँध देने के लिए कोई तैयार नहीं है। भोजन का प्रतिवन्ध चाहे सिद्धान्त में भले ही सुरक्षित हों, व्यवहार में प्रायः समाप्त हो चुका है। जातिगत विवाह का बन्धन सहभोज से कड़ा रहा है, परन्तु यह शिथिल हो रहा है। वर्ण तो अनुलोभ और प्रतिलोम विवाह को स्वीकार ही करता था, जन्ममूलक जाति ने अनुलोभ और प्रतिलोम विवाहों को निषिद्ध कर रखा था। पर ये निपेध अब दुर्बल हो रहे हैं। वैज्ञानिक आविष्कार, उद्योगीकरण और नगरीकरण के कारण वंशानुगत व्यवसाय का प्रतिबन्ध टूट चुका है; केवल उसका प्रवाहमात्र वच रहा है। लगता यह है कि जात्याचार का भविष्य मुहरवन्द सा हो रहा है। जाति-प्रथा के समर्थक यह कह सकते हैं कि जाति-प्रथा अतीत में बहुत से आघातों को सहन कर चुकी है और वर्तमान आघात को भी सहकर वनी रहेगी। परन्तु वे इस बात को भूल जाते हैं कि आधुनिक आघात पुराने आक्रमणों से बलवान् हैं। सैनिक आक्रमणों, प्रशासकीय अत्याचारों और वर्गीय विरोधों से जाति-प्रथा को उतना संकट नहीं था, जितना कि आधुनिक विचारों और पर्यावरण से है। ये जाति पर वाहर से आक्रमण नहीं करते; भीतर से उसकी नींव ही खोखली कर दिये हैं। ऐसी किसी प्रथा के भी जीवित रहने की संभावना नहीं है जो मनुष्य की बुद्धि, विवेक और सुविधा के अनुकूल अपने को नहीं बनायेगी। इस दृष्टि से जाति-प्रथा अपनी ऐतिहासिक उपयोगिता खो चुकी है और उसका कोई भविष्य नहीं है।

पारिवारिक जीवन और नीति पर आधुनिक प्रवृत्तियों का घातक प्रभाव पड़ा है। भारत में अभी तक परिवार एक स्थानीय पितृ-सत्तात्मक और संयुक्त रहा है। परिवार के प्रति ममता, स्नेह, भक्ति और परिवार के सदस्यों के योग-क्षेम का दायित्व इसकी विशेषता रही है। आधुनिक आघातों से इसका विघटन हो रहा है। जीविका के लिए निरन्तर स्थानान्तरण, उद्योगीकरण, नागरिक जीवन की ओर प्रवाह तथा व्यक्तिवादी विचार क्रमशः पारिवारिक भावनाओं को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

क्षीण कर रहे हैं। अभी तक परिवार मानव-चरित्र के निर्माण के लिए प्राथमिक शैक्षणिक संस्था कीं काम करता रहा है। इसके विघटन से चारित्रिक विकास का मार्ग विकृत हो रहा है। इसका स्थान दूसरी संस्थाएँ—बच्चों का घर, शिशु-विहार, बाल पाठशालाएँ आदि—नहीं ले रही हैं, क्योंकि इनका स्वरूप बहुत कुछ यांत्रिक है। इनमें उन भावनाओं का अभाव है जो परिवार के विविध सम्बन्धवाले व्यक्तियों में होता है। माता-पिता, काका-काकी, भाई-बहन (सगे और चचेरे) आदि सम्बन्धियों से जो स्नेह और सहायता मिलती है वह आधुनिक संस्थाओं में प्राप्त नहीं होती। इससे मानव का ठीक तरह से समाजीकरण नहीं हो पा रहा है; वह केवल भीड़ और समूह बनकर रह जाता है।

परिवार का मुख्य अंग विवाह और विवाहित जीवन रहा है। इसके द्वारा स्त्री और पुरुष के यौन-सम्बन्ध का नियंत्रण और निर्वाह, सन्तानोत्पत्ति, बच्चों का पालन-पोषण और शिक्षण सहस्राब्दियों से होते रहे हैं। परन्तु इधर विवाह संस्था और संयत यौन-जीवन के सम्बन्ध में उदासीनता और अवहेलना उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इसका सबसे अधिक प्रभाव नवयुवकों पर पड़ रहा है। विवाह-संस्था पर आघात कई दिशाओं से हो रहा है। समाज में धीरे-धीरे एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो रहा है जो विवाह-संस्था को अनावश्यक मानता है। उसके मत में विवाह एक पूँजीवादी संस्था है जिसके द्वारा एक व्यक्ति का दूसरे पर एकाधिकार स्थापित होता है; अतः पूँजी की तरह विवाह का भी विघटन होना चाहिए। इसके अनुसार अविवाहित यौन-सम्बन्ध में कोई दोष नहीं है। इस प्रकार का सम्बन्ध अपनी इच्छा और सुविधा के अनुसार जोड़े और तोड़े जा सकते हैं। दूसरा वर्ग इतना क्रांतिकारी नहीं है, परन्तु वह विवाह को सांस्कारिक संस्थान न मानकर उसे एक सामाजिक अनुबन्ध, एक व्यावहारिक व्यापार मानता है। इसके अनुसार भी विवाह का चिरस्थायी और आमरणान्तक होना आवश्यक नहीं। इन विचार-धाराओं का परिणाम समाज में पहले रागात्मक सम्बन्ध, फिर पारिवारिक कलह और अन्त में सम्बन्ध-विच्छेद के रूप में दिखायी पड़ रहा है। इनके कारण समाज में अनियंत्रित यौन-व्यापार, शिथिल विवाहित सम्बन्ध और पारिवारिक विघटन की प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं। विवाह-सम्बन्ध विच्छेद की प्रथा बढ़ने से क्रमिक बहुविवाह और यौन-व्यभिचारों की संख्या भी बढ़ रही है। सबसे शोचनीय बात तो यह है कि इस प्रकार के कृत्यों के प्रति समाज में नैतिक आक्रोश कम होता जा रहा है।

जैसा कि पहले संकेत किया गया है इस परिस्थिति के मुख्यतः दो कारण हैं। एक तो है कोरा बुद्धिवाद और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति की माँग। यह प्रवृत्ति परम्परागत मूल्यों में आस्था कम करती और व्यक्तिगत भोगेच्छा को बढ़ाती है। दूसरा कारण है उद्योगी-तथा-नगरीकरण। इससे समाज का नवयुवक वर्ग ग्रामीण और पारिवारिक वातावरण और नियंत्रण से हट कर नगरों और अपरिचित वातावरण में खिच जाता है। अतः वह उन व्यक्तियों के प्रभाव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और नियंत्रण से दूर हो जाता है जो उसको जानते हैं और जिनके सामने सामाजिक स्वच्छन्दता और प्रमाद के कृत्य करने में वह संकोच करता। उसको आर्थिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त हो जाती है। और विभिन्न प्रकार के लोगों के साथ मिलने की सुविधाएँ भी अधिक मिलती हैं। फिर भी नगरों में बाहर से आयी हुई जनसंख्या के लोगों की इतनी आमदनी नहीं होती कि वे स्वतन्त्र रूप से अपना निजी परिवार चला सकें। अतः वे अनियमित और क्षणिक सम्बन्ध को ही चुनते हैं। अन्य सहकारी कारणों में आर्थिक विवशता अथवा स्वेच्छा से बहुत समय तक विवाह को टालना भी यौन-सम्बन्ध की शिथिलता का कारण है। अधिक वय तक अविवाहित युवक और युवतियाँ कठोर संयम और अवैध यौन-सम्बन्ध के बीच दोलायमान रहते हैं। संयम का मार्ग स्वभावतः कठिन होता है, अतः दूसरी ओर ही फिसलने की अधिक संभावना रहती है।

अभी तक समाज में यौन-पवित्रता का भार पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों पर अधिक रहा है। पुरुषों को बहुत सी छूटें रही हैं जब कि स्त्रियों के ऊपर कठोर नियंत्रण रखा गया है। इस दोहरे नैतिक मापदण्ड के प्रति प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही था। स्त्रियों के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन और साम्यवादी प्रवृत्तियों ने इस नैतिक भेद-भाव पर गहरा आघात किया है। नैतिक समता दो ही प्रकार से स्थापित हो सकती थी। या तो पुरुषों की स्वच्छन्दता कम की जाती और उन पर नियंत्रण बढ़ाया जाता या स्त्रियों को वे सभी छूटें दी जाती जो अब तक पुरुषों को प्राप्त थीं। पहला विकल्प आजकल की प्रवृत्तियों के विरुद्ध है। इसलिए दूसरा विकल्प ही सरल है। आज से पचास वर्ष पहले के स्त्री-स्वातन्त्र्य के समर्थक पुरुषों की स्वच्छन्दता को नियंत्रित करना चाहते थे और उनके दोषों को सीमित करने का प्रयत्न करते थे। आज के स्त्री-स्वातंत्र्यवादी स्त्रियों को स्वछन्द और स्वैरिणी होने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। यौन-स्वतन्त्रता के ऊपर अब पुरुषों का एकाधिकार नहीं है।

स्त्रियों के नैतिक जीवन को स्त्री-स्वातन्त्र्य की एक और प्रवृत्ति ने प्रभावित किया है। स्त्री अब आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होना और सभी क्षेत्रों में, जहाँ पर प्रकृति का प्रतिबन्ध नहीं है, पुरुष का प्रतियोगी बनना चाहती है। स्वतंत्र जीविका और स्वतन्त्र-जीवन प्रायः साथ-साथ चलते हैं। स्वतन्त्र जीविका और विवाहित जीवन के दायित्वों में ठीक मेल नहीं बैठता। आज की प्रबुद्ध महिला अपनी स्वतंत्र जीविका और जीवन-स्वातन्त्र्य छोड़कर विवाहित जीवन में नहीं फसना चाहती। यदि उसने विवाह कर भी लिया तो स्वतन्त्र जीविका के लिए वह पति और परिवार से अलग रहना पसन्द करती है। धीरे-धीरे विवाहित जीवन के प्रति उसमें उदासीनता और अनास्था बढ़ती जा रही है। उसकी स्वतन्त्र जीविका, सामाजिक जीवन, मनोरंजन, आमोद-प्रमोद और स्वतंत्र गति-विधि में विवाहित जीवन बाधक है। उसकी दृष्टि में जीवन की इन प्रवृत्तियों का मूल्य संयमित एवं श्रमसाध्य विवाहित जीवन से बहुत अधिक है। आधुनिक आविष्कारों ने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

निर्बन्ध जीवन के लिए स्त्री को प्रोत्साहित किया है। संतति-निरोध के आधुनिक उपायों ने विवाह किये बिना ही उसको यौन-सुख प्राप्त करने और स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने का अवसर प्रदान किया है। यदि स्त्री में कभी वात्सल्य-भावना जागृत भी हुई तो वह इस प्रकार का परिवार बनाना चाहती है जिस पर उसका पूरा अधिकार हो और जिसके लिए उसको किसी के साथ स्थायी रूप से प्रतिबन्ध में रहना न पड़े। इस प्रकार वह परम्परा से विहित विवाह को आवश्यक नहीं समझती।

सामान्य नीति के क्षेत्र में भी क्रांतिकारी परिवर्तन दिखायी पड़ते हैं। शास्त्रों ने जो सामान्य नीति का माप-दण्ड रखा था उसमें धृति, क्षमा, दम, अस्तेय (अचौर्य), शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी (विवेक), विद्या (ज्ञान), सत्य, अक्रोध, आदि का प्रथम स्थान था। यहाँ धर्म और नीति दोनों मिल जाते थे और नैतिक जीवन की यही आधार-शिला थी। आधुनिक युग में यह आधारशिला हिल चुकी है। इसका कारण यह है कि नीति के अंतिम मूल्यों की चिन्ता न कर आज का मानव तात्कालिक चालू और बाजारू मूल्यों का अधिक मान करता है। यह उद्योग और व्यापार के अनियंत्रित विस्तार का प्रभाव है। इससे समाज में अर्थ का अपरिमित महत्त्व बढ़ गया है और सम्पूर्ण जीवन का व्यापारीकरण हो गया है। दो अनैतिक और असामाजिक प्रवृत्तियों ने परम्परागत नैतिक मूल्यों को दबा दिया है। ये हैं—(१) लोभ और (२) हिंसा। व्यापार में लोभ और राजनीति में हिंसा की प्रधानता है। आज इन्हीं प्रवृत्तियों का गुप्त रूप से लास्य और प्रकट रूप से ताण्डव हो रहा है। इनके कारण सारा वातावरण विषाक्त है और सारे नैतिक मूल्य विकृत हो रहे हैं और उलट रहे हैं। आज के मानव में धृति (धैर्य) नहीं है किसी बात को सोचने और समझने के लिए; वह एक विचित्र जल्दी में है; कहीं वह भागता-दौड़ता हुआ जा रहा है; ठहरना और विचारना नहीं चाहता। बिना ठहरे और सोंचे न तो नैतिक मूल्य दिखायी देते हैं और न समझ में आते हैं और फिर उनके पालन की तो बात ही क्या? क्षमा का स्थान प्रतिशोध ने ले लिया है। अपने प्रति किये हुए अपराधों को कोई भूलने को तैयार नहीं है। वह अपराधी को नष्ट किये बिना सन्तोष करना नहीं चाहता। इसका कारण यह है कि भूल और अपराध करनेवाले के प्रति कोई सहानुभूति नहीं और और न तो विभिन्न परिस्थितियों में पड़े हुए मनुष्य की दशा को समझने की प्रवृत्ति। दम अथवा आत्म-संयम एक पुरानी और अनावश्यक बात मानी जाती है। जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति के नाम पर वासनाओं का नग्न प्रकाशन जीवन का एक नया मार्ग बन रहा है। यह भय दिखाकर कि दमित वासनाओं से मानव जीवन में ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, मानव को अनियन्त्रित काम और भोग की ओर प्रवृत्त किया जा रहा है। अस्तेय का स्थान गुप्त अथवा प्रकट (संघटित) पर-सत्वापहरण ने ले लिया है। जो अपनी वास्तविक कमाई का नहीं है; जो दूसरों का भाग अथवा अंश है उसको आत्मसात् करने के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनन्त मार्गों का आविष्कर हो चुका है कई नामों और संघटनों के द्वारा। शौच का परम्परागत अर्थ था मानसिक, वाचिक और कायिक सफाई। अब सफाई के नाम पर वस्त्र और चेहरे की सफाई पर ही विशेष जोर है। अधिक से अधिक भौतिक वातावरण की सफाई पर बल है। परन्तु वचन में परुषता तथा अश्लीलता वढ़ती जा रही है और मन में तो वासनाओं के कूड़ा-करकट का पहाड़ इकट्ठा होता जा रहा है। दम (आत्म-संयम) के ही समान इन्द्रिय-निग्रह भी उपहास का विषय बन रहा है। इसको काय-क्लेश और अनावश्यक माना जा रहा है। इन्द्रियों का उन्मुक्त उपयोग ही जीवन का सुख समझा जाता है। जिह्वा-सुख के लिए अनियंत्रित भोजन, उपस्थ-सुख के लिए अनियंत्रित यौन-सम्वन्ध, चक्षु और श्रवण-सुख के लिए सिनेमा आदि व्यसनों में आसक्ति वढ़ती जा रही है। धी (विवेक) के स्थान में आवेगों और आवेशों का प्रवाह है। इनके झोंके से मानव कटे पतंग की भांति अस्त-व्यस्त है। विवेक के अभाव में न तो वह अपने प्रस्थान को पहचान पाता है और न अपनी दिशा का निर्धारण कर पाता है। विद्या (ज्ञान) का सम्बन्ध धीरे-धीरे धर्म (जीवन के नियामक तत्त्व) और मोक्ष (वन्धनों से पूर्ण स्वातन्त्र्य) से छूटता जा रहा है; अर्थकरी और कामकरी विद्या (जानकारी) का अपूर्व विस्तार हो रहा है। इसके बीच धर्म-ज्ञान और मोक्ष-शास्त्र की चर्चा 'रतिकाले वेदान्तकथनमिव' उपहास का विषय है। सत्य का आग्रह वहुत शिथिल हो गया है। वास्तव में सत्य और असत्य का भेद प्रायः लुप्तप्राय हो गया है। मनुष्य अव असत्य को निस्संकोच सत्य के समान दृढ़ता से बोलने लगा है। लोक-हित-मूलक असत्य की कुछ छूट तो शास्त्रों ने भी दे रखी थी। सत्य की एक परिभाषा 'अत्यन्तलोकहितम्' भी था। परन्तु आज का असत्य अत्यन्त आत्मगत और स्वार्थमूलक है। इस असत्य-व्यापार से सारी निष्ठाएँ और विश्वास समाप्त हो रहे हैं। कौन विश्वसनीय और कौन अविश्वनीय है यह कहना कठिन है। मनुविहित धर्म का अंतिम लक्षण अक्रोध के स्थान पर बात-बात में क्रोध, रोष, मत्सर, वैर आदि दिखायी पड़ते हैं। इसका कारण है मानस में काम और लोभ का आवास। जहाँ काम और लोभ में बाधा बड़ती है वह क्रोध उभड़ आता है। जव तक समाज में सरलता थी तव तक क्रोध आकर भी शीघ्र शान्त हो जाता था। अब जीवन की जटिलता के कारण वह ग्रन्थियों में उलझ स्थायी क्रोध अथवा वैर और मत्सर के रूप में प्रकट होता है।

आधुनिक नैतिक प्रवृत्तियों के संकेत का यह अर्थ नहीं कि ये सर्वव्यापी हैं और आज समाज में नीति का स्थान नहीं है। आज भी नीति के द्वीप-द्वीपान्तर शेष हैं, यद्यपि अनीति और अनाचार का समुद्र चारों ओर लहरें मार रहा है। इन प्रवृत्तियों का विकास भी सहसा और अकस्मात् नहीं हुआ है। ऐसा कोई युग इतिहास में नहीं गया है जब इन प्रवृत्तियों का सर्वथा अभाव रहा है। परन्तु आधुनिक युग में ये प्रवृत्तियाँ प्रखर रूप में सामने आ रही हैं। भारत के प्राचीन चिन्तकों और दूरदर्शियों ने युग-कल्पना में इस बात की कल्पना की थी कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

युगक्रम से नीति और धर्म उत्तरोत्तर क्षीण होते जायेंगे। उनके अनुसार कृतयुग में धर्म के चार पाद (पैर), त्रेता में तीन, द्वापर में दो और कलियुग में एक ही पाद रह जाता है। यह जीवन की जलिटताओं का परिणाम है। पुराणों में कलियुग के भयानक चित्र पाये जाते हैं। महाभारत, भागवत-पुराण आदि में कलि का निम्नांकित चित्र प्रस्तुत किया गया है :

"हे राजन्! बली काल के प्रभाव से ज्यों-ज्यों कलियुग आता जायेगा त्यों-त्यों उत्तरोत्तर धर्म, सत्य, शौच, क्षमा, दया, आयु, बल और स्मृति नष्ट होती जायेंगी।१। कलियुग में जिसके पास धन होगा उसी को लोग कुलीन, सदाचारी, और सद्‌गुणी मानेंगे। जिसके हाथ में शक्ति होगी वही धर्म और न्याय की व्यवस्था अपने अनुकूल करा सकेगा।२। दाम्पत्य सम्वन्ध में केवल अभिरुचि हेतु होगी और व्यवहार में माया। स्त्री के शील और पुरुष के चरित्र का महत्त्व केवल रति-कौशल में होगा। ब्राह्मणत्व केवल यज्ञोपवीत से ही जाना जायेगा।३। वस्त्र, दण्ड, कमण्डलु आदि से ब्रह्मचारी, सन्यासी आदि आश्रमियों की पहचान होगी। एक दूसरे का चिह्न स्वीकार कर लेने से ही आश्रम-परिवर्तन समझा जायेगा। जिसके पास घूस देने के लिए धन नहीं होगा उसको न्याय नहीं मिलेगा। पाण्डित्य केवल वचन की चपलता से प्रकट होगा।४। असाधुता की एक ही पहचान होगी वह दरिद्रता। जिसके पास दम्भ अधिक होगा वह साधु माना जायेगा। विवाह में एक-दूसरे की स्वीकृति ही पर्याप्त होगी, किसी धार्मिक संस्कार की आवश्यकता नहीं होगी। केवल प्रसाधन स्नान होगा, पानी की आवश्यकता न होगी।५। दूर घूमना ही तीर्थ होगा, निकट के तीर्थों की अवहेलना होगी। केश-धारण करना सुन्दरता समझी जायेगी। अपने पेट का पालन करना ही पुरुषार्थ समझा जायेगा और धृष्टता से बात करना सत्य।६। अपने कुटुम्ब का पालन करना चातुर्य और अपने यश के लिए धर्म का सेवन होगा। इस प्रकार जब दुष्ट प्रजा के द्वारा पृथ्वी-मण्डल आकीर्ण हो जायेगा, तब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में जो बली होगा वही राजा होगा। दस्युकर्मा, पापी और लोभी राजाओं के द्वारा जब प्रजा के बाल-बच्चे और धन हरण कर लिए जायेंगे तव वह जंगल और पहाड़ पर चली जायेगी। और उसको शाक, मूल, मांस, मधु, फल, पुष्प, गुठली आदि ही भोजन के लिए मिलेंगे।७-९। दुर्भिक्ष और कर से पीड़ित प्रजा अनावृष्टि के कारण नष्ट हो जायेगी। शीत, वात, आतप, वर्षा, हिम का परस्पर उत्पात होगा।१०। क्षुधा, प्यास, रोग और चिन्ता से लोग सन्तप्त होंगे। कलयुग में मनुष्यों की आयु २०-३० वर्ष की होगी।११। कलि के प्रभाव से प्राणियों के शरीर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

छोटे-छोटे क्षीण और रोग-ग्रस्त होंगे। वर्ण और आश्रम का धर्म बतलानेवाला वेद-पथ नष्ट हो जायेगा।१२। धर्म में पाखण्ड की प्रचुरता होगी। राजा प्रायः दस्यु होंगे। मनुष्यों में चौर्य, असत्य, वृथा हिंसा आदि की प्रवृत्तियाँ प्रधान होंगी।१३। सभी वर्ण के लोग शूद्रप्राय और गायें प्रायः बकरियों के समान होंगी। सभी आश्रमों के लोग—ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासी—गृहस्थ के समान आचरण करेंगे। सभी सम्बन्धों में यौन-सम्बन्धी की प्रधानता रहेगी।१४। वनस्पति अणुप्राय (छोटी) होंगी और वृक्ष शमी के समान छोटे और कंटीले होंगे। बादलों में बिजली बहुत चमकेगी, किन्तु वर्षा कम होगी। गृहस्थों के घर स्वाहा-स्वधाकार के शब्दों से शून्य होंगे,।१५। इस प्रकार कलि के गतप्राय होने पर लोग खरधर्मी अर्थात् गधे के समान विषयी और भार ढोनेवाले बन जायेंगे।१६।"[१]

"कलियुग के सब राजा आचार-विचार में म्लेच्छप्राय होंगे। ये सब एक ही समय भिन्न-भिन्न प्रदेशों में राज्य करेंगे। ये अधार्मिक और असत्यभाषी होंगे। अल्प दान करनेवाले और अत्यन्त क्रोधी होंगे।४०। स्त्री, बालक, गौ और ब्राह्मणों के वध करनेवाले और दूसरों की स्त्री और धन हरण करने में तत्पर होंगे। इनका उदय और अस्त शीघ्र-शीघ्र होगा। इनकी शक्ति और आयु स्वल्प होगी।४१। ये असंस्कृत, क्रियाहीन तथा रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत होंगे। ये राजा का रूप धारण करनेवाले आचरणभ्रष्ट शासक अपनी प्रजा का ही भक्षण करेंगे।४२। देश में जब ऐसे लोगों का प्रभुत्व होगा तो देश के निवासी भी उन्हीं के समान शील, आचार और भाषण में होंगे। शासक तो उनका विनाश करेंगे ही, वे आपस में भी लड़कर नष्ट हो जायेंगे।४३।"[२]

यह भयंकर नैतिक ह्रास का साहित्यिक और कल्पनाप्रधान चित्रण है। परवर्ती साहित्य में भी युगह्रास के ऐसे वर्णन पाये जाते हैं। अन्य पुराणों के जो मध्ययुगीन संगृहीत अंश हैं उनमें कलि-धर्म और कलिवर्ज्य के खण्ड मिलते हैं। यहाँ तक कि रामचरित मानस, जो सोलहवीं शती की रचना है, उसमें भी कलियुग का घोर वर्णन पाया जाता है:

"धन-मद-मत्त परम वाचाला।
उग्र बुद्धि उरदंभ विसाला।।

× × ×

१. श्रीमद्भागत, द्वादश-स्कन्ध, २.१-१६।
२. श्रीमद्भागत, द्वादश-स्कन्ध, १.४०-४३।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कलि-मल ग्रसे धर्म सब लुप्त भये सद ग्रन्थ ।
दंभिन्ह निज मत कल्पि कर प्रगट किये बहुपंथ ।।
भये लोग सब मोहवस लोग ग्रसे सुभ कर्म ।

× × ×

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी ।
श्रुतिविरोध रत सब नर नारी ।।
द्विज श्रुतिबेचक भूप प्रजासन ।
कोउ नहि मान निगम अनुसासन ।।
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा ।
पंडित सोइ जो गाल बजावा ।।
मिथ्यारंभ दंभरत जोई ।
ता कहँ संत कहइ सब कोई ।।
सोइ सयान जो परधन हारी ।
जो कर दंभ सो बड़ आचारी ।।
जो कह झूठ मसखरी जाना ।
कलियुग सोइ गुनवंत बखाना ।।
निराचार जो श्रुतिपथ त्यागी ।
कलिजुग सोइ ग्यानी सो विरागी ।।
जाके नख अरु जटा विसाला ।
सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला ।।

असुभ भेस भूषन धरे भच्छाभच्छ जे खाहिं ।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं ।।
जे अपकारी चार तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ ।
मन क्रम वचन लवार तेइ वकता कलिकाल महुँ ।।

नारि विवस नर सकल गोसाईं ।
नाचहिं नट मर्कट की नाईं ।।
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहि ग्याना ।
मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना ।।
सब नर काम-लोभ-रत क्रोधी ।
देव-बिप्र-श्रुति-संत-विरोधी ।।
गुन मंदिर सुन्दर पति त्यागी ।
भजहिं नारि पर पुरुष अभागी ।।
सौभागिनी विभूषन हीना ।
विधवन्ह के सिंगार नवीना ।।
गुर सिष बधिर अंध का लेखा ।
एक न सुनइ एक नहि देखा ।।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हरइ सिष्य धन सोक न हरई ।
सो गुरु घोर नरक महुँ परई ।।
मातु पिता बालकहिं बुलावहिं ।
उदर भरे सोइ धर्म सिखावहिं ।।
ब्रह्मग्यान बिनु नारि नर कहहिं न दूसर बात ।
कौड़ी लाग लोभ बस करहिं बिप्र गुरु घात ।।
बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुमते कछु घाटि ।
जानइ ब्रह्म सो विप्रवर आंखि देखावहिं डाटि ।।
पर त्रिय लंपट कपट सयाने ।
मोह द्रोह ममता लपटाने ।।
तेइ अभेदवादी ग्यानी नर ।
देखा में चरित्र कलिजुग कर ।।

× × ×

वहु दाम सवारहिं धाम जती ।
विषया हरि लीन्ह न रहि विरती ।।
तपसी धनवंत दरिद्र गृही ।
कलि कौतुक तात न जात कही ।।
कुलवंति निकारहिं नारि सती ।
गृह आनहिं चेरि निबेरि गती ।।
सुत मानहिं मातु पिता तव लौं ।
अबलानन दीख नहीं जब लौं ।।
ससुरारि पियारि लगी जब तें ।
रिपुरूप कुटुंब भये तब तें ।।
नृप पाप परायन धर्म नहीं ।
करि डंब विडंब प्रजा नितहीं ।।
धनवंत कुलीन मलीन अपी ।
द्विज चिन्ह जनेउ उघार तपी ।।
नहिं मान पुरान न वेदहिं जो ।
हरि सेवक संत सही कलि सो ।।
कविवृन्द उदार दुनी न सुनी ।
गुन दूषक ब्रात न कोपि गुनी ।।
कलि बारहिं बार दुकाल परे ।
बिनु अन्न दुखी सब लोग मरे ।।

× × ×

कलिकाल विहाल किये मनुजा ।
नहि मानत कौ अनुजा तनुजा ।।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नहि तोष विचार न सीतलता ।
सब जाति कुजाति भये मगता ।।
इरिषा परुषाच्छर लोलुपता ।
भरि पूरि रही समता विगता ।।
सब लोग वियोग विसोक हये ।
वरनाश्रम धर्म अचार गये ।।
दम दान दया नहिं जानपनी ।
जडता परवंचनताति घनी ।।
तनुपोषक नारि नरा सगरे ।
परनिंदक जे जग मो वगरे ।।"[१]

इन वर्णनों में पौराणिक कल्पना और साहित्यिक अतिरंजन का गहरा पुट है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि इनके निर्माताओं ने अपने-अपने समय में नैतिकता का ह्रास होते हुए देखा था। किसी ऐतिहासिक पतन का ही यह वढ़ाकर कहा हुआ वर्णन है। आश्चर्य की बात तो यह है कि प्रायः ये सभी प्रवृत्तियाँ आज के समय में भी दृष्टिगोचर हो रही हैं। राज्य, समाज, धर्म, अर्थ और काम तथा समूह और व्यक्ति के जीवन में जो अव्यवस्था इस समय उत्पन्न हो गयी है उसका कहीं पूर्ण, कहीं अपूर्ण, कहीं अतिरंजित, कदाचित् कहीं विकृत प्रतिविम्ब इन वर्णनों में पाया जाता है। मानव स्वभाव और मानव इतिहास पर यह वहुत वड़ा व्यङ्ग है।

५. पुनरुत्थान

भारतीय जीवन के क्रमिक शैथिल्य और ह्रास तथा आधुनिक आघातों और प्रभावों से उत्पन्न प्रवृत्तियों का जो चित्र उपस्थित किया गया है वह बहुत ही निराशापूर्ण है। परन्तु भारतीय नीति का भवन कभी पूर्णतः ध्वस्त नहीं हुआ और न कभी भारतीय नैतिकता का स्वर बन्द हुआ। आधुनिक प्रवृत्तियों के प्रति भी प्रतिक्रिया हुई। उन्नीसवीं शती और वीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में ऐसे कई आन्दोलन प्रवर्तित हुए जो नीतिवादी थे और जिन्होंने भारतीय नैतिकता को नया

१. उत्तरकाण्ड, दोहा ९६, २ से दोहा १०५, ५ तक।

द्रष्टव्य-साहित्य :—(१) वरट्रंड रसेल : साइंटफिक आउटलुक; मैरेज एण्ड मारल्स
(२) डीन इंज : क्रिश्चियन एथिक्स एण्ड मार्डर्न प्राबलेम्स
(३) विशप गोर : फिलासफी ऑफ गुड लाइफ
(४) जोड : प्रेजेंट एण्ड फ्यूचर आफ रेलिजन
(५) बी. एफ. कालवर्टन : दि बैंक्रप्सी आफ मैरेज

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्राण और नयी दिशा दी। इनमें से ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज और रामकृष्ण-मिशन मुख्य हैं। इनमें से प्रत्येक ने भारतीय नीति के उद्‌गम और स्रोतों का पुनः अनुसन्धान किया, उसका परिष्कार किया और उनके आधार पर आत्मविश्वास के साथ कर्मठ जीवन व्यतीत करने का आह्वान किया। इनमें कई चिन्तक और तत्त्वदर्शी भी हुए जिन्होंने अपने जीवन, वचन और लेखनी से जनता के सामने नैतिक आदर्श उपस्थित किया। ऐसे लोगों में परमहंस रामकृष्ण, विवेकानन्द, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक और महात्मागांधी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

परमहंस रामकृष्ण का नैतिक बोध परम्परागत आस्था और उनकी रहस्यमयी अनुभूति पर अवलम्बित था। वे साक्षात्कृतधर्मा थे। बालक जैसे सरल जीवन और अनुभव-सिद्ध उपदेशों से आजीवन आध्यात्मिक मानवता का उपदेश और विकरण करते रहे। उनके अनन्य शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने उनकी अनुभूतियों और सिद्धान्तों को अपनी उत्कट प्रतिभा, उच्चकोटि की आध्यात्मिक शक्ति और कर्मठ जीवन से प्रसारित किया। ये ज्ञान सम्पन्न, भक्तिनिष्ठ तथा कर्मयोगी संन्यासी थे। इन्होंने देश को तमोगुणी निद्रा और प्रमाद से जगाकर राजयोग, भक्तियोग और कर्मयोग का सन्देश दिया। इनके भाषणों से कुछ अवतरण नीचे दिये जा रहे हैं :

"भारत ! क्या दूसरों की प्रतिध्वनिमात्र बनकर, दूसरों का अनुकरण करके, दूसरों पर अवलम्बित होकर···केवल इसी सम्बल पर सभ्यता और महत्ता की चोटी पर पहुँच पाओगे ? क्या इस अपमान-जनक कायरता से उस स्वतन्त्रता को प्राप्त कर सकोगे जो केवल वीरों और शूरों को वरण करती है ?···इस बात को न भूलो कि तुम्हारे बाल-बच्चे, तुम्हारी सम्पत्ति और तुम्हारा जीवन केवल इन्द्रिय-सुख और व्यक्तिगत आनन्द के लिए नहीं हैं। इस बात को न भूलो कि माँ की बलिवेदी पर बलिदान होने के लिए तुम्हारा जन्म हुआ है। इस बात को न भूलो कि तुम्हारी सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था सार्वभौम मातृ-शक्ति का प्रतिबिम्बमात्र है। इस बात को न भूलो कि (तथाकथित) छोटी जातियाँ, अज्ञ, दरिद्र, निरक्षर, भंगी, चमार तुम्हारे ही रक्तमांस, तुम्हारे सहोदर हैं।"

"वीर बनो, साहस रखो,\ भारतवासी होने का स्वाभिमान रखो और अभिमान के साथ घोषणा करो, 'मैं भारतवासी हूँ; प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है।' कहो, 'अज्ञ भारतवासी, दरिद्र भारतवासी, अनाथ भारतवासी' ब्राह्मण और अन्त्यज सभी मेरे भाई हैं।"

"सामाजिक कल्याण के दो मार्ग हैं—(१) धर्म और (२) सामाजिक आवश्यकता। एक का आधार अध्यात्म और दूसरे का भौतिकवाद है। एक का आधार परमार्थ और दूसरे का यथार्थ। एक संसार के क्षितिज के उस पार देखता है और वहाँ अपने जीवन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

का प्रारम्भ करता है। दूसरा सांसारिक पदार्थों पर खड़ा होता है और उन्हीं में अपना आधार ढूँढ़ता है। दोनों के दो प्रकार हैं। भारत में धर्म अन्तर्मुखी और पश्चिम में विज्ञान वहिर्मुखी। भारत सामाजिक संघटन अध्यात्म के द्वारा करना चाहता है। पश्चिम समाज के द्वारा अध्यात्म को समझना चाहता है। आधुनिक सुधारक भारत का सुधार नहीं करना चाहते; वे धर्म को इसके जीवन से निकाल देना चाहते हैं। उन्होंने प्रयत्न किया, किन्तु वे असफल रहे। इसका कारण यह है कि उन्होंने भारतीय धर्म का अध्ययन किया नहीं और न तो धर्म के समझने की उन्होंने कभी शिक्षा पायी। जिसमें वे सभी धर्मों के स्रोत भारतीय धर्म को समझ सकते। मैं दावे के साथ कहता हूँ कि भारतीय समाज के उत्थान के लिए धर्म का विध्वंस आवश्यक नहीं। समाज की वर्तमान दुर्दशा धर्म के पालन से नहीं उसकी अवहेलना से है।"

"मैं इस वात को मानता हूँ कि हम दूसरी जातियों से बहुत वातें सीख सकते हैं।···किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि हमारे बहुत-से सुधारवादी आन्दोलन पश्चिमी जीवन-पद्धति के नगण्य अनुकरण मात्र हैं; इससे भारत का कोई लाभ नहीं होगा; यही कारण है कि इन सुधार आन्दोलनों का कोई परिणाम नहीं निकलता।···हमें इतिहास से प्राप्त अपने जातीय चरित्र को पकड़ना होगा। सबसे पहले हमें सब वस्तुओं के आवश्यक और अनावश्यक अंगों को पहचानना होगा। जो आवश्यक अंग हैं वे सनातन और जो अनावश्यक हैं वे सामयिक और क्षणिक।···"

"यद्यपि जाति तथा अन्य हमारी संस्थाएँ बाहरी तौर पर धर्म से सम्बद्ध दिखायी पड़ती हैं, किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। समाज की रक्षा के लिए कभी इन संस्थाओं की आवश्यकता थी। जब ये आवश्यकताएँ समाप्त हो जायेंगी तो इन संस्थाओं की स्वाभाविक मृत्यु हो जायेगी।

किन्तु यदि कल का कोई बच्चा, जो परसों स्वयं मर जानेवाला है, मेरे पास आता है और मेरी जीवन की योजनाओं को छोड़ देने को कहता है; और यदि उसकी वात सुनकर हम अपनी सम्पूर्ण परिस्थितियों को उसके विचार के अनुसार बदल देते हैं, तो मैं स्वयं मूर्ख हूँगा, और कोई नहीं।"

"इन सुधारवादियों से कहो, "मैं तुम्हारी बात सुनूंगा, जब तुम स्वयं अपनी सामाजिक व्यवस्था दृढ़ कर लोगे। तुम दो दिन भी एक विचार पर स्थिर नहीं रहते, तुम झगड़ते हो और असफल होते हो। तुम पतंगों की तरह उत्पन्न होते हो और पाँच मिनट में उन्हीं की तरह नष्ट हो जाते हो।···पहले मेरे जैसा सुदृढ़ समाज बना लो।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पहले ऐसी विधि और संस्थाएँ बनाओ जो शतियों तक अक्षुण्ण शक्ति के साथ काम करती रहें। तब तुमसे बात करने का समय होगा। उस समय तक तुम एक भ्रान्त बच्चे हो।"

"मैं क्षणिक सुधारवाद का उपदेश नहीं करता। मैं कुरितियों के सुधारने का भी प्रयास नहीं करता। मैं तुमसे केवल मानव विकास की व्यावहारिक सिद्धि को पूर्ण करने के लिए अग्रसर होने का आह्वान करता हूँ, जिसको हमारे पूर्वजों न उच्चतम व्यवस्था में बाँध रखा था। मानव की मौलिक एकता और दिव्य स्वरूप के वेदान्ती आदर्श को अधिकाधिक पूर्ण करने के लिए केवल निमंत्रण देता हूँ।···हमारे प्राचीन शास्त्रकार जाति प्रथा के विरोधी थे, परन्तु वे हमारे आधुनिक सुधारवादियों के समान नहीं थे। जाति-भंग से उनका उद्देश्य यह नहीं था कि एक नगर के सभी लोग गोमांस-भक्षण और मदिरापान के लिए पाँत में बैठें और न तो उनका उद्देश्य यह था कि देश के सभी मूर्ख और पागल जब, जहाँ और जिससे चाहें यौन-सम्बन्ध कर लें और देश को पागलखाना बना दें और न तो इसमें विश्वास करते थे कि किसी देश की प्रगति का माप-दण्ड पतियों की संख्या है जो किसी विधवा को मिल सकते हैं।···"

"हमारे पूर्वजों का आदर्श मानव ब्राह्मण था। हमारे सम्पूर्ण साहित्य में यह आदर्श महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।···भारत में अभि-जात्य का आदर्श दूसरे देशों से भिन्न है। आध्यात्मिक संस्कृति और त्याग से युक्त ब्राह्मण हमारा आदर्श है। ब्राह्मण आदर्श से मेरा अभिप्राय क्या है? मेरा तात्पर्य आदर्श ब्राह्मणत्व है, जिसमें सांसारिकता का अत्यन्त अभाव और ज्ञान के प्राचुर्य का अन्तर्भाव है। हिन्दू जाति का यही आदर्श है।"

"क्या तुमने सुना नहीं है कि धर्मशास्त्रों में इस बात की घोषणा की गयी है कि ब्राह्मण पर विधि (कानून) का आधिपत्य नहीं है, उसको विधि की आवश्यकता नहीं है, वह राजाओं से शासित नहीं होता, और उसे शारीरिक दण्ड नहीं मिल सकता। यही बिलकुल उचित है। इस बात को मूर्खों और स्वार्थियों की व्याख्या के प्रकाश में न देखकर वास्तविक और मौलिक वेदान्ती सन्दर्भ में देखो।"

"यदि ब्राह्मण वह है जिसने व्यक्तिगत स्वार्थ को नष्ट कर डाला है, ज्ञान और प्रेम की प्राप्ति और प्रसार के लिए जीता और काम करता है; यदि किसी सम्पूर्ण देश में ऐसे ब्राह्मण बसते हैं; यदि किसी देश में ऐसे लोग बसते हैं जो आध्यात्मिक नैतिक और भले हैं तो क्या ऐसा सोचना आश्चर्यजनक है कि ऐसा देश सभी प्रकार की विधि (कानून) से परे और ऊपर है? फिर पुलिस और सेना के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

द्वारा ऐसे देश पर शासन करने की क्या आवश्यकता है ? और फिर उस पर कोई शासन क्यों करेगा ? और क्यों वे किसी शासन के अन्तर्गत रहेंगे ? वे सज्जन और भले हैं; वे ईश्वरभक्त हैं; ये ही हमारे आदर्श ब्राह्मण हैं; और हम पढ़ते हैं कि सत्ययुग में एक ही वर्ण था और वह था ब्राह्मण।···महाभारत के अनुसार मूल में एक ही वर्ण था। नैतिक ह्रास के कारण वह चार वर्णों में विभक्त हुआ।[१] और जब फिर युग-परिवर्तन होगा तो फिर सभी ब्राह्मण हो जायेंगे। यह चक्र बदल रहा है और मैं तुम्हारा ध्यान इधर आकृष्ट कर रहा हूँ।"

"इसलिए जाति-समस्या का हमारा समाधान यह नहीं है कि जो ऊँचे हैं उनको गिरा कर नीचे कर दें; केवल भोजन और पेय के प्रश्न को लेकर पागल नहीं हो जाना है; अपनी सीमाओं के बाहर कूद कर भोग के पीछे दौड़ना नहीं है। इसका समाधान वेदान्त धर्म के उपदेशों का पालन है, आध्यात्मिकता की प्राप्ति है, आदर्श ब्राह्मण बनना है।"

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे, जिसके व्यक्ति ब्राह्मणोचित नैतिक और आध्यात्मिक गुणों से युक्त हों। वे नये समाज के निर्माण के लिए तीन गुणों को आवश्यक समझते थे—(१) सहानुभूति, (२) उपचार और (३) दृढ़ संकल्प। सहानुभूति के सम्बन्ध में उनका कथन है :

"पहले हृदय से अनुभव करो। बुद्धि अथवा तर्क में क्या है ? यह कुछ दूर तक जाता है और फिर रुक जाता है। परन्तु हृदय के द्वारा (स्थायी), प्रेरणा प्राप्त होती है। हृदय ही सर्वोत्तम महत्त्व का है।··प्रेम जीवन के दुर्गम फाटकों को खोल देता है। संसार के सभी रहस्यों का द्वार प्रेम है। अज्ञान और दरिद्रता में डूबे हुए इन असंख्य नर-नारियों के लिए कौन संवेदना रखता है ? लोग भूल गये हैं कि ये भी मानव हैं। और परिणाम है दासता।

सहानुभूति के साथ उन उपचारों और साधनों का ज्ञान होना चाहिए जिनके द्वारा समाज का पुनरुत्थान संभव है। और होना चाहिए दृढ़ और अडिग संकल्प जो सभी कठिनाइयों और बाधाओं को पार कर आगे बढ़ता है :

"क्या तुममें वह संकल्प है जो पर्वत जैसी ऊँची कठिनाइयों को पार कर जाता है ? यदि सारा संसार खड्गहस्त होकर तुम्हारे विरोध में खड़ा हो, तो क्या तुममें साहस है कि तुम जिसको उचित

१. न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥ महा० शान्ति०

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

समझते हो उसका आचरण कर सको ? यदि तुम्हारी पत्नी और तुम्हारे बच्चे तुम्हारे विरोध में हों, तुम्हारी सम्पत्ति नष्ट हो जाय,और तुम्हारा नाम मिट जाय तो क्या तुम अपने संकल्प पर अटल रहोगे ? क्या फिर भी इसका आचरण करोगे और अपने उद्देश्य की ओर दृढ़ता से चलते रहोगे ? भर्तृहरि के शब्दों में 'नीतिनिपुण लोग निन्दा करें वा स्तुति; लक्ष्मी आवे चाहे इच्छापूर्वक चली जाय; आज ही मृत्यु हो चाहे युगान्तर में, परन्तु धीर पुरुष न्याय के पथ से कभी विचलित नहीं होते'।"[१]

"यदि तुममें ये तीनों गुण हैं, तो इसमें प्रत्येक अद्भुत प्रभाव-वाला है। तुमको समाचार-पत्रों में लिखने की आवश्यकता नहीं; व्याख्यान देने की कोई जरूरत नहीं; तुम्हारे चेहरे से स्वतः प्रकाश निकलेगा।···विचार, पवित्रता और संकल्प की महान् शक्ति है।···"

स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों में आध्यात्मिक और नैतिक बल के आधार पर लोक-संग्रह का गहरा पुट है। उन्होंने केवल उपदेश ही नहीं दिया, अपितु लोक-कल्याण के लिए रामकृष्ण-मिशन की भी स्थापना की जिसके द्वारा धर्म, दर्शन, शिक्षा, रोगी-सेवा, दरिद्र-सेवा आदि कार्य-क्रमों का सम्पादन होता है। नैतिक क्षेत्र में आत्म-चेतना, आत्म-विश्वास और आत्मोन्नति का शंख-नाद फूंक कर स्वामी विवेकानन्द ने जीवन के पुनरुत्थान का अनुपम कार्य किया।

भारतीय नीति के विकास में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का योग एक दूसरे प्रकार था। इन्होंने आधुनिक परिस्थितियों के बीच प्राचीन भारतीय शास्त्रीय पद्धति से परम्परागत मूल्यों के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया। अर्थात् स्वतन्त्र कोई नया ग्रन्थ न लिखकर अथवा नये उपदेश का सन्देश न देकर एक प्राचीन ग्रन्थ की नयी व्याख्या की और उसके द्वारा जीवन के नये प्रश्नों का समाधान किया। उनका गीता-रहस्य इसी प्रकार का प्रयास है। प्रायः पूरी उन्नीसवीं शती और बीसवीं के पूर्वार्द्ध में भारत में जो जीवन-प्रवाह चल रहा था उसमें स्वातन्त्र्य और पुनरुत्थान के लिए कर्मठता की आवश्यकता थी। इसके लिए पश्चिम से जो प्रेरणा मिल रही थी वह रजोगुणप्रधान, बाह्य सुख-दुःख पर आधारित और उपयोगितावादी थी। इस प्रेरणा के स्रोत थे मिल, स्पेंसर, काण्ट आदि नैतिकता के क्षेत्र में और फ्रांस की क्रांति तथा इंगलैण्ड का गृह-युद्ध राज-नीति के क्षेत्र में। यह भी एक प्रकार के बाहरी आघात और प्रभाव थे। राष्ट्रीय चेतना से इनका सामञ्जस्य नहीं था। इसलिए राष्ट्रीय कर्मठता को

---

१. निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु।
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्॥
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा।
न्याय्यात्पथहः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥ भर्तृहरि नीति शतक।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भारतीय नैतिक प्रेरणा आवश्यक थी। परन्तु भारतीय नैतिक परम्परा पर कोरे ज्ञान और पलायनवादी संन्यास की तहें इकट्ठी हो गयी थीं जिनका निराकरण करना अनिवार्य था। यह महान् बौद्धिक एवं शास्त्रीय कार्य लोकमान्य तिलक के द्वारा सम्पन्न हुआ।

गीता रहस्य के उपसंहार में लोकमान्य तिलक लिखते हैं: "चाहे आप गीता के अध्यायों की संगति या मेल देखिए, या उन अध्यायों के विषयों का मीमांसकों की पद्धति से पृथक्-पृथक् विवेचन कीजिए, किसी भी दृष्टि से विचार कीजिए; अन्त में गीता का सच्चा तात्पर्य यही मालूम होगा कि ज्ञान-भक्ति-युक्त कर्मयोग ही गीता का सार है। अर्थात् साम्प्रदायिक टीकाकारों ने कर्मयोग को गौण ठहरा कर गीता के जो अनेक प्रकार के तात्पर्य बतलाये हैं, वे यथार्थ नहीं हैं। उपनिषदों में वर्णित अद्वैत वेदान्त का भक्ति के साथ मेल करके उसके द्वारा बड़े-बड़े कर्मवीरों के चरित्रों का रहस्य—या उनके जीवन-क्रम की उपपत्ति—बतलाना ही गीता का सच्चा तात्पर्य है। मीमांसकों के कथनानुसार केवल श्रौत-स्मार्त कर्मों को सदैव करते रहना भले ही शास्त्रोक्त हो; तो भी ज्ञानरहित केवल तांत्रिक क्रिया से बुद्धिमान् मनुष्य का समाधान नहीं होता। और यदि उपनिषदों में वर्णित धर्म को देखें, तो वह केवल ज्ञानमय होने के कारण अल्प-बुद्धिवाले मनुष्यों के लिए अत्यन्त कष्टसाध्य है। इसके सिवाय एक और बात है, कि उपनिषदों का संन्यासमार्ग लोक-संग्रह का बाधक है। इसलिए भगवान् ने ऐसे ज्ञानमूलक, भक्तिप्रधान और निष्काम कर्म विषयक धर्म का उपदेश गीता में किया है, कि जिसका पालन आमरण किया जावे; जिससे ज्ञान, भक्ति और कर्तव्य का ठीक-ठीक मेल हो जावे; मोक्ष की प्राप्ति में कुछ अन्तर न पड़ने पावे; और लोक-व्यवहार भी सरलता से होता रहे। इसी में कर्म-अकर्म के शास्त्र का सब सार भरा हुआ है।"[१]

भारतीय नीति का आधार आध्यात्मिक है अर्थात् इस तत्त्व का बोध कि मनुष्य को अपने कर्म-अकर्म का विवेचन अथवा निर्णय अपने आत्मा को दृष्टि में रखकर करना चाहिए, जिसका विश्वावात्मा के साथ ऐक्य है। इसी को सर्वात्म-बुद्धि कहते हैं जिससे सर्वभूतहितरति उत्पन्न होती है। इसी तत्त्व का विस्तृत विशद विवेचन लोकमान्य ने गीता रहस्य में किया:

"थोड़ा भी विचार करने पर यह सहज ही ध्यान में आ सकता है कि सदाचार और दुराचार, तथा धर्म और अधर्म, शब्दों का उपयोग यथार्थ में ज्ञान-वान् मनुष्य के कर्म के ही लिए होता है। और यही कारण है कि नीतिमत्ता केवल जडकर्मों में नहीं, किन्तु बुद्धि में रहती है।···मनुष्य के कर्म-अकर्म की भलाई-बुराई ठहराने के लिए, सबसे पहले, उसकी बुद्धि का ही विचार करना पड़ता है। अर्थात् यह विचार करना पड़ता है कि उसने उस कार्य को किस

१. गीता-रहस्य, १५.४९३।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उद्देश्य, भाव या हेतु से किया; और उसको उस कार्य के परिणाम का ध्यान था अथवा नहीं।··· नारद पञ्चरात्र नामक भावगत धर्म का गीता से अर्वाचीन एक ग्रन्थ है। उसमें मार्कण्डेय नारद से कहते हैं, "मन ही लोगों के सब कर्मों का एक (मूल) कारण है। जैसा मन रहता है, वैसी ही बात निकलती है; और बात-चीत से मन प्रकट होता है।"[१]

लोकमान्य ने नीति की इस मौलिक समस्या का समाधान यूरोपीय विचारों से गीता की तुलना करते हुए किया है :

"पश्चिमी देशों में नीति का निर्णय करने के लिए दो पन्थ हैं— पहला आधिदैवत पन्थ, जिससे सदसद्विवेक देवता की शरण जाना पड़ता है; और दूसरा आधिभौतिक पन्थ है, कि जो इस बाह्य कसौटी के द्वारा नीति का निर्णय करने को कहता है, कि 'अधिकांश लोगों का अधिक हित किसमें है।" परन्तु ऊपर किये गये विवेचन से यह स्पष्ट मालूम हो सकता है कि ये दोनों पन्थ शास्त्र दृष्टि से अपूर्ण तथा एकपक्षीय हैं। कारण यह है कि सदसद्विवेकशक्ति कोई स्वतन्त्र वस्तु या देवता नहीं; किन्तु वह व्यवसायात्मक बुद्धि में ही शामिल है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति और स्वभाव के अनुसार उसकी सदसद्विवेक-बुद्धि भी सात्विक, राजस या तामस हुआ करती है। ऐसी अवस्था में उसका कार्य-अकार्य-निर्णय दोष रहित नहीं हो सकता। और यदि केवल 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' किसमें है, इस बाह्य आधिभौतिक कसौटी पर ही ध्यान देकर नीतिमत्ता का निर्णय करें, तो कर्म करनेवाले पुरुष की बुद्धि का कुछ भी विचार नहीं हो सकेगा।··· इसके सिवा ग्रीन साहब का यह भी कहना है कि बाह्य सुख को ही परम साध्य मानने से मनुष्य-मनुष्य में, राष्ट्र-राष्ट्र में उसे पाने के लिए प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न हो जाती है; और कलह का होना भी संभव है। क्योंकि बाह्य सुख के लिए जो बाह्य साधन आवश्यक हैं, वे प्रायः दूसरों के सुख को कम किये बिना अपने को नहीं मिल सकते। परन्तु (गीता की) साम्यबुद्धि के बारे में ऐसा नहीं कह सकते। यह आन्तरिक सुख आत्मवश है। अर्थात् यह किसी दूसरे के सुख में बाधा न डालकर प्रत्येक को मिल सकता है। इतना ही नहीं; किन्तु जो आत्मैक्य को पहचानकर सब प्राणियों से समता का व्यहार करता है, वह गुप्त या प्रकट किसी रूप से भी कोई दुष्कृत्य कर ही नहीं सकता।···अन्तःकरण में सदा साम्यबुद्धि जागृत रहनी चाहिए। तब फिर यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं कि अधिकांश लोगों या सब प्राणियों के हित का सार-असार-विचार करो।"[२]

---

१. मानसं प्राणिनामेव सर्वकर्मैककारणम्।
मनोनुरूपं वाक्यञ्च वाक्येन प्रस्फुटं मनः ।। १.८.१८।

२. गीतारहस्य, १५.५०२-४।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नीति के इस मौलिक प्रश्न का समाधान करके लोकमान्य ने इस तत्त्व का विवेचन किया है कि लोक-संग्रह अथवा लोक-मंगल का कार्य कैसे किया जाय। इसके लिए उन्होंने गीता-रहस्य में पिण्ड (जीव-देह) और ब्रह्माण्ड (विश्व-देह) के मूल में अव्यक्त और नित्य सत्ता को स्वीकार करते हुए मोक्ष, नीतिधर्म और व्यवहार का सामञ्जस्य स्थापित किया :

"सर्वात्मैक्यरूप अव्यक्त मूलतत्त्व का ही एक व्यक्तस्वरूप सर्व-भूतहितेच्छा है; और सगुण परमेश्वर तथा दृश्य सृष्टि दोनों उस आत्मा के ही व्यक्तरूप हैं, जो सर्व-भूतान्तर्गत, सर्वव्यापी और अव्यक्त है। इस व्यक्तस्वरूप के आगे गये बिना अर्थात् अव्यक्त आत्मा का ज्ञान प्राप्त किये बिना ज्ञान की पूर्ति तो होती नहीं; किन्तु इस संसार में हर एक मनुष्य का जो यह परम कर्तव्य है कि, शरीरस्थ आत्मा को पूर्णावस्था में पहुँचा दे, वह भी इस ज्ञान के बिना पूर्ण नहीं होता। चाहे नीति को लीजिये, व्यवहार को लीजिए, धर्म को लीजिए, अथवा किसी भी दूसरे शास्त्र को लीजिए, अध्यात्मज्ञान ही सबकी अंतिम गति है—जैसे कहा है, "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।"··· (परन्तु) ज्ञान और कर्म में विरोध नहीं है। गीता में कर्मयोग के इस सिद्धान्त का विस्तारसहित वर्णन किया गया है कि वासना का क्षय होने पर भी ज्ञानी पुरुष अपने सब कर्मों को परमेश्वरार्पणपूर्वक बुद्धि से लोकसंग्रह के लिए केवल कर्तव्य समझ कर ही करता चला जावे।···यह स्वीकार होने पर भी—कि इस संसार के अशाश्वत होने के कारण इसमें सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक है—गीता में जो यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि 'कर्म ज्यायो ह्यकर्मण:'—अर्थात् सांसारिक कर्मों का कभी-न-कभी संन्यास करने की अपेक्षा उन्हीं कर्मों को निष्काम बुद्धि से लोक-कल्याण के लिए करते रहना अधिक श्रेयस्कर है—"[1]

ज्ञानी और भक्त दोनों के लिए गीता-रहस्य में लोक-संग्रह आवश्यक बताया गया है। इसका कारण यह है कि वैदिक समुच्चयवादी परम्परा शिथिल पड़ जाने के कारण ज्ञानवादी यह समझने लगे थे कि उनको संसार में कर्म करना आवश्यक नहीं और भक्तों की यह धारणा हो गयी थी कि भगवान् के भजन-कीर्तन से ही उनके कर्तव्य की इतिश्री हो जाती थी। इन दोनों भ्रांत परम्पराओं के विरोध में लोकमान्य तिलक ने लोक-संग्रह का प्रबल समर्थन किया :

"···भगवान् ने कर्मयोग के समर्थनार्थ अर्जुन को अन्तिम और महत्त्व का उपदेश दिया है, कि 'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि' (गीता. ३.२०)—लोक-संग्रह की ओर दृष्टि देकर भी तुझे कर्म

१. गीता-रहस्य, १५.५१३-१६।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

करना ही उचित है। लोक-सग्रह का यह अर्थ नहीं कि कोई ज्ञानी पुरुष 'मनुष्यों का केवल जमघट करे' अथवा यह अर्थ नहीं कि स्वयं कर्म त्याग का अधिकारी होने पर भी इसलिए कर्म करने का ढोंग करे, कि अज्ञानी मनुष्य कहीं कर्म न छोड़ बैठें; और उन्हें अपनी (ज्ञानी पुरुष की) कर्मतत्परता अच्छी लगे।···'लोगों का संग्रह' करना यानी यह अर्थ होता है कि 'उन्हें एकत्र सम्बद्ध कर इस रीति से उनका पालन-पोषण और नियमन करे, कि उनकी परस्पर अनुकूलता से उत्पन्न होनेवाला सामर्थ्य उनमें आ जावे; एवं उसके द्वारा उनकी सुस्थिति को स्थिर रखकर उन्हें श्रेयः प्राप्ति के मार्ग में लगा दे।' 'राष्ट्र का संग्रह' शब्द इसी अर्थ में मनुस्मृति (७.११४) में आया है, और शांकरभाष्य में इस शब्द की व्याख्या यों है—'लोक-संग्रह—लोकस्योन्मार्गप्रवृत्ति निवारणम्।' इससे दीख पड़ेगा कि 'संग्रह' शब्द का जो हम ऐसा अर्थ करते हैं—'अज्ञान से मनमाना वर्ताव करनेवाले लोगों को ज्ञानवान् वनाकर, सुस्थिति में एकत्र रखना और आत्मोन्नति के मार्ग में लगाना'—यह अपूर्व और निराधार नहीं है। यह 'संग्रह' शब्द का अर्थ हुआ; परन्तु यहाँ यह भी वतलाना चाहिए कि 'लोक-संग्रह' में 'लोक' शब्द केवल मनुष्यवाची नहीं है। यद्यपि यह सच है कि जगत् के अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य श्रेष्ठ है, और इसी से मानव जाति के कल्याण का प्रधानता से लोक-संग्रह में समावेश होता है। तथापि भगवान् की ही ऐसी इच्छा है कि भूलोक, सत्यलोक, पितृलोक, देवलोक प्रभृति जो अनेक लोक अर्थात् जगत् भगवान् ने बनाये हैं, उनका भी भलीभाँति धारण और पोषण हो; और वे सभी अच्छी रीति से चलते रहें। इसलिए कहना पड़ता है कि इतना सब व्यापक अर्थ 'लोक-संग्रह' पद से यहाँ विवक्षित है कि मनुष्यलोक के साथ ही इन सब लोकों का व्यवहार भी सुस्थिति से चले (लोकानां संग्रहः)।"[१]

सिद्धावस्था और व्यवहार का विवेचन करते हुए लोकमान्य तिलक ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि आध्यात्मिक सिद्धि मिल जाने पर भी मनुष्य को सामाजिक और लौकिक कल्याण के कार्यों को करते ही जाना चाहिए। उनके विचार में गीता के सिद्ध और स्थितप्रज्ञ ऐसे ही पुरुष हैं। इस सम्बन्ध में महाभारत से एक श्लोक उन्होंने उद्धृत किया है:

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषाञ्च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले॥

(हे जाजले! उसी ने धर्म को समझा है जो मनसा, वाचा और कर्मणा सदा

१. गीता-रहस्य, ११.३४३.४५।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सबका मित्र है और सदा सबका हित करने में लगा हुआ है।) पलायनवादी संन्यास मार्ग की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं:

"इसमें कोई सदेह नहीं कि संन्यासमार्ग का आत्मज्ञान निर्दोष है। और इसके द्वारा प्राप्त होनेवाली साम्यबुद्धि अथवा निष्काम अवस्था भी गीता को मान्य है। तथापि गीता को संन्यासमार्ग का यह कर्म-सम्बन्धी मत ग्राह्य नहीं है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए अन्त में कर्मों को एक दम छोड़ ही बैठना चाहिए। पिछले प्रकरण में हमने विस्तारसहित गीता का यह विशेष सिद्धान्त दिखलाया है कि ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होनेवाले वैराग्य अथवा समता से ही ज्ञानी पुरुष को ज्ञान-प्राप्ति हो चुकने पर भी सारे व्यवहार करते रहना चाहिए। जगत् से ज्ञानयुक्त कर्म को निकाल डालें तो दुनिया अन्धी हुई जाती है; और इससे उसका नाश हो जाता है। जब भगवान् की ही इच्छा है कि इस तरह से उसका नाश न हो, वह भलीभांति चलती रहे, तब ज्ञानी पुरुष को भी जगत् के सभी कर्म निष्काम बुद्धि से करते हुए सामान्य लोगों को अच्छे वर्ताव का प्रत्यक्ष नमूना दिखला देना चाहिए।··· इन्द्रियों का निग्रह करने से जिस पुरुष की व्यवसायात्मक बुद्धि स्थिर होकर 'सब भूतों में एक आत्मा' इस साम्य को समझ लेने में समर्थ हो जाय, उसकी वासना भी शुद्ध ही होती है। इस प्रकार वासनात्मक बुद्धि के शुद्ध, सम, निर्भय और पवित्र हो जाने से फिर वह कोई भी पाप या मोक्ष के लिए प्रतिबन्धक कर्म कर ही नहीं सकता।"[१]

लोकमान्य तिलक उस समाज को आदर्श समाज मानते हैं जिसमें सिद्ध और स्थितप्रज्ञ पुरुषों की संख्या अधिक हो। महाभारत में नारायणीय धर्म का जहाँ वर्णन है वहाँ कहा गया है: "एकान्तिक अथवा प्रवृत्तिप्रधान भागवत धर्म का पूर्णतया आचरण करनेवाले पुरुषों का अधिक मिलना कठिन है। आत्मज्ञानी, अहिंसक, एकान्त धर्म के ज्ञानी और प्राणिमात्र की भलाई करनेवाले पुरुषों से यदि यह जगत् भर जावे तो आशीःकर्म—अर्थात् काम्य अथवा स्वार्थबुद्धि से किये हुए सारे कर्म—उस जगत् से दूर होकर फिर कृतयुग प्राप्त हो जावेगा।"[२] फिर वे कहते हैं:

"हमारे शास्त्रकारों का मत है कि बहुत पुराने समय में समाज की ऐसी ही स्थिति थी और वह फिर कभी-न-कभी प्राप्त होगी ही। परन्तु पश्चिमी पण्डित पहली बात को नहीं मानते। वे अर्वाचीन इतिहास के आधार पर कहते हैं कि पहले कभी ऐसी स्थिति नहीं थी। परन्तु भविष्य में मानव-जाति के सुधारों की बदौलत ऐसी स्थिति का

१. गीता-रहस्य, १२.३८३-८४।
२. शान्तिपर्व, ३४८.६२-६३।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मिल जाना कभी-न-कभी संभव हो जावेगा।···समाज की इस उत्कृष्ट स्थिति अथवा पूर्णावस्था में प्रत्येक पुरुष परमज्ञानी रहेगा; और वह जो व्यवहार करेगा, उसी को शुद्ध, पुण्यकारक, धर्म्य अथवा कर्तव्य की पराकाष्ठा मानना चाहिए।"[१]

स्थितप्रज्ञ और जीवन्मुक्त के सम्बन्ध में लोकमान्य तिलक की मान्यता है है कि वे नीति के विधि-निषेध से बद्ध नहीं होते, अपितु वे स्वयं नीति के लिए मान-दण्ड वन जाते हैं:

"स्थितप्रज्ञ-अवस्था या जीवन्मुक्त-अवस्था कितनी ही दुष्प्राप्य क्यों न हो, पर जिस पुरुष को यह परमावधि की सिद्धि एक बार प्राप्त हो जाय, उसे कार्य-अकार्य, अथवा नीतिशास्त्र के नियम बतलाने की कभी आवश्यकता नहीं रहती।···योंकि परमावधि की शुद्ध, सम और पवित्र बुद्धि ही नीति का सर्वस्व है। इस कारण ऐसे स्थितप्रज्ञ पुरुषों के लिए नीति-नियमों का उपयोग करना मानो स्वयंप्रकाश सूर्य के समीप अन्धकार होने की कल्पना करके उसे मशाल दिखलाने के समान असमंजस में पड़ना है।"

इस प्रकार तिलक ने शास्त्रीय पद्धति से बहिर्मुखी प्रवृत्तिप्रधान, भोगवादी आधुनिक भारत को आध्यात्मिक नैतिकता का दर्शन दिया। यह एक पूर्ण जीवन का दर्शन है, जिसमें जीवन के किसी पक्ष की अवहेलना नहीं, परन्तु किसी पक्ष का अतिरञ्जन भी नहीं। यह एक प्रबुद्ध, संतुलित और समन्वित जीवन का दर्शन है। इसमें प्राचीनता और परम्परा का आधार है, परन्तु नयी परिस्थितियों में नये नीति-मार्ग को ढूँढ़ निकालने की इसमें क्षमता है।

भारतीय नीति के विकास में महात्मा गांधी की देन सिद्धान्तवादी न होकर प्रयोगात्मक है। उनको जो नैतिक अनुभूति हुई उसको उन्होंने अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न किया। उनका कथन है: "मैं यह दावा नहीं करता कि मैंने कुछ नये सिद्धान्तों और तत्त्वों का आविष्कार किया है। मैंने अपने ही ढंग से शाश्वत तत्त्वों को प्रतिदिन के जीवन की समास्यों में अनूदित करने का प्रयत्न किया है।" अपनी आत्म-कथा की प्रस्तावना में उन्होंने इस बात को और स्पष्ट किया है, "···पर मुझे आत्म-कथा कहाँ लिखनी है? मुझे तो आत्म-कथा के बहाने मैंने सत्य के जो अनेक प्रयोग किये हैं उनकी कथा लिखनी है। यह जरूर है कि उसमें मेरा जीवन ओत-प्रोत होने के कारण वह एक जीवन-वृत्तान्त बन जायेगी।" उनकी नैतिक प्रेरणा के कई स्रोत थे। एक तो वैष्णव परिवार में जन्म होने के कारण उनके ऊपर वैष्णव आचार-विचार का गहरा प्रभाव था। दूसरे सौराष्ट्र में जैन वातावरण और जैनमित्रों का भी उनके साथ सम्पर्क था। भारतीय साहित्य में गीता और रामायण उनके प्रिय और आकर ग्रन्थ थे।

---

१. गीता-रहस्य, १२.३८५।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

गीता को तो वे माता ही मानते थे। उन्होंने लिखा है कि शारीरिक माता का साथ उनकी मृत्यु होने के कारण से छूट गया था, परन्तु गीता माता ने कभी साथ नहीं छोड़ा। उसका वरद हस्त सदा सुलभ था। जीवन की कोई समस्या नहीं थी जिसका समाधान उनको गीता में न मिला हो। जैसे बच्चे माँ की गोद में शरण लेते हैं वैसे ही गान्धीजी संकट के क्षणों में गीता की शरण में जाते थे। प्राय: सभी भारतीय दार्शनिकों और चिन्तकों के समान उन्होंने भी गीता पर 'अनासक्ति-योग' के नाम से एक भाष्य लिखा। विदेशी चिन्तकों और लेखकों में उन्होंने टाल्सटॉय, रसकिन, थ्यूरो, इमर्सन आदि से प्रेरणा ग्रहण की थी। इन सबके साथ वे 'आत्मा की पुकार' अथवा ईश्वरीय आदेश भी सुनते थे।[1] वास्तव में उनके नैतिक विचार आस्था और विश्वास पर आधारित थे। ये विचार तार्किक और वैज्ञानिक न होकर महत् धारणाओं और ऊँची भावनाओं से प्रसूत थे।

जैसा कि कहा जा चुका है महात्मा गान्धी की नीति का आधार धार्मिक है। नीति का स्रोत वे ईश्वर में मानते थे :

> "मैं धुंधले ढंग से देखता हूँ कि मेरे चारों ओर का जगत् बराबर बदलता रहता है, नष्ट होता रहता है, इन परिवर्तनों के भीतर एक जीवनी शक्ति है जो परिवर्तनरहित है, जो सबको धारण करती है, जो बनाती, बिगाड़ती और फिर बनाती है। वही अन्तर्स्रष्टा शक्ति अथवा आत्मा ईश्वर है। और जब कि कोई इन्द्रियगोचरवस्तु स्थायी नहीं है, वह नित्य है।"[2]
>
> "और क्या यह शक्ति हितकारी है अथवा अहितकारी? मैं तो इसे शुद्ध हितकारी देखता हूँ। क्योंकि मैं देख सकता हूँ कि मृत्यु के बीच में जीवन स्थित रहता है, असत्य के बीच में सत्य स्थिर है, अन्धकार में प्रकाश वर्तमान है। इसलिए मेरा निष्कर्ष है कि ईश्वर ही जीवन, सत्य, ज्ञान हैं; वही प्रेम है वही परमानन्द है।"[3]
>
> "मैं यह जानता हूँ कि उसमें कोई बुराई नहीं है, फिर भी यदि संसार में बुराई है तो उसका भी स्रष्टा वही है, यद्यपि वह बुराई से अछूता है। मैं यह भी जानता हूँ कि मैं ईश्वर को नहीं जान

---

१. जहाँ इन्द्रियों से परे अनुभूति होती है वह अचूक होती हैं। यह किसी बाहरी, प्रमाण से सिद्ध न होकर उन लोगों के पवित्र चरित्र में प्रकट होती है जो अपने हृदय में ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव करते हैं। सभी कालों और सभी देशों के संत, महात्माओं की अटूट शृंखला में ये अनुभव पाये जाते हैं। इनको अस्वीकार करना अपने को अस्वीकार करना है।

२. यंगइंडिया, ११ अक्तू १९२८।

३. वही।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सकूँगा, यदि मैं बुराइयों से संघर्ष न करूँ, आवश्यक हो तो प्राणों की बाजी लगाकर भी।"[1]

"हम ईश्वर के सभी नियमों और उनकी कार्य-प्रणाली को नहीं जानते। उच्चतम वैज्ञानिक अथवा अध्यात्मवादी का ज्ञान उसके सामने धूल के एक कण के समान है। यदि ईश्वर मेरे पार्थिक पिता के समान कोई पुरुष नहीं तो वह उससे अनन्त गुणा अधिक है। उसका शासन मेरे जीवन के कण-कण पर है। मैं अक्षरशः विश्वास करता हूँ कि उसकी इच्छा के विना एक पत्ता भी नहीं हिलता। मेरा प्रत्येक श्वास उसकी कृपा पर निर्भर है।"[2]

"मेरे लिए ईश्वर ही सत्य और प्रेम है। वही नीति और आचार है। ईश्वर अभय है। ईश्वर प्रकाश और जीवन है और इनसे भी बहुत उपर है। वही मानव के भीतर विवेक है। नास्तिक की नास्तिकता भी वही है। क्योंकि वह अपने अनन्त प्रेम में नास्तिक को भी स्थान देता है।"[3]

"मनुष्य का अन्तिम ध्येय है ईश्वर की अनुभूति, और उसकी सारी क्रियाएँ—सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक—इसी ध्येय के प्रकाश में संचालित होनी चाहिए। मानव की तात्कालिक सेवा इस ध्येय का एक आवश्यक अंग बन जाती है, क्योंकि ईश्वर की उपलब्धि और सायुज्य का एक ही मार्ग है और वह है उसकी सृष्टि। सबकी सेवा से ही यह संभव है। मैं समष्टि का अविच्छिन्न अंग हूँ। मैं उसको मानव से पृथक् और बाहर नहीं पा सकता।"[4]

परन्तु महात्मा गांधी की आस्तिकता साम्प्रदायिक नहीं है। वह धर्म को सार्वभौम रूप में मानते हैं। सभी सम्प्रदायों में वही धर्म है। सम्प्रदाय धर्म के विभिन्न मार्ग हैं। उन सभी विविध मार्गों से चलकर मनुष्य एक ही गन्तव्य पर पहुँचते हैं:

"विभिन्न धर्म अथवा सम्प्रदाय विभिन्न मार्ग हैं एक ही केन्द्र-विन्दु पर पहुँचने के लिए। विभिन्न मार्गों के अवलम्बन से कोई अन्तर नहीं पड़ता, जब तक कि हम एक ही गन्तव्य पर पहुँचते हैं।"[5]

"एक ईश्वर में विश्वास सभी धर्मों की आधार-शिला है।

---

१. वही।
२. हरिजन, १६ फर. १६३४।
३. यंग इंडिया, ५ मार्च, १६२६।
४. हरिजन, २६ अग, १६३६।
५. हिन्द स्वराज्य, पृ० ६५।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

परन्तु मुझे ऐसा समय नहीं दिखायी पड़ता जब व्यवहार में पृथ्वी पर एक ही धर्म होगा। सिद्धान्त में, क्योंकि ईश्वर एक है, एक ही धर्म हो सकता है। किन्तु व्यवहार में कोई दो व्यक्ति ऐसे नहीं मिले हैं जिनके विचार ईश्वर के सम्बन्ध में समान हों। इसलिए विभिन्न प्रकृति, स्वभाव, रुचि और परिस्थिति के मनुष्यों के लिए शायद सदा विभिन्न धर्म रहेंगे।"[१]

"संसार के सभी महान् धर्मों के आधारभूत सत्य में मैं विश्वास करता हूँ। मेरा ऐसा विश्वास है कि वे सभी ईश्वर प्रदत्त हैं; और ये सभी उन लोगों के लिए आवश्यक थे, जिनके लिए इनका साक्षात्कार हुआ था। और मैं इस वात में भी विश्वास करता हूँ कि यदि हम विभिन्न धर्मों के साहित्य को उनके अनुयायियों के दृष्टिकोण पढ़े तो मालूम होगा कि सव मूलतः एक ही हैं और परस्पर हितकारी हैं।"[२]

नैतिक आचरण के लिए महात्मा गांधी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास को मौलिक आधार मानते हैं और विचार-शुद्धि को उसका एकमात्र साधन :

"यदि हम अपने सभी वचनों और कर्मों का ईश्वर को साक्षी माने तो दूसरों से छिपाने की अपने पास कुछ नहीं रहता। क्योंकि हम अपने कर्ता के समक्ष कोई अपवित्र विचार सोचेंगे नहीं; उनको वचन में उतारने का प्रश्न ही नहीं आता। केवल अपवित्रता के लिए गोपन और अन्धकार की आवश्यकता है।"[३]

"विचार के ऊपर नियंत्रण एक लम्वी, कष्टसाध्य और श्रम-साध्य प्रक्रिया है। परन्तु मैं इस वात को मानता हूँ कि विचार-संयम के लिए जितना भी समय, श्रम और कष्ट लगाया जाय वह कम है। निश्चित अनुभव के आधार पर ईश्वर में विश्वास से ही विचार की पवित्रता संभव है।"[४]

"पवित्र जीवन की आकांक्षा रखनेवाले व्यक्ति से कहना चाहता हूँ कि अपवित्र विचार शरीर को भ्रष्ट करने में उतना ही शक्तिमान है जितना अपवित्र कर्म। मूर्त और कार्यान्वित विचार से अदमित और अमूर्त विचार अधिक बलवान् है।"[५]

"विचार, वचन और कर्म के सामञ्जस्य पर पूरा ध्यान रखना चाहिए। अपने विचारों को शुद्ध रखने का प्रयत्न करो; दूसरी

---

१. हरिजन, २ फा० १९३४।
२. हरिजन, १६ फार० १९३४।
३. यंग-इंडिया, २२ दिस. १९२०।
४. यंग-इंडिया, २५ अग,. १९२७।
५. वही, २५ आग. १९२७; २ सित. १९२६।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वस्तुएँ अपने आप ठीक हो जायेंगी। विचार से बढ़कर कोई शक्तिमान् वस्तु नहीं है। विचार से वचन निकलता है और वचन से कर्म। यह जगत् एक महान् विचार से उत्पन्न हुआ है। जब विचार शक्तिमान् और पवित्र होता है तब उसका परिणाम भी शक्तिमान् और पवित्र होता है।"[१]

महात्मा गांधी के सम्पूर्ण नैतिक विचारों को तीन महान् सद्गुणों के अन्तर्गत विभक्त किया जा सकता है—(१) सत्य, (२) अहिंसा और (३) प्रेम। यद्यपि वे एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं, तथापि सुविधा के लिए अलग-अलग विवेचन किया जा सकता है। महात्मा जी द्वारा दिये गये इनके लक्षण और विवरण शास्त्रीय न होकर अनुभवजन्य और वर्णनात्मक है। सबसे पहले सत्य का विवेचन उन्हीं के शब्दों में दिया जा रहा है:

"सत्य एक महान् वृक्ष के समान है। जितनी ही इसकी सेवा और रक्षा की जाती है उतना ही अधिक वह फल देता है। सत्य की खान में जितनी गहराई से शोध की जाती है उतने ही अधिक बहुमूल्य रत्न वहाँ छिपे हुए मिलते हैं। सेवा करने के अनन्त द्वार ही ये रत्न हैं।"[२]

"सत्य के अनुसंधान करनेवाले को धूल से भी अधिक विनम्र होना चाहिए। संसार धूल को रौंदता है। परन्तु सत्य के अन्वेषी को इतना नम्र होना चाहिए कि उसे धूल भी रौंदे। तभी, और तब तक नहीं, उसे सत्य का दर्शन हो सकता है।"[३]

"सत्य के प्रति भक्ति ही हमारे जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। हमारी सभी क्रियाएँ सत्य में ही केन्द्रित होनी चाहिए। सत्य ही हमारे जीवन का श्वासोच्छ्वास है। जीवन-यात्रा की प्रगति का जब यह मंजिल तै हो जाता है तब सदाचार के अन्य सभी नियम सरलता से सुलभ हो जाते हैं। परन्तु सत्य के बिना जीवन में किसी सिद्धान्त पालन संभव नहीं।"[४]

"विचार, वचन और क्रिया सभी में सत्य होना चाहिए। जिस मनुष्य ने इस पूर्णता में सत्य की उपलब्धि कर ली है उसके लिए और कोई वस्तु जानने के लिए शेष नहीं, क्योंकि सारतः सभी ज्ञान सत्य में ही प्रतिष्ठित है। जो सत्य में स्थित नहीं है वह वास्तविक ज्ञान नहीं है। वास्तविक ज्ञान के बिना आन्तरिक शान्ति नहीं।

---

१. हरिजन, २४ अप्रैल, १९३७।
२. आत्म-कथा, पृ० २१८।
३. वही, पृ० १६ (प्रस्तावना)।
४. यंग-इंडिया, ३० जुलाई, १९३१।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जब हम सत्य के अचूक परीक्षण की विधि सीख लेते हैं तब हम यह जानने में तुरन्त सक्षम हो जाते हैं कि क्या जीने योग्य है, क्या देखने योग्य है और क्या पढ़ने योग्य है।"[१]

"सत्य के अनुसन्धान में तप की आवश्यकता होती है--तप अर्थात् स्वयं कष्टसहन, कभी-कभी मृत्यु भी। सत्य में स्वार्थ के लिए रञ्चमात्र भी स्थान नहीं। इस प्रकार सत्य के अनुसन्धान में कोई अपने लक्ष्य से बहुत समय तक दूर नहीं रह सकता। वह कभी गलत रास्ते पर जा सकता है, लड़खड़ा सकता है परन्तु सही रास्ते पर पुनः आ जाता है। इस तरह सत्य का पालन ही वास्तविक भक्ति है। यही मार्ग है जो ईश्वर तक जाता है, इसलिए इसमें कायरता के लिए कोई स्थान नहीं, पराजय की कोई संभावना नहीं।"[२]

"अमूर्त सत्य का कोई मूल्य नहीं, जब तक कि वह मनुष्यों में अवतरित नहीं होता, जो इसका प्रतिनिधित्व करते हैं और इसके लिए मरने को तैयार रहते हैं। हमारे असत्य और बुराइयाँ बनी रहती हैं, क्योंकि, हम सत्यवादी होने का बहाना मात्र करते हैं। अपने सत्यवादी होने के दावे को सिद्ध करने का एक ही मार्ग है, वह है अपने सत्य के धरोहर के लिए कष्ट-सहन की तैयारी।"[३]

"अनुभव से मुझे यह पाठ मिला है कि सत्य के प्रयोगी के लिए मौन उसकी आध्यात्मिक साधना का अंग है। सत्य के अतिरंजन, गोपन अथवा परिवर्तन की प्रवृत्ति मनुष्य में एक सहज दुर्बलता है। इसको वश में करने के लिए मौन आवश्यक है। कम बोलनेवाला मनुष्य शायद ही वचन में विचारहीन होगा। वह प्रत्येक शब्द को तौलेगा।"[४]

महात्मा गांधी के अनुसार सत्य नैतिक आचरण के प्रस्थान का प्रथम चरण है। यदि यह मार्ग पर ठीक पड़ा तो मनुष्य अपने गन्तव्य तक पहुँच सकता है, नहीं तो वह प्रथभ्रष्ट होकर लुप्त हो जाता है। इसके आगे के, किन्तु इसको चरितार्थ करनेवाले चरण अहिंसा और प्रेम हैं। अहिंसा और प्रेम ही समस्त मानव और लौकिक सम्बन्ध को सार्थक और मधुर बनाने वाले हैं। अहिंसा के सम्बन्ध में महात्मा जी के विचार उन्हीं के शब्दों में दिए जाते हैं :

"अहिंसा हमारी जाति (मानवता) की विधि (कानून) है, जैसे हिंसा हिंसक पशुओं की। हिंसक पशु में आत्मा सुषुप्त रहती है

---

१. यंग-इंडिया, ३० जुलाई, १९३१।

२. वही।

३. वही, २२ दिसम्बर, १९२१।

४. आत्मकथा, पृ० ६२।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और वह शारीरिक बल के अतिरिक्त और किसी विधि को नहीं जानता। मानव का महत्त्व इस बात का तकाजा करता है कि वह उच्चतर विधि का पालन करे—वह उच्चतर विधि है आत्मशक्ति।"[१]

"अहिंसा उच्चतम सक्रिय शक्ति है। यह आत्मशक्ति अथवा मानव के अन्तस्थल में ईश्वरीय शक्ति है। अपूर्ण मानव उसके सम्पूर्ण सार को ग्रहण नहीं कर सकता। इसके पूर्ण प्रकाण्ड प्रकाश को वह सहन नहीं कर सकता। परन्तु यदि अहिंसा का अणुमात्र भी हममें प्रज्वलित हो गया तो वह आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है।"[२]

"मानव जाति के हाथ में अहिसा सबसे बड़ी शक्ति है। मनुष्य की बुद्धि से निर्मित सबसे अधिक विध्वंसकारी शस्त्रास्त्रों से भी अहिंसा बलवती है। विध्वंस मानस जाति की विधि नहीं है। मरने की तैयारी के साथ मानव स्वतन्त्रता से जीता है। यदि आवश्यकता हुई तो अपने भाई के हाथ भी मरने को तैयार रहता है. परन्तु वह किसी को मारेगा नहीं। चाहे कारण जो भी, प्रत्येक हत्या अथवा आघात, जो दूसरों के साथ किये जाते हैं, मानव के प्रति अपराध है।"[३]

"मेरा अहिंसा-धर्म एक नितान्त सक्रिय शक्ति है। कायरता और दुर्बलता के लिए इसमें स्थान नहीं। अहिंसक व्यक्ति का कभी हिंसक होना संभव है, परन्तु वह कायर नहीं होगा। इसलिए मैंने अनेक बार कहा है कि "यदि हम अपनी, अपनी स्त्रियों और अपने देवस्थानों की रक्षा का कोई और उपाय कष्ट-सहन और अहिंसा के द्वारा न देखें, तो यदि हम मनुष्य हैं, तो युद्ध के द्वारा इनकी रक्षा करने में समर्थ बनें।"[४]

"सत्ययुक्त अहिंसा के द्वारा तुम सारे संसार को अपने चरणों पर झुका सकते हो। राजनीतिक अथवा राष्ट्रीय जीवन में सत्य और अहिंसा के प्रवेश के अतिरिक्त सारतः सत्याग्रह और कुछ नहीं।"[५]

"सत्याग्रही यदि स्वभावतः विधि-पालक नहीं तो और कुछ नहीं। विधि-पालन का सहज स्वभाव ही उसे उच्चतम विधि के पालन करने के लिए तैयार करता है। वह उच्चतम विधि अपनी आत्मा की पुकार है जो सभी विधि-नियमों के ऊपर है।"[६]

---

१. यंग इंडिया, ११ सितम्बर, १९२० ।
२. हरिजन, १२ नवम्बर, १९३८ ।
३. हरिजन, २० जुलाई, १९३५ ।
४. यंग इंडिया, १६ जून, १९२७ ।
५. यंग इंडिया, १० मार्च, १९२०
६. स्पीचेज एण्ड राईटिंग्ज, पृ० ४६५ ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

"यह वह शक्ति है जिसका उपयोग व्यक्ति और समाज सभी कर सकते हैं। इसका प्रयोग राजनीतिक और पारिवारिक दोनों क्षेत्रों में हो सकता है। इसके स्थायित्व और अजेयता का प्रमाण इसका सार्वजनिक प्रयोग है। स्त्री, पुरुष और बच्चे सभी इसका प्रयोग कर सकते हैं। यह कहना बिलकुल असत्य है कि यह केवल दुर्वलों का अस्त्र है।"[१]

"प्रत्येक महान् उद्देश्य के लिए संघर्ष में लड़नेवालों की संख्या का महत्त्व नहीं, किन्तु उस सद्गुण का महत्त्व है जिनके वे वने हैं। यही गुण निर्णायक तत्त्व है। संसार के महान् पुरुष सदा अकेले खड़े हुए हैं।"[२]

"मैं इस सत्य में विश्वास करता हूँ कि ईश्वर की सृष्टि के सभी जीवों को जीने का उतना ही अधिकार है जितना मनुष्य को। यदि घातक कहे जानेवाले हमारे साथी जीवों को मारने की विधि वताने के वदले, संसार के ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान और शक्ति को इस वात के आविष्कार में लगाते कि इन जीवों के साथ मारने के अतिरिक्त और किस प्रकार से व्यवहार करे तव हम ऐसे जगत् में रह सकते हैं, जो अनुकूल है मनुष्यों के; ऐसे मनुष्य-जीवों के जिनमें शुभ-अशुभ, सत्य-असत्य, अहिंसा-हिंसा आदि के वीच चुनाव करने की शक्ति है।"[३]

"मैं वास्तव में विश्वास करता हूँ कि नाममात्र के बहाने पर मनुष्य को मार डालने की मनुष्य की आदत ने उसकी बुद्धि और विवेक को धूमिल कर दिया है। यदि उसका विश्वास होता कि ईश्वर प्रेम और दया का ईश्वर है तो दूसरों को मारने की स्वतन्त्रता के नाम से वह विकम्पित हो जाता।"[४]

"मैं अपनी सम्पूर्ण आत्मा से पशुओं के चीड़-फाड़ को घृणा की दृष्टि से देखता हूँ। विज्ञान और तथाकथित मानवता के नाम पर निरपराध जीवों के अक्षम्य वध को बुरा समझता हूँ। निरपराध पशुओं के रक्त से रंगे हुए सभी विज्ञान के सभी आविष्कारों का मैं कोई मूल्य नहीं मानता।"[५]

अहिंसा जीवन में इतना महत्त्वपूर्ण होते हुए भी निषेधात्मक है। जब तक

१. यंग इंडिया, ३ नवम्बर, १६२७
२. वही १० अक्टूबर, १६२६।
३. हरिजन, ६ जनवली १६३७।
४. हरिजन, ६ जनवरी, १६३७।
५. यंग इंडिया, १७ दिसम्बर, १६२५।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इसका पूरक प्रेम इसके संयुक्त नहीं होता तब तक यह अधूरी है। अतः महात्मा गान्धी ने अहिंसा के समानान्तर प्रेम का प्रयोग और प्रचार किया :

"मेरा विश्वास है कि मानव जाति की समस्त शक्ति का उद्देश्य हम को नीचे गिराने का नहीं, अपितु ऊपर उठाने का है। यह निश्चित किन्तु अचेतन रूप से प्रेम की विधि का परिणाम है। मनुष्य जाति जीवित है, यह तथ्य ही सिद्ध करता है कि संघटनात्मक शक्ति विघटनात्मक शक्ति से प्रबल है, केन्द्रीकरण की शक्ति विकेन्द्रीकरण से अधिक है।"[१]

"मैंने पाया है कि विध्वंस के बीच में भी जीवन सुरक्षित रहता है। इसलिए विध्वंस से बढ़कर भी कोई नियम है। उसी के अन्तर्गत सुव्यवस्थित समाज की कल्पना की जा सकती है। और उसी में जीवन सार्थक होगा।"[२] यदि प्रेम जीवन की विधि नहीं होता तो मृत्यु के बीच में जीवन बचा नहीं रहता। समाधि के ऊपर जीवन सनातन विजय है।"[३]

"जहाँ प्रेम है वहाँ ईश्वर है।"[४] प्रेम लेने का दावा नहीं करता; यह सदा देता है। यह बरावर कष्ट उठाता है, दूसरों पर क्रोध नहीं करता। यह कभी प्रतिशोध नहीं लेता।"[५]

"यदि मनुष्य और पशु में कोई मौलिक भेद है तो वह यह है कि मानव प्रेम की विधि की प्रगतिशील अनुभूति करता है और अपने व्यक्तिगत जीवन में इसका व्यवहार। संसार के सभी संत-महात्मा, प्राचीन और आधुनिक, अपने ज्ञान और योग्यता के अनुसार प्रेम की सजीव मूर्ति थे।"[६]

"हमें अपने प्रेम के दायरे को विस्तृत करना होगा, जिससे वह पूरे गाँव का आलिंगन कर सके, गाँव जिले का, जिला प्रान्त का, और इस प्रकार हमारे प्रेम का क्षेत्र सम्पूर्ण विश्व का समवर्ती हो सके।"[७]

"घातक प्रतियोगिता नहीं, जीवनदाता सहयोग मानव जीवन की विधि है। जीवन में प्रेम-तत्त्व की अवहेलना करने का अर्थ है इस

---

१. यंग इंडिया, १२ नवम्बर, १९३१।
२. वही १ अक्टूबर, १९३१।
३. हरिजन, २६ सितम्बर, १९३६।
४. सत्याग्रह इन साउथ अफ्रिका, पृ० ३६०।
५. यंग इंडिया, जुलाई १९२५।
६. हरिजन, २६ सितम्बर, १९३६।
७. यंग इंडिया, २७ जून, १९२८।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बात को भूल जाना कि मानव-हृदय भावनाओं से भरा है। यदि हम दयामय भगवान् की मूर्ति के अनुरूप बनाये गये हैं तो हमारा कर्तव्य कुछ लोगों का अथवा बहुत लोगों का नहीं, अपितु समस्त लोगों का कल्याण करना है।"[१]

सत्य, अहिंसा और प्रेम ही महात्मा गांधी के समस्त कार्य-क्रम के साधन हैं। इनके माध्यम से ही वे सब कुछ करना चाहते थे; इनको छोड़कर एक चरण भी रखना उनके लिए असंभव था। उनके अनुसार साधन और साध्य में कोई मौलिक अन्तर नहीं। साधन की परिणति ही साध्य है। इसलिए उत्तम साध्य की प्राप्ति के लिए उत्तम साधन आवश्यक है:

> "मेरे जीवन-दर्शन में साधन और साध्य परस्पर परिवर्तनीय हैं।[२] लोग कहते हैं, 'साधन आखिरकार साधन ही है।' मैं कहूँगा, 'साधन अन्ततोगत्वा सभी कुछ है।' जैसे साधन होते हैं वैसे साध्य। हिंसक साधन से हिंसक स्वराज्य मिलेगा। वह संसार के लिए और भारत के लिए भी खतरा होगा। फ्रांस ने हिंसक साधनों से स्वतन्त्रता प्राप्त की। अपनी हिंसा के लिए उसको अभी तक महँगा मूल्य चुकाना पड़ रहा है।"[३]

> "साधन और साध्य के बीच कोई विभाजक दीवार नहीं है। वास्तव में, स्रष्टा ने केवल साधनों के ऊपर नियन्त्रण का अधिकार दिया है और वह भी बहुत सीमित; साध्यों के ऊपर हमारा कोई नियंत्रण नहीं। साध्य की प्राप्ति साधनों के अनुपात में होती है। यह एक ऐसी प्रस्थापना है जिसका कोई अपवाद नहीं।"[४]

इन्हीं नैतिक साधनों से महात्मा गांधी ने सभी राजनीतिक, सामाजिक धार्मिक और आर्थिक समस्याओं को हल करने का प्रयास किया। राजनीति में सत्याग्रह का प्रयोग उनका अभिनव प्रयास था:

> "मेरे लिए धर्म से रहित राजनीति बिलकुल कूड़ा है, जिसका सदा परित्याग करना चाहए। राजनीति का सम्बन्ध राष्ट्रों से और राष्ट्रों का सम्बन्ध मानव कल्याण से है। मानव कल्याण से सम्बन्ध उसी मनुष्य का हो सकता है जिसकी धर्म की ओर प्रवृत्ति है, दूसरे शब्दों में, जो ईश्वर और सत्य का अन्वेषी है।"[५]

> "सत्याग्रह मृदु है, यह कभी आघात नहीं करता। यह क्रोध

---

१. सत्याग्रह, इन वेस्टर्न अफ्रिका, पृ० ३५०।
२. यंग इंडिया, २६ दिसम्बर, १९२४।
३. वही, १७ जुलाई, १९२४।
४. यंग इंडिया, १७ जुलाई, १९२४।
५. वही, १८ जून, १९२५।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और द्वेष का परिणाम नहीं होता। यह दिखाऊ कभी नहीं होता, यह अधीर नहीं होता और न कभी बकवासी। यह बाहरी आरोप का सीधा विरोध है। हिंसा के पूर्ण विकल्प के रूप में इसकी कल्पना हुई थी।"[१]

"लोकतंत्र का सारभूत अर्थ होना चाहिए वह कला और विज्ञान जो जनता के विभिन्न वर्गों के शारीरिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक साधनों को सक्रिय बना कर उन्हें सर्वसाधारण की सेवा में लगा देता है।"[२]

"लोकतंत्र की भावना प्रशासकीय अथवा सार्वजनिक आतंकवाद के वातावरण में नहीं स्थापित हो सकती। किन्हीं परिस्थितियों में सार्वजनिक आतंकवाद लोकतांत्रिक भावना के लिए प्रशासकीय आतंकवाद से अधिक घातक सिद्ध होता है। क्योंकि प्रशासकीय आतंकवाद से लोकतंत्र पुष्ट होता है, सार्वजनिक आतंकवाद उसे नष्ट कर देता है।"[३]

"विनयशील और प्रबुद्ध लोकतंत्र संसार में बहुत अच्छी चीज है। पूर्वाग्रही, अज्ञ, अन्धविश्वासी लोकतंत्र का परिणाम अव्यवस्था होती है और इस प्रकार का लोकतंत्र स्वयंघाती हो सकता है।"[४]

"मेरी कल्पना के लोकतंत्र का, अपनी इच्छा भौतिक बल से दूसरों पर लादने के साथ, कोई मेल नहीं।"[५]

"लोकतंत्र और हिंसा दोनों साथ नहीं चल सकते। जो राज्य नाममात्र के लोकतांत्रिक हैं, उनको या तो खुलेआम तानाशाही, होना पड़ेगा अथवा यदि उन्हें सचमुच लोकतांत्रिक होना है तो उन्हें साहस के साथ अहिंसक बनना पड़ेगा। यह कहना बहुत बड़ा अपराध है कि अहिंसा का प्रयोग केवल व्यक्तियों के लिए है और व्यक्तियों से बने हुए राज्यों के लिए नहीं।"[६]

"विवेक के मामलों में बहुमत के सिद्धान्त का कोई स्थान नहीं।" बहुमत के सिद्धान्त की गुलामी स्वीकार कर लोकतंत्र के अनुशासन को उपहसनीय नहीं बनाना चाहिए। (विवेकहीन और निर्मम) बहुमत के सिद्धान्त को स्वीकार कर हम पशुबल को (पहले से)

---

१. हरिजन, १५ अप्रैल, १९३३।
२. वही, २७ मई, १९३९।
३. यंग इंडिया, २३ फरवरी, १९२१।
४. यंग इंडिया, ३० जुलाई, १९३१।
५. एपिकाफास्ट, पृ० १०२।
६. हरिजन, १२ नवम्बर, १९३८।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अधिक विषाक्त रूप में पुनर्जीवित करेंगे। यदि अल्पमत के अधिकारों का आदर करना है, तो बहुमत को उसकी सम्मति और कामों का स्वागत करना चाहिए।...यह बहुमत का कर्तव्य होगा कि वह अल्पमत की बातों को समुचित रूप से सुने और उनका कभी अपमान न करे।"[१]

"सत्ता का मद मनुष्यों को अन्धा और बहरा बना देता है; वे अपनी नाक के बिलकुल नीचे की चीजों को देख नहीं पाते और न अपने कानों पर चोट करनेवाले शब्दों को सुन पाते हैं। इसलिए कोई कह नहीं सकता कि शक्ति के कारण मदमत्त सरकार क्या नहीं कर सकती इसलिए...देशभक्त को मृत्यु, जेल और उस प्रकार की अन्य यातनाओं के लिए तैयार रहना चाहिए।"[२]

सामाजिक नीति में भी महात्मा गांधी ने सत्य, अहिंसा और प्रेम के प्रयोग का प्रसार किया। सामाजिक सम्बन्धों में वे साम्यवादी नहीं थे, परन्तु समाज के विभिन्न अंगों में सद्भावना और न्याय का व्यवहार हो, इसके प्रबल समर्थक थे। इसी दृष्टि से स्त्री-पुरुष, विभिन्न वर्ण और वर्ग तथा हरिजनों के प्रश्न का समाधान उन्होंने प्रस्तुत किया। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के बारे में उनके निम्नलिखित विचार थे :

"आज के दुःखों को अधिकांश दूर किया जा सकता है यदि स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को हम स्वस्थ और पवित्र दृष्टि से देखें और अपने को भावी पीढ़ियों के नैतिक कल्याण का ट्रस्टी समझें।"[३]

"मनुष्य को पशु से जो चीज मुख्यतः अलग करती है वह यह है कि मनुष्य ने अपने विवेक के उदय के समय से बराबर संयमित जीवन बिताने का प्रयत्न किया है। ईश्वर ने मनुष्य को बहन, माता, कन्या और पत्नी में भेद करने की क्षमता प्रदान की है।"[४]

"यौन-सम्बन्ध की इच्छा एक अच्छी और उदात्त वस्तु है। इसके सम्बन्ध में लज्जित होने की आवश्यकता नहीं। किन्तु यह केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए सीमित होनी चाहिए। इसका कोई और उपयोग ईश्वर और मानवता के विरुद्ध अपराध है।"[५]

"यौन जीवन का एकान्त त्याग, पूर्ण ब्रह्मचर्य आदर्श स्थिति है।

१. यंग इंडिया, ८ दिसम्बर, १९२१।
२. वही, १३ अक्टूबर, १९२१।
३. यंग इंडिया, २७ सितम्बर, १९२८।
४. विथ गांधी जी इन सिलोन, पृ० ८४।
५. हरिजन, २८ मार्च, १९२८।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यदि तुम ऐसा सोचने का साहस नहीं रखते तो अवश्य विवाह करो। किन्तु विवाहित होकर भी संयम का जीवन व्यतीत करो।"[१]

"पत्नी पति की दासी नहीं, किन्तु उसकी संगिनी और सहायिका है। उसके समस्त सुख-दुःख में समान भागी है। वह अपना मार्ग चुनने में उतनी ही स्वतन्त्र है, जितना उसका पति।"[२]

"तुम्हें अपनी पत्नी के सम्मान की रक्षा करनी चाहिए किन्तु उसका मालिक नहीं बनना चाहिए। उसका सच्चा मित्र होना चाहिए। उसके शरीर और आत्मा को तुम्हें उतना ही पवित्र समझना चाहिए जितना उसे तुम्हारे शरीर और आत्मा को। इस आदर्श की प्राप्ति के लिए धर्ममय श्रम और सादगी और संयम का जीवन बिताना आवश्यक है। तुम दोनों में से किसी को एक दूसरे के शरीर को काम-तृप्ति का साधन नहीं समझना चाहिए।"[३]

"जिस प्रकार स्त्री और पुरुष मूलतः एक हैं, उसी प्रकार उनकी ससस्याएँ भी सारतः एक हैं। दोनों में आत्मा एक ही है। दोनों एक ही प्रकार का जीवन व्यतीत करते हैं और एक ही प्रकार की भावनाएँ रखते हैं। एक दूसरे के पूरक हैं। एक दूसरे की सक्रिय सहायता के बिना जीवन नहीं व्यतीत कर सकते।"[४]

"फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी एक स्थल पर दोनों में भेद है। जब कि दोनों मूलतः एक हैं, यह इतना ही सत्य है कि दोनों के रूप में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। इसलिए दोनों के काम अवश्य भिन्न होना चाहिए। माता का कर्तव्य, जिसको अधिकांश स्त्रियाँ सदा स्वीकार करेंगी, एक विशेष प्रकार के गुण की अपेक्षा करता है, जो पुरुष में नहीं पाये जाते। स्त्री सहिष्णु है। पुरुष सक्रिय। स्त्री गृहस्वामिनी और पुरुष रोटी कमानेवाला है। वह रोटी की संरक्षिका और वितरण करनेवाली है। वह प्रत्येक अर्थ में घर के लोगों की देख-भाल करनेवाली है।"[५]

गांधी जी की सामाजिक नीति में हरिजनों का प्रश्न बड़ा महत्त्व रखता है। अस्पृश्यता निवारण और हरिजनों को मानवोचित अधिकार दिलाने का उन्होंने आजीवन प्रयत्न किया। वैसे तो समस्त दुःखी और पीडित मानवता के प्रति उनकी सहानुभूति थी, परन्तु जो विशेष रूप से विपन्न थे उन पर उनका अधिक ध्यान था। अस्पृश्यता के सम्बन्ध में उनके निम्नलिखित विचार थे :

---

१. वही, ७ सितम्बर, १९३५।
२. आत्मकथा (अंग्रेजी), पृ० २५।
३. यंग इंडिया, २ फरवरी, १९२८।
४. हरिजन, २४ फर. १९४०।
५. वही।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

"अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म के वैसे ही विषैला बना देती है जिस प्रकार शंखिया का एक बूंद दूध को।"[१] "छुई-मुई-वाद जो वर्तमान हिन्दू-धर्म को विकृत वनाता है, एक रोगात्मक बाढ़ है। यह केवल बुद्धि की जड़ता और अन्धे अहंकार को प्रकट करती है। धर्म और नीति की आत्मा के यह विरुद्ध है।"[२]

"मेरे विचार में यह एक अभिशाप है जो हमारे ऊपर पड़ा है, और जब तक यह अभिशाप बना हुआ है तव तक मैं यही समझता हूँ कि जितनी विपत्तियाँ हमें इस पवित्र भूमि में झेलनी पड़ रही है वे इस अक्षम्य अपराध के लिए उचित दण्ड है।"[३]

"स्वराज्य एक अर्थहीन शब्द है, यदि हम भारत की पञ्चमांश जनता को स्थायी रूप से पराधीनता में रखना चाहते हैं और उसको जान-बूझ कर राष्ट्रीय संस्कृति के फल से वञ्चित करते हैं। इस महान् पवित्रता-यज्ञ (राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य) में भगवान् की सहायता के लिए प्रार्थना करते हैं, परन्तु उसी की सन्तान को मानवोचित अधिकार देने से इनकार करते हैं। हम स्वयं अमानुषिक हैं। हम भगवान् के सिंहासन के सामने दूसरों के अपने ऊपर अमानुषिक अत्याचारों से त्राण पाने की कैसे प्रार्थना कर सकते है।"[४]

आर्थिक विषमता के विरुद्ध भी गांधी जी ने आजीवन संघर्ष किया। उनकी आर्थिक नीति धर्म और नीति पर आधारित थी। उन्हीं के शब्दों में उसका सारांश नीचे दिया जाता है:

"वह अर्थशास्त्र, जो व्यक्ति अथवा राष्ट्र की नैकितता को आघात पहुँचाता है, अनैतिक और पापमय है। इस प्रकार जो अर्थशास्त्र एक देश को दूसरे देश का शोषण करने की अनुमति देता है वह भी अनैतिक है। शरीर को क्षीण करनेवाले परिश्रम के द्वारा उत्पन्न किये हूए सामानों को खरीदना और उपयोग करना भी पाप है।"[५]

"अर्थशास्त्र के क्षेत्र में अहिंसा के सिद्धान्त के प्रसार का अर्थ है अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में नैतिक मूल्यों के विचार का महत्त्व जो उसका नियमन कर सकें।"[६]

"मैं हृदय से घृणा करता हूँ इस पागल बुभुक्षा को जो दूरी

---

१. यंग इंडिया, २० दिसम्बर १९२७।
२. हरिजन, २० अप्रैल, १९३४।
३. स्पीचेज एण्ड राईटिंग्ज, पृ० ३८७।
४. यंग इंडिया, २५ मई, १९२१।
५. यंग इंडिया, १३ अक्टूबर, १९२१।
६. वही, २६ दिसम्बर, १९२४।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और काल को नष्ट करना चाहती हैं, पाशविक वासनाओं को बढ़ा रही हैं और उनकी तृप्ति की खोज में संसार के इस कोने से उस कोने तक चक्कर काट रही है। यदि आधुनिक (आर्थिक) सभ्यता का यही अर्थ है, और मैंने इसे यही समझा है, तो मैं इसे शैतानी ही मानता हूँ।"[१]

"मैं ऐसे समय की कल्पना नहीं करता जब एक मनुष्य दूसरे से धनी नहीं होगा। परन्तु ऐसे समय की कल्पना अवश्य करता हूँ जब धनी और धनी बनने का मोह छोड़ देगा और गरीब धनी से द्वेष नहीं करेगा। पूर्ण संसार में भी विषमताएँ समूल नष्ट नहीं होंगी, किन्तु हम संघर्ष और कटुता को कम कर सकते हैं और करना चाहिए।"[२]

"प्रत्येक मनुष्य को समान अधिकार है अपने जीवन की आवश्यकताओं को प्राप्त करने का, जैसे पक्षियों और पशुओं को है। प्रत्येक अधिकार के साथ उसके अनुपात में कर्तव्य होता है। और इस अधिकार पर आघात के प्रतिरोध का भी अधिकार होता है। अपने मौलिक आर्थिक समता के अधिकारों की रक्षा का कर्तव्य स्वाभाविक है। यह कर्तव्य है अपने शरीर से परिश्रम करना और श्रम के फलों से जो वञ्चित करता है उसके साथ असहयोग करना।"[३]

इन्हीं नैतिक मूल्यों के आधार पर गांधीजी रामराज्य की स्थापना करना चाहते थे। रामराज्य उनके आदर्श राज्य और समाज की कल्पना थी। यह आधुनिक सभी वादों से मुक्त न्याय, सत्य, अहिंसा और प्रेम के ऊपर आधारित थी। वे वास्तव में आजकल के समाजवाद और साम्यवाद को अधिक व्यापक और लोकग्राह्य बनाना चाहते थे। आधुनिक समाजवाद और साम्यवाद आर्थिक अथवा भौतिक सुख पर बल देते हैं और यांत्रिक समता में विश्वास करते हैं। गांधी जी का आदर्श समाज आध्यात्मिक एकता, कर्तव्य-बोध और नैतिक सदाचरण पर अवलम्बित है। उनका कहना था कि जब तक लोक अथवा जनता में नैतिक चेतना का विकास नहीं होगा तब तक केवल पशुबल के आधार पर मानव के समानाधिकार की स्थापना नहीं होगी। आत्म-चेतना प्राप्त किया हुआ सत्य, अहिंसा और प्रेम का उपासक पुरुष बिना किसी बाहरी दबाव के आदर्श समाज की सृष्टि कर लेगा। गांधी जी सिद्धान्ततः अराजकवादी थे, यदि आधुनिक शब्दावली का प्रयोग उनके सम्बन्ध में संभव हो तो। उनके अनुसार आदर्श सामाजिक स्थिति में राज्य की कोई आवश्यकता नहीं।

---

१. वही, १७ मार्च, १९२७।
२. वही, ७ अक्टूबर, १९२६।
३. वही, २६ मार्च, १९३१।

२६

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

गांधीजी के कुछ आलोचकों के अनुसार वे केवल एक स्वप्नद्रष्टा थे जिन्होंने अध्यात्म और नीति के आधार पर आदर्श समाज की कल्पना की। उनका आदर्श अतिमानवीय और उनके साधन यथार्थ से दूर और अव्यवहारिक हैं। उनका मार्ग प्राचीन भारतीय दर्शन के समान निवृत्तिप्रधान और सन्यासवादी है। परन्तु ऐसा मानना गांधी जी की विचारधारा और जीवन-पद्धति के प्रति अन्याय है। गांधीजी वास्तविक यथार्थवादी थी। वास्तविक यथार्थवाद अवास्तविक यथार्थवाद से भिन्न है। परन्तु उसमें और आदर्शवाद में कोई अन्तर नहीं। आज का वास्तविक यथार्थ क्या है? जीवन के मूल स्रोत को छोड़कर उसकी वहुमुखी जटिलता में उलझना, तृष्णा और भोग का ताण्डव, जीवन का यंत्रीकरण और मानव की हीनता, भौतिक विज्ञान का अतिरंजन, विज्ञान और यंत्र से उत्पन्न विकृत पूंजीवाद, आर्थिक और सामाजिक विषमता, नैतिक अव्यवस्था, परस्पर संघर्ष, राजनीतिक संघर्ष और विश्वविध्वंस की तैयारी। इस यथार्थ का प्रतिकार ही वास्तविक यथार्थ अथवा आदर्श है। गांधीजी इस परिस्थिति की ठोंक-ठाँक कर मरम्मत नहीं, इसका निदान कर पूरी चिकित्सा करना चाहते थे। इसलिए जीवन के मौलिक प्रश्नों—अध्यात्म और नीति तथा जीवन का सरलीकरण— का उन्होंने समाधान किया, जिनको आज का प्रवाहपतित मनुष्य देख नहीं पाता और उनको अयथार्थ और अव्यावहारिक मानता है।

भारतीय पुनरुत्थान के पूर्ण अध्ययन के लिए द्रष्टव्य :—

(१) ब्रह्मसमाज का इतिहास, (२) आर्य समाज का इतिहास, (३) रामकृष्ण-विवेकानन्द, (४) राष्ट्रीय कांग्रेस का इतिहास, (५) तिलक, (६) मालवीय, (७) गांधी, (८) रवीन्द्र और (९) अरविन्द।

उपसंहार

भारतीय नीति के विकास का वहुत लम्वा इतिहास है। ऋग्वेद की ऋचाओं से प्रारम्भ कर गांधी तक अनेक अवस्थाओं और परिस्थितियों को पार करती हुई भारतीय नीति विकसित होती रही है। इसका प्रथम प्रस्थान पूर्व वैदिक काल में पाया जाता है जो ऋग्वेद में चित्रित है। यह प्रस्थान प्राथमिक होते हुए भी मौलिक है। ऋषियों ने अपनी उग्र तपस्या, सहज बोध और अनुभव के द्वारा नीति के अनेक मौलिक तत्त्वों का साक्षात्कार किया, जैसे, ऋत, सत्य, धर्म, यज्ञ, तप, व्रत आदि। ये केवल भारतीय नीति की ही नहीं, अपितु नीतिमात्र की आधारशिला माने जा सकते हैं। इनकी कल्पना का सार्वभौम महत्त्व है। उत्तर-वैदिक काल के पूर्वार्द्ध-ब्राह्मण-ग्रन्थों में यद्यपि कर्मकाण्ड की प्रधानता थी, फिर भी इसमें कई महत्त्वपूर्ण नैतिक कल्पनाओं और संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ। यज्ञ का उद्भव और विकास एक विराट् कल्पना थी। यज्ञ सृष्टि-प्रक्रिया का प्रतीक था और लोक-संग्रह के लिए किये गये कर्म का प्रतिमान। इस दृष्टि से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मानव का सम्पूर्ण जीवन यज्ञार्थ और लोक-मंगल के लिए समर्पित समझा गया। यज्ञ के विस्तार के अतिरिक्त त्रिऋण—ऋषि ऋण, देवऋण और पितृ-ऋण-की कल्पना का भी अपना विशेष महत्त्व है। इसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य विश्व के प्रति निश्चित दायित्व को लेकर उत्पन्न होता है, जिनका पूरा करना उसके लिए अनिवार्य है। पञ्च महायज्ञों की कल्पना सांस्कृतिक, सामाजिक तथा सार्व-भौम कर्तव्यों के दैनिक अभ्यास के लिए की गयी थी। ब्रह्मयज्ञ से ऋषियों के प्रति, देवयज्ञ से दिव्य शक्तियों के प्रति, पितृयज्ञ से पितरों और जाति के प्रति, अतिथि यज्ञ से समाज के दायित्व के प्रति और भूतयज्ञ के द्वारा जीवमात्र के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन किया जाता था। उत्तर वैदिक काल के दूसरे भाग—उपनिषदों में नैतिक आचार की दार्शनिक व्याख्यायें ढूंढ़ निकाली गयीं। ब्रह्म, आत्मा, कर्म, वन्ध और मोक्ष के सन्दर्भ में जीवनपद्धति का अनुसन्धान किया गया। इनमें नीति के उद्गम, उद्देश्य, साधनता, उपयोगिता आदि सभी विषयों पर विचार किया गया। नीति के आध्यात्मिक आधार को स्पष्ट किया गया। यह प्रतिपादित हुआ कि अध्यात्म के बिना नीति का भवन खड़ा नहीं हो सकता। अनेक प्रकार के परिवर्तनों के बीच भारतीय नीति की यह विशेषता आज तक सुरक्षित है।

आदिम जीवन का परिष्कार और संस्कार करके भावनाप्रधान, सरल और पवित्र जीवन का जो निर्माण वैदिक काल में किया गया उसमें क्रमशः परिवर्तन आने लगा। भौतिक जीवन के विस्तार के साथ सभ्यता की जटिलताओं से जीवन में अनेक प्रकार और समस्याएँ उठने लगीं। एक ओर ब्राह्मण(-ग्रन्थ) युग का कर्मकाण्ड अथवा कर्मवाद, दूसरी ओर उपनिषदों का ज्ञानकाण्ड से प्रभावित निवृत्ति अथवा सन्यासवाद और तीसरी ओर भौतिक सभ्यता से प्रसूत भौतिक भोगवाद, इस सवका संघर्ष जीवन में उमड़ने लगा। महाभारत का युग द्वापर अथवा द्वन्द्व का था। जीवन में जितने द्वन्द्व हो सकते हैं उस समय उपस्थित थे। इन्हीं द्वन्द्वों का चित्रण और समाधान महाभारत में प्रस्तुत किये गये। गीता का कर्मयोग इन्हीं प्रश्नों और समस्याओं का हल था। इसमें व्यावहारिक अथवा लौकिक कर्म के साथ ज्ञान और भक्ति का समन्वय किया गया। ज्ञान की दृष्टि से प्रवुद्ध भक्ति की भावना से अनुप्राणित पुरुष किस प्रकार अनासक्त होकर अपने लौकिक कर्तव्यों का पालन कर सकता है, इसका मार्ग गीता में कर्मयोग के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके बतलाया गया। परन्तु विधि अथवा प्रकृति की कुछ ऐसी विडम्बना है कि सामाजिक संतुलन स्थायी नहीं रहता; संभवतः मनुष्य के पुरुषार्थ को जागृत रखने के लिए। संतुलन बनाये रखने के लिए उसे बराबर प्रयास करना पड़ता है। इसी में उसका नैतिक पुरुषार्थ दिखायी पड़ता है। गीता के कर्मयोग से कुछ काल बाद अनासक्ति कम होने लगी। कर्मयोग के कर्म पर अधिक बल पड़ता गया और उसका सम्बन्ध अध्यात्म और भक्ति से छूटने लगा। नीति अध्यात्म और भक्ति का आधार और प्रेरणा छोड़कर धीरे-धीरे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

व्यावहारिक—लोकायत—होने लगी। समाज में एक ऐसा मुखर वर्ग उत्पन्न हुआ जो अध्यात्म के स्थान में प्रत्यक्ष भौतिकवाद का समर्थन करने लगा; भक्ति के बदले भोग का और तप के बदले सुखवाद का प्रसार करना प्रारम्भ किया; और कर्मयोग के बदले केवल कर्म यांत्रिक और व्यापारिक—उसके जीवन का क्रम बन गया। लोकायत अथवा चार्वाक नीति में इसी जीवन-पद्धति का समर्थन पाया जाता है। यह यथार्थवाद के नाम पर शुद्ध प्रत्यक्षवादी भौतिक भोगवाद का मार्ग था।

इस क्रिया और प्रतिक्रिया की परम्परा में लोकायतों के भौतिक सुखवाद के विरोध में भी प्रतिक्रिया हुई। इसी प्रतिक्रिया में यति-धर्मप्रधान निवृत्तिमार्गी धर्मों का उदय हुआ, जिनमें जैन और बौद्ध धर्म प्रधान थे। इन नये धर्मों और इनके द्वारा प्रतिपादित नीति की प्रतिक्रिया न केवल लोकायत सुखवाद के विरुद्ध थी, अपितु वैदिक निगमवाद और अध्यात्मवाद के विरुद्ध भी। इस दुहरी प्रतिक्रिया और जीवन की नयी परिस्थितियों के सन्दर्भ में इन्होंने नये नीति मार्ग का प्रवर्तन किया। यह भारतीय नीति का दूसरा प्रस्थान था। जैन धर्म ने सत्य के अनुसन्धान में निगम (आन्तरिक साक्षात् अनुभूति) के बदले आगम (युक्ति अथवा तर्क) का सहारा लिया; सर्वव्यापी आध्यात्मिक आधार (ब्रह्म अथवा ईश्वर) के स्थान में बहुत्ववादी व्यक्तिगत अध्यात्म का अवलम्बन किया। परन्तु कर्म (कार्य-कारण-सम्बन्ध), तप और सन्यास में इसकी पूर्ण आस्था थी। इसका अध्यात्मवाद आधा ही था; अतः नीति को दृढ़ बनाने के लिए इसने कठोर और तपोप्रधान आचारवाद को अपनाया। नीति के चिरप्रचलित तत्त्वों—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—को इसने पुनः संयोजित और संघटित किया और इनको पञ्च महाव्रत का नाम दिया। अहिंसा को इसने प्रथम और प्रमुख स्थान दिया। वैदिक नीति में, आत्मा के अमर होने के कारण, शारीरिक जीवन-मरण का प्रश्न गौण था; शारीरिक वध से विरत होने की आत्यन्तिक आवश्यकता नहीं थी। परन्तु जैन नीति में आत्मा की अमरता में विश्वास ही पर्याप्त नहीं है; प्रत्येक जीवधारी का शरीर भी अवध्य है। जैन धर्म ने अहिंसा से ही अन्य महाव्रतों की व्युत्पत्ति करके इसका सर्वाधिक महत्त्व बढ़ाया। बौद्ध धर्म न तो सर्वव्यापी अध्यात्म में विश्वास करता था और न व्यक्तिगत अध्यात्म में। वैदिक और जैन दोनों परम्पराओं से इसकी विलक्षण स्थिति थी। इसने निगम छोड़कर आगम को सत्य के ज्ञान का माध्यम माना और शुद्ध मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद के ऊपर अपनी नीति का भवन निर्मित किया। किन्तु कर्म, निर्वाण, परमार्थ और आचारवाद में इसकी भी निष्ठा थी। जैन नीति के समान यह कठोर आचारवादी न होकर मध्यममार्गी था। इसके दस शील पञ्चमहाव्रतों के सदृश आत्यन्तिक नहीं थे, अपितु सरल थे। जैन और बौद्ध नीति का प्रसार अंशतः अध्यात्मवादी, अंशतः अनात्मवादी, मनोवैज्ञानिक किन्तु धर्मवादी था; धर्मनिरपेक्ष नहीं। ये दोनों ही सम्प्रदाय धर्म को जीवन के लिए मौलिक मानते थे और धार्मिक भावना के उच्छेद के समर्थक नहीं थे। परन्तु इनमें अध्यात्म

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और नीति का पूरा सामञ्जस्य न होने के कारण अन्तर्द्वन्द्व बना हुआ था। अतः इन सम्प्रदायों के सामाजिक जीवन में परमार्थ और व्यवहार में लम्बा अन्तराल था।

जैन और बौद्ध धर्म के उदय के पश्चात् भारतीय नीति एक ऐसी स्थिति में पहुँच चुकी थी जहाँ इसका एक बार पूरा सिंहावलोकन करना, इसकी ऐतिहासिक गतिविधि का अध्ययन करना, इसका दार्शनिक विवेचन करना और इसको सुव्यवस्थित और दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित करना आवश्यक था। यह कार्य षड्दर्शनों और दूसरे परवर्ती साम्प्रदायिक दर्शनों ने किया। यह भारतीय नीति का तीसरा प्रस्थान था। यद्यपि षड्दर्शनों की साम्प्रदायिक परम्परा वेद और उपनिषद् पर आधारित थी, परन्तु इन्होंने अभी तक बीच में जितना दार्शनिक चिन्तन हुआ था सभी से लाभ उठाते हुए अपने सम्प्रदायों का पुनः संघटन किया। विशेषकर लोकायत, जैन और बौद्ध परम्परा का इन्होंने विवेचन किया और उनके बहुत से तत्त्वों को ग्रहण किया। सत्य और ज्ञान के अनुसंधान में प्रत्यक्ष को भी प्रमाण माना, यद्यपि प्राथमिक और गौण। आगम की युक्ति और तर्कवाद को भी अधिक सीमा तक स्वीकार किया, यद्यपि उसे अन्तिम प्रमाण नहीं माना। उनका अन्तिम प्रमाण अब भी निगम, वेद अथवा आम्नाय था। मानव व्यक्तित्व को समझने के लिए मनोविज्ञानी पद्धति को भी अपनाया, यद्यपि मानव को केवल मनोवैज्ञानिक प्राणी न मानकर उसको आध्यात्मिक पुरुष माना। व्यावहारिक आचार में लोकायत, बौद्ध, जैन आदि धाराओं को यथासंभव आत्मसात् किया, यद्यपि नीति के आध्यात्मिक आधार को नहीं छोड़ा। नीति के विभिन्न मार्गों के समुच्चय और समन्वय की प्रक्रिया षड्दर्शनों में पायी जाती है। न्याय-वैशेषिक प्रायः वस्तुवादी थे। इन्होंने व्यवहार और परमार्थ का समन्वय करते हुए धर्म अथवा नीति की परिभाषा की—यतः अभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः। अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए नैतिक सद्गुणों के आचरण को इन्होंने आवश्यक बताया। नैतिक आचरण के वर्गीकरण का श्रेय प्रायः इन्हीं दर्शनों को है। सांख्य दर्शन में, जैन दर्शन के समान अर्द्ध आध्यात्मिक आधार को स्वीकार कर, त्रिगुण—सत्त्व, रज और तम—के उत्कर्ष और अपकर्ष के ऊपर नैतिक आचार का विवेचन किया गया है। यद्यपि कैवल्य (मोक्ष) के लिए तीनों गुणों से ऊपर उठने की आवश्यकता मानी गयी है, परन्तु आध्यात्मिक जीवन के विकास के लिए सत्त्व-गुण का उत्कर्ष सहायक समझा गया है। इसके अनुसार त्रिविध दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति ही परम पुरुषार्थ है (त्रिविध दुःखादत्यन्तनिवृतिः अत्यन्त पुरुषार्थः)। सत्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि अत्यन्त लोकहित ही सत्य है (अत्यन्त-लोकहितम् सत्यम्)। योग-दर्शन ने आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी चित्त—मन-बुद्धि-अहंकार—का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया और उसके आधार पर मनुष्य के बौद्धिक और सामाजिक जीवन को व्यवस्थित किया। चित्त की भूमियों—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और विरुद्ध—से मानव जीवन के नैतिक पक्ष का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार किया। चित्त के निरोध के लिए अष्टाङ्ग योग की प्रक्रिया को यम और नियम को प्रथम स्थान दिया और इस बात पर बल दिया कि नैतिक तैयारी के बिना कोई यौगिक अथवा आध्यात्मिक साधना सफल नहीं हो सकती। योग के यम वही हैं जो जैन धर्म के पञ्चमहाव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। हाँ, यम के साथ नियम में ईश्वर प्रणिधान जोड़कर उसकी सर्वव्यापी अध्यात्म के साथ सम्बद्ध कर दिया है। पूर्वमीमांसा-दर्शन नीति की नैगमिक (वैदिक) परम्परा का समर्थक था। श्रुति अथवा वेद ही उसके लिए ज्ञान और नीति का एकमात्र प्रेरक और स्रोत था। श्रुति के सामने उसको ईश्वर की भी आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान भी वेद से ही संभव है। परन्तु श्रुति की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए मीमांसा ने अपनी युक्ति और तर्क-पद्धति को अन्य दर्शनों के परिपार्श्व में परिष्कृत और विकसित किया। कर्मकाण्डीय होने के कारण सुख के लिए आजीवन कर्म का इसने विधान किया। भारतीय दर्शन और नीति का चरम विकास उत्तरमीमांसा अथवा वेदान्त में हुआ। अध्यात्म के आधार पर सभी मत-मतान्तरों का सामाञ्जस्य इसका वैशिष्ट्य है। इसकी नीति अथवा आचार-शास्त्र भी अध्यात्म पर ही आधारित है। सर्वात्मभाव अथवा आत्मैक्यानुभूति ही सभी नैतिक आचरण का मूल है; इसके अभाव में नैतिक जीवन के लिए कोई सफल प्रेरणा नहीं मिल सकती। इसके चरम लक्ष्य मोक्ष और इसके लिए कर्म-सन्यास की अनिवार्यता को सम्यक् प्रकार से समझे बिना कुछ लोगों ने इसको ऐकान्तिक निवृत्तिमार्गी और पलायनवादी माना है। परन्तु यह वेदान्त के प्रति अन्याय है। वेदान्त ने व्यवहार को परमार्थ की अपेक्षा कम मूल्य का माना है किन्तु लौकिक जीवन में इसकी अवहेलना नहीं की है। माया के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए भी वेदान्त संसार को व्यावहारिक मानता है। जीवन्मुक्त की दो अवस्थाएँ—समाधि और उत्थान—मानी गयी है। उत्थान की स्थिति में जीवन्मुक्त सभी लोक-संग्रही कर्तव्यों का पालन करता है। वेदान्त ने अपने साधनपाद में अपरोक्ष आत्मानुभूति के लिए कोई माध्यम स्वीकार न करते हुए भी नैतिक आचरण को मोक्ष की साधना में ऊँचा स्थान दिया है।

नैतिक सिद्धान्तों और सद्‌गुणों की प्रयोगशाला समाज है। सामाजिक संस्थाओं, प्रथाओं, रीति-रिवाजों में उनकी अभिव्यक्ति होती है। भारतीय समाज में भी उनका प्रयोग हुआ है। एक ओर जहाँ सामान्य धर्म अथवा नीति का पालन समाज के सभी व्यक्तियों के लिए आवश्यक समझा गया है वहीं दूसरी ओर व्यक्तिगत विकास की किसी अवस्था अथवा आश्रम में तथा समाज में स्थान-विशेष अथवा पदविशष के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति के लिए विशिष्ट धर्म अथवा नीति का विधान किया गया है। समाज में सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति के कर्तव्य पृथक्-पृथक् हैं। यह कर्तव्य-विभाजन गुण और स्वभाव के आधार पर अधिकार-भेद पर अवलम्बित है। भारतीय समाज का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संघटन मूल नैतिक मूल्यों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—को दृष्टि में रखकर चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास—तथा चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—में हुआ था। मानव मात्र के लिए सामान्य कर्तव्यों के अतिरिक्त प्रत्येक वर्ण और आश्रम के लिए अलग-अलग कर्तव्य विहित थे। सामाजिक अधिकारों और कर्तव्यों के साथ-साथ विधिक अधिकारों और कर्तव्यों का भी विधान था। लिङ्ग, वर्ण और आश्रम के अनुसार ही विधि की व्यवस्था थी। अतः विधिक क्षेत्र में भी अधिकार-भेद का सिद्धान्त लागू था। सामाजिक और विधिक क्षेत्रों में एक और सिद्धान्त मान्य था। वह यह है कि यद्यपि नीति-तत्त्व और सामान्य नीति के सिद्धान्त स्थायी रहते हैं, आचार-शास्त्र प्रथाएँ और रीति-रिवाज परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। मनु, पराशर आदि धर्म-शास्त्रकारों ने इस बात को स्वीकार किया है कि प्रत्येक युग के धर्म—आचार-शास्त्र और सामाजिक प्रथाएँ और विधि—भिन्न होते हैं और उसके लिए धर्म-शास्त्र भी पृथक्-पृथक् होते हैं। इस प्रकार भारत की सामाजिक संस्थाओं, प्रथाओं और विधि को युगानुरूप बनाने की चेष्टा होती रही है, यद्यपि इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि युगानुरूप परिवर्तन मौलिक तथा स्थायी तत्त्वों के अनुकूल होना चाहिए।

यहाँ तक भारतीय नीति का विकास भारतीय परम्परा के सहारे समयसमय-पर परिस्थितियों से प्रभावित होता हुआ आया। भारतीय जीवन ऐकान्तिक मार्गों को छोड़कर मध्यम मार्ग से चलता रहा। अतः उसमें कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुआ, यद्यपि समय-समय पर उसमें नैतिक सुधार होते रहे। किन्तु आधुनिक युग में न केवल भारत परन्तु सारा विश्व एक क्रान्तिकारी और संकट की परिस्थिति से गुजर रहा है। भारत की एक और कठिनाई रही है। एक ओर तो यह गत एक सहस्राब्दी से विदेशी आक्रमणों से पीड़ित था दूसरी ओर प्रबल आधुनिक प्रवृत्तियाँ इसको बड़े वेग से झकझोर रही हैं। इन प्रवृत्तियों का सभी परम्परागत नैतिक मूल्यों और उनकी वाहिका सामाजिक संस्थाओं वर्ण, आश्रम, परिवार, विवाह, यौन-सम्बन्ध, सम्पत्ति आदि—पर प्रभाव पड़ा है। परन्तु ये प्रवृत्तियाँ, अपने प्रबल आक्रमण के बाद भी, अभी आघात के ही रूप में हैं; परम्परागत मूल्यों से इनका सामञ्जस्य नहीं हो पाया है और भारत के नैतिक जीवन में अभी अन्तर्द्वन्द्व बना हुआ है।

आधुनिक प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया में गत शती में ही भारत में पुन-रुत्थान की प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ हो गयीं। इसका मुख्य कारण है देश की लम्बी नैतिक परम्परा और उसके प्रति जनता की ममता और आग्रह; जीवन के बाहरी आवरण बदल जाने पर भी जनमानस में प्राचीन विचार और मूल्य बड़ी गहराई तक पड़े रहते हैं। ये विचार और मूल्य आघातों को सहते हुए भी बीच-बीच में पुनर्जीवित और पुनर्जागृत होते आये हैं। इसीलिए कुछ इतिहासकारों ने भारतीय संस्कृति को 'वृद्धा युवती' कहा है, जो काल के आघात से मृत न होकर, अपनी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संजीवनी शक्ति से, पुनः-पुनः नवयौवना हुआ करती है। परन्तु यह पुनरुत्थान मृत शव का परिवहन नहीं, स्थायी और अमर तत्त्वों का संक्रमण नये सन्दर्भ और नयी परिस्थितियों के सामञ्जस्य में है। पुनरुत्थान और नये सामञ्जस्य के पुरस्कर्ता भारत में वरावर युग-पुरुष होते आये हैं। इनकी संख्या बड़ी है। परन्तु आधुनिक युग की इस प्रक्रिया में जिन पुरुषों का विशेष हाथ रहा है उन्हीं का उल्लेख इस व्याख्यान में किया गया है। रामकृष्ण-विवेकानन्द, तिलक और गांधी नैतिक पुनरुत्थान और पुनर्जागरण के मुख्य प्रवर्त्तक रहे हैं। इनमें विशेष कर गांधी जी ने आधुनिक सभ्यता के नैतिक मूल्यों पर मौलिक ढंग से विचार किया है।

नैतिक जगत् में भारत की जो देन है वह विस्तृत और वहुमूल्य है। किसी देश की नीति की तुलना में वह गर्व के साथ रखी जा सकती है। ऋत, सत्य, धर्म, यज्ञ, व्रत आदि की नैतिक कल्पनाएँ मौलिक और अमर हैं। त्रि-ऋण और नित्य पञ्चमहायज्ञों का सामाजिक और नैतिक महत्त्व भी स्थायी है। पञ्च महाव्रतों और यम-नियमों की नैतिक ऊँचाई को अभी संसार की नीति पहुँच नहीं पायी है। नैतिक आचरण का वर्गीकरण—सामान्य, विशिष्ट, नैमित्तिक, आपद्धर्म आदि—भी भारत की मौलिक सूझ है। नैतिक जीवन में वन्ध और और मोक्ष, व्यवहार और परमार्थ का समन्वय भी वहुमूल्य देन है। इष्टा-पूर्त की कल्पना में पारलौकिक और इहलौकिक लोक-मंगल की पूर्ण व्यवस्था अपना विशेष महत्त्व रखती है। केवल मानवतावाद से ऊपर उठकर सर्वात्मभाव और सर्वभूतहित का सिद्धान्त संभवतः संसार के नैतिक इतिहास में अनुपम है। नैतिक मूल्यों में से एक, अहिंसा, के सम्वन्ध में एक विदेशी विद्वान् की धारणा विशेष उल्लेखनीय है :

"सामान्य अहिंसा का सिद्धान्त अवश्य ही ऐसा है जिस पर पश्चिम की प्रबुद्ध नैतिक चेतना को विचार करना चाहिए। केवल भावनावश नहीं किन्तु कर्तव्य वुद्धि से निर्दयता और युद्ध को वन्द करना चाहिए। यदि इतना भी हुआ तो अहिंसा के पक्ष में पर्याप्त हुआ। इससे अन्त में अनावश्यक हत्या और केवल मनोविनोद के लिए रक्तपात समाप्त हो जायेंगे। फिर भी हमें याद रखना चाहिए कि इस दिशा में नैतिक दृष्टि से भारत से हम बहुत पीछे हैं। और अपने वीरोचित गुणों को उदात्त बनाने के प्रयत्न में घबड़ा कर अहिंसा का विरोध नहीं करना चाहिए। संसार इसके पहले कई बार बदल चुका है और पुनर्जागरण सदा संभव है।"[१]

मेरी विनम्र धारणा है कि केवल अहिंसा ही नहीं, अनेक भारतीय नैतिक सिद्धान्त और विचार है जो संसार के लिए विचारणीय और ग्राह्य है। परस्पर सम्पर्क और सौहार्द से इनका आदान-प्रदान विश्व के लिए कल्याणकारी ही सिद्ध होगा।

---

१. इ. डब्ल्यू. हापकिन्स, एथिक्स ऑफ इंडिया, पृ० २३०–३१।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भारतीय नीति के विकास में सबसे बड़ी बाधा कर्मसिद्धान्त और युग-कल्पना मानी जाती हैं। इस बाधा को उपस्थित करनेवालों का कहना है कि कर्मसिद्धान्त के सामने पुरुष अपने को विवश और हताश अनुभव करता है और इसलिए उसका भावी विकास कुंठित हो जाता है; वह भाग्यवादी बन जाता है। भाग्य-वाद और कर्मसिद्धान्त में मौलिक अन्तर है। भाग्यवाद एक प्रकार का अन्ध-विश्वास है जब कि कर्मसिद्धान्त कार्य-कारण-श्रृंखला की बौद्धिक व्याख्या है। यह मनुष्य के कर्मस्वातंत्र्य का सिद्धान्त है। यह सच है कि प्रारब्ध कर्म और सञ्चित कर्म के भोग में आंशिक परतन्त्रता है, किन्तु क्रियमाण कर्म को नई दिशा में मोड़ने का मनुष्य को पूरा स्वातंत्र्य है। और, यदि उसका क्रियमाण अधिक शुद्ध और शक्तिमान् हुआ, तो वह सञ्चित और प्रारब्ध का भेदन कर उनसे उसे स्वतन्त्र बना देता है। अतः, मनुष्य को किसी काल और देश में अपने भाग्यनिर्माण का पूरा स्वातंत्र्य है। आवश्यकता है प्रबोध और शक्ति की उपलब्धि की। इसी प्रकार, भारत की युगकल्पना भी ऐकान्तिक रूप से तिथिक्रमिक नहीं; सारतः नैतिक है। उसके अनुसार मानव ही युगनिर्माता है। ऐतरेय ब्राह्मण में इसी नैतिक प्रेरणा का उद्घोष किया गया है: "जो सोता है, उसके लिए कलियुग होता है; जो जँभाई लेता है, उसके लिए द्वापर; जो उठकर खड़ा होता है, उसके लिए त्रेता और जो उठकर चलने लगता है उसके लिए कृत (सत्ययुग) होता है।"[१]

मानव-विकास के लिए न तो अभी कर्म-परम्परा समाप्त हुई है और न युग-परम्परा। मानव का नैतिक विकास अनादि है और इसका कोई अन्त भी नहीं।

---

१. कलिः शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठन् त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥ ऐतरेय ब्राह्मण

इसी सत्य को मनु ने भी निम्नलिखित श्लोकों में दुहराया है:

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते॥
कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिमेव च।
राज्ञः वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते॥
कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम्।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम्॥

मनुस्मृति, ९.३००-३०२

[थक-थककर भी बार-बार कर्मों का आरम्भ करना चाहिए। कर्म आरम्भ करनेवाले पुरुष को ही विजयश्री प्राप्त होती है। कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुग सभी राजा के ही वृत्तान्त हैं। वास्तव में राजा ही युग कहलाता है। कलि सोता रहता है; द्वापर जागरित, त्रेता कर्म में उद्यत और कृत कर्म में विचरण करनेवाला होता है।]

२७

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भारत के नैतिक विकास के अभी अनेक चरण पड़ने हैं। इसके लिए परम्परा से प्राप्त हमारा नैतिक ऋक्थ विकास की दृढ आधार-शिला है। इसको त्यागने से हमारे जीवन का लंगर टूट जायगा और हमारा जीवन छिन्न-भिन्न हो जायगा। इसके प्रति जागरूक होकर चलने से आगे का नैतिक मार्ग सुकर होगा। इसके साथ सभी सामयिक प्रवृत्तियों और विचारधाराओं का निरीक्षण, आकलन और विवेचन कर स्वस्थ तथा हितकर तत्त्वों का ग्रहण करते हुए भावी नैतिक राजपथ का निर्माण किया जा सकता है। वास्तव में, मानव-जीवन के विकास में सत् और असत् का विवेक ही दिशा-निदर्शक और उन्नयन करनेवाला है। इसी विवेक का संवल लेकर हमें आगे चलना होगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

शब्दानुक्रमणी

अ

अंगिरा—१५
अखिलहेयप्रत्यनीक—१३
अग्नि—३७, ४७
अज एकपाद्—३९
अतिंक्रमण—९५
अतिचार—८५, ८६
अतिथिसंविभागव्रत—८७
अतिवाद—५७
अतिवादी मार्ग—५७
अतिसंन्यास—७१
अत्रि—१५
अथर्ववेद—२०,४५,४७ टि०
५१ टि०, ६२ टि० १४३
अदायादबन्धु—१४६ टि०
अदायादा—५१,१३८,१५५,१५६
अदेव—४०
अद्वैत—११३
अद्वैतवाद—५३
अधना—१५४
अधिकर्मकृत्—१३५
अधिकारभेद—१९
अध्यग्नि—१५३
अध्यवाहनिक—१५३
अध्यात्मवाद—२०४
अनर्थदण्ड—८६
अनागामिन्—९४
अनात्मवादी—२०४
अनाम्नात—२२
अनासक्ति—७३,१०८,१०९,१२०, २०३
अनासक्तिभाव—२७
अनासक्तियोग—१८८
अनिवर्त्तन—१२
अनुपधा—११
अन्तेवासी—१३५
अन्नमयकोष—५३
अन्नम्भट्ट—१०२ टि०
अपरब्रह्म—११३
अपरार्क—१५,१३६ टि०
अपरिग्रह—१०९
अपविद्ध—१४७
अपां नपात्—३८
अपाला—४३,१३७
अफ्रीका—१४६
अभिज्ञानशाकुन्तल—१५७
अभिद्रोह—४०
अभेदवुद्धि—११८
अमान्त्रिक क्रिया—१२
अमेरिका—१४६
अयज्ञ—४०
अरण्यानी—१३८
अरविन्द—७८ टि०, २०२
अर्थ—६
अर्थवाद—१७
अर्थशास्त्र—७,७ टि०, २१ टि०, १३४,
१३४ टि०, १४१ टि०, १४६ टि०,
१५२, १५२ टि०, १५६, १६१ टि०,
१६२ टि०
अर्द्धनारीश्वर—१४१
अशोक—९६, १३४
अश्वमेध—५१
अश्विन्—३८, १५०

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अश्विनद्वय—४३
अष्टाङ्गमार्ग—९२, ९३, ९४
अष्टाङ्गयोग—१०८, १०९, २०६
अष्टाविंशति-उपनिषद्—६२ टि०
असंप्रज्ञातसमाधि—२५
असाधुनिग्रह—१२
असुर—४१, ५५
असौदायिक—१५४
अस्तेय—१०९
अस्मिता—१०१
अहंकार—१०१
अहिंसा—११, १०९, १९२, २०४, २०८
अहिर्बुध्न्य—३९
अहैतुकी भक्ति—३०

आ

आउटलाइन ऑफ् जैनिज्म—८८ टि०
आचरण—१०१
आचार—१, १९, २२
आचारवाद—२०४
आचारवादी—८८
आचारशास्त्र—२७,२९
आचार्य नरेन्द्रदेव—९८ टि०
आत्मकथा (गांधीजी)—१९१ टि०, १९२ टि०, १९९ टि०
आत्मतुष्टि—२०, २३
आत्मदीप—९४, ११६
आत्मविक्रयी—१३४
आत्मशरण—९४
आत्मसाक्षात्कार—२९
आदित्य—३६
आदित्यवर्ग—३७
आनन्द—१०५, ११४
आन्वीक्षिकी—७
आपः—३८
आपणभट्ट—१६
आपद्धर्म—८, १०, १९, २३
आपस्तम्ब—१४,१५,१३०,१३० टि०, १५९, १५९ टि०
आपस्तम्बधर्मसूत्र—१३४ टि०, १५६, १५६ टि०
आप्त्य—३८
आरण्यक—४५
आर्थिक नियतिवाद—६
आर्य—४४
आर्यसत्य—८९
आर्यसमाज—१७७
आर्यसमाज का इतिहास—२०२
आलवार—१२२
आश्रम—८, १०, ४८, ५८, ७२, १२८, १४५, २०७
आश्रम-धर्म—९
आश्रम-व्यवस्था—५९, ११५, १२६
आश्रमी—१२६
आस्ट्रेलिया—१४६
आहितिक—१३४, १३५

इ

इंट्रोडक्शन टू पूर्वमीमांसा—११३ टि०
इंडियन फिलॉसफी—६२ टि०, ८१ टि०
इंस्टीटयूट्स लाइन—१३२ टि०
इन्द्र—३६, ४४
इन्द्रावरुण—३६
इन्साइक्लोपीडिया ऑफ् सोशल साइंसेज—१३१ टि०, १३२ टि०
इमर्सन—१८८
इलहाम—१७
इवोल्यूशन ऑफ् हिन्दू मॉरल आइडियल्स—१६३ टि०
इष्ट—४७
इष्टापूर्त्त—४८

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ई

ई० डब्ल्यू० हॉपकिन्स—२०८ टि०
ई० वेस्टरमार्क—१२६ टि०, १३१ टि०, १३२ टि०, १५६ टि०, १६३ टि०
ईशोपनिषद्—५७, ५७ टि०
ईश्वरवाद—८१, १०४

उ

उच्छेदवादी—८१
उत्तरमीमांसा—२०६
उत्तररामचरित—१४३ टि०
उदयन—१०२ टि०
उदयनाचार्य—१३०
उदरदास—१३४
उद्योतकरवार्त्तिक—१०२ टि०
उपरमसत्त्ववाद—१५१
उपरमसत्त्ववादी—१५१
उपादानस्कन्ध—८६
उपेक्षा—६३
उमास्वाति—८८ टि०
उशना—१५, १३७, १३७ टि०
उषस्—३८
उषा—४२, १३८

ऋ

ऋक्थ—२१०
ऋग्वेद—३१, ३२, ३३ टि०, ३४ टि०, ३५ टि०, ३६, ३६ टि०, ३७ टि०, ३८, ३८ टि०, ३६, ३६ टि०, ४०, ४० टि०, ४१, ४१ टि०, ४२, ४३, ४३ टि०, ४४, ४५, ४५ टि०, ५२, १२४, १३३, १३३ टि०, १३८ टि०, १३६, १४०, १४३, १४६, १५२, १५२ टि०, १५३, १५३ टि०, १५५, १५५ टि०, १५६ टि०, २०२
ऋग्वेदसंहिता—४५ टि०
ऋजाश्रवस—१४६, १५०
ऋजु—३२
ऋण—४०, ४१, ४६
ऋणञ्चय—४१
ऋणादान—१३६ टि०
ऋत—१, ३२, ३६, ३८, ३६, ४५, ४७, २०८
ऋतुयज्ञ—४५
ऋत्विज्—४५, १४०
ऋषिपत्तन मृगदाव (सारनाथ)—८६

ए

एथिक्स ऑफ् इण्डिया—६२ टि०, ७८ टि०, २०८ टि०
एनस्—४०
एपिक इण्डिया—७८ टि०
एपिकाफास्ट—१६७ टि०
ए० वी० कीथ—४५ टि०
एल्० टी० हावहाउस—२
एस्० सी० वनर्जी—१०८ टि०
एसेज ऑन दि गीता—७८ टि०

ऐ

ऐकान्तिक—२०६
ऐकान्तिक सिद्धान्त—७
ऐच्छिक कर्म—११२
ऐतरेय ब्राह्मण—४७ टि०, ५१ टि०, ६२ टि०, १२७, १२७ टि०. १४६, २०६, २०६ टि०,
ऐतरेयोपनिषद्—५६ टि०

औ

औदयिक—८७
औपशमिक—८७
औरस—१४६, १४८
औशनस—७

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

क

कंटकशोधन—१४६, १५६

कठोपनिषद्—५५ टि०, ५८ टि०, १४६

कणाद—१०५ टि०

कन्या—१३७

कपिकिशोरन्याय—१२२

करुणा—६३, ६६, ६७, १०६

कर्त्तव्य—१०

कर्मपथ—११२

कर्मवाद—२०३

कर्मसिद्धान्त—१०२, ११२, २०६

कर्मस्वातन्त्र्य—११२, २०६

कलियुग—१६

कलिवर्ज्य—२३

कल्याण—३२

कवस ऐलूष—५१

कषायोदय—८८

कॉण्ट—१८१

कात्यायन—१५, १३२ टि०, १३५, १३६, १३६ टि०, १५०, १५४ टि०

कानीन—१४७, १४६

काम—६, २०७

कामन्दक—१, ५

कामन्दकनीतिसार—१, ५

काम्यकर्म—१३

कार्यताज्ञान—२६, २७, ११२

कालिदास—१५७

किल्विप—४०

कुन्दकुन्दाचार्य—८८ टि०

कुमारिल— २१, ११३ टि०

कुल्लूक—१५, २० टि०

कुसुमाञ्जलि—१०२ टि०

कृच्छ्राचार—७८, ८१, १३०

कृतदार—१२

कृतयुग—१६

कृत्यकल्पतरु—१६

कृत्रिम—१४७, १४८

कौटिल्य—७, २१, १३४ १३६, १३६ टि०, १४० टि०, १४६ टि०

कौशीतक्युपनिषद्—६० टि०

क्रिया—२६, ११२

क्रिश्चियन एथिक्स ऐण्ड मॉडर्न प्राब्लेम्स—१६५ टि०, १७६ टि०

क्रीत—१३३, १३५, १४७

क्षायिक—८७, ८८

क्षायौपशमिक—८७, ८८

क्षेत्रज—१४६, १४८

ग

गागाभट्ट—२७

गान्धीजी—१८८, २०२, २०८

गायत्री—३८

गार्गी—५१, ६०, १३८

गीता—६ टि०, २०, ६३, ६४, ६६, ६६, टि०, ७२, ७३, ७३ टि०, ७४ टि०, १२७ टि०, १८२, १८३, १८४, १८६, १८७, १८८, २०३

गीताभाष्य—१२० टि०, १२२, १२३ टि०

गीतारहस्य—७८ टि०, १८१, १८२, १८२ टि०, १८३ टि०, १८४, १८४ टि०, १८५ टि०, १८६ टि०, १८७ टि०

गुण—१०६, १२४, १२८, १८०

गुणव्रत—८६

गुणसिद्धान्त—१०७

गुणसिद्धान्त—१०७

गुरुमत—२६ टि०

गूढज—१४६

गृहज—१३२, १३३, १३५

गृह्यसूत्र—१३३, १४६

गोलोक—३८

गोविन्दाचार्य—१२३ टि०

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

गौडपाद—१२० टि०
गौतम—१५, १६, २१, ६०, १३० टि०, १५७, १५६ टि०
गौतमधर्मसूत्र—१५६
ग्रिसवोल्ड—४४, ४५ टि०

घ

घोषा—४३, १३७

च

चटर्जी—१०५ टि०
चतुर्वर्गचिन्तामणि—१६
चन्द्रगुप्त मौर्य—१३४
चरक—४७
चरित्र—६५
चाणक्य—७
चातुर्याम—८२ टि०
चार्वाक—७८, ७६ टि०, ८०, २०४
चिकीर्षा—२६, २७, ११२
चित्त—२४, ११०, ११४
चित्तविकलन—४
चि० वि० वैद्य—७८ टि०
चेतना—२६
चेष्टा—२६, ११२
चोदना—१११

छ

छान्दोग्योपनिषद्—२०, ५५ टि०, ५६ टि० ५८ टि०, ५६, ६० टि०

ज

जन्मना सत्त्ववादी—१५१
जबाला—६०
जरत्कारू—७१
जस्टिनियन—१३२
जागरूक—६३
जाति—१२६
जीमूतवाहन—१५१
जीवन्मुक्त—११६, २०६
जीवन्मुक्ति—६४
जैनी—८८
जैमिनि—११३ टि०
जैमिनिसूत्र—१११
जोड—१७६ टि०
ज्योतिष्टोम—७६
ज्ञान—१०५, ११५
ज्ञानेश्वर—१५८

ट

टॉमस एक्विनास—१६३ टि०
टॉल्सटॉय—१८८

ड

डॉयसन—६१, ६२ टि०, ११८, १२० टि०
डारविन—७
डीन इंज—१६५ टि०, १७६ टि०

त

तत्त्वत्रय—१३ टि०
तत्त्वार्थसूत्र—८८ टि०
तन्त्रवार्त्तिक—११३ टि०
तपोवाद—११६
तर्कसंग्रह—१०२ टि०
तादात्म्य—२६
तादात्म्यभक्ति—१२३
तिलक—७८ टि०, २०२, २०८
तृत—३८
तैत्तिरीय आरण्यक—४६ टि०
तैत्तिरीय ब्राह्मण—१५३
तैत्तिरीयसंहिता—४६ टि०, ५१ टि०, १३३, १५५
तैत्तिरीयोपनिषद्—४६ टि०, ५३ टि०
त्रयी—७
त्रसदस्यु—१३३

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

त्रिऋण—२०३
त्रिगुण—२०५
त्रिरत्न—८१
त्रिविक्रम—३८
त्रिशला—१२७
त्रेतायुग—१९
त्वष्ट्रा—३९

थ

थ्यूरो—१८८

द

दक्ष—१५
दक्षिणाची—१५७
दण्डदास—१३३
दण्डनीति—१, ७
दण्डप्रणीत—१३४
दत्तक—१४७, १४८, १५०
दत्तकमीमांसा—१४८ टि०
दत्रिम—१३३, १३५
दमस्—४३
दशावरा—२२
दस प्रवर—२२
दस्यु—४१, ४२, ४४, ४५
दाण्डिक—१४५
दायभाग—१५१
दास—४१, ४२, १३२, १३३, १३४, १३५, १३७
दासगुप्त—११० टि०, १२० टि०
दासप्रथा—१३२, १३३
दासीकरण—४२
दि एथिक्स ऑफ् दि हिन्दूज—३० टि०
दि ओरिजिन ऐण्ड डेवलपमेण्ट ऑफ् मॉरल आइडियाज़—१२९ टि० १३१ टि०, १३२ टि०, १५९ टि०, १६३ टि०
दिग्व्रत—८६
दि ग्रेट एपिक ऑफ् इंडिया—७८ टि०
दिनकरभट्ट—२६
दिनकरी टीका—२६
दि फिलॉसफी ऑफ् दि उपनिषद्स—६२ टि०
दि बैंक्रप्सी ऑफ् मैरेज—१७६ टि०
दि रेलिजन ऑफ् दि ऋग्वेद—४४, ४५ टि०
दि रेलिजन ऑफ् दि वेद—४५ टि०
दि रेलिजन ऐण्ड फिलॉसफी ऑफ् दि वेद ऐण्ड दि उपनिषद्—४५ टि०
दि रेलिजन्स ऑफ् इण्डिया—६२ टि०
दुःख—१०५, १०६
दुःखवाद—८८
दृश्य—२४
दृष्टफल—३०
देव—३१, ३२, ३६, ४०
देवतत्त्व—३९
देवता—४५, ४६
देवल—१५४, १५४ टि०
देवलस्मृति—१५४
देववाद—५२
देवासुरसंग्राम—५४
देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय—८१ टि०
देशव्रत—८६
देहात्मवादी—५५, ५६
दैवत—३९, ४४
दैवतकाण्ड—३१ टि०
द्यावापृथिवी—३८, ४२
द्रष्टा—२४
द्रुग्ध—४०
द्वापर—१९

ध

धम्मपद—९८ टि०
धर्म—१, ६, ८, १०, ४०, ८०
धर्मचक्रप्रवर्त्तनसूत्र—८९ टि०

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

धर्मज्ञ—१५
धर्मप्रवर्त्तन—८६
धर्मवादी—२०४
धर्मसूत्र—१३३
धर्मस्थीय—१४६, १५६
धर्मानुशस्ति—१३४
धाम—३६
धामन्—४०
ध्यान—६२, ६३, १२०
ध्वजाहृत—१३२, १३४

न

नकुलोपाख्यान—७२
नचिकेता—१४६, १५०
नवरत्निन्—५१
नव्यनैयायिक—२५
नहुषोपाख्यान—१२५
नामधेय—१७
नारद—१८, २१, २१ टि०, १३३, १३५, १३५ टि० १३६, १३६ टि०, १५०, १५२ टि०, १५४, १६०, १६० टि०, १८३
नारदपाञ्चरात्र—१८३
नारदस्मृति—१५२
निग्रो प्राब्लेम—१३१ टि०
नित्यनैमित्तिक कर्म—१३
नित्ययज्ञ—४५
निदिध्यासन—१२०
नियम—१२, १०६, ११४, २०६, २०८
नियोग—१४६
निरिन्द्रिया—५१, १३८, १५५
निरीश्वर—१७
निरीश्वरवादी—१७
निरुक्त—३१ टि०, १५०, १५७
निर्वाण—६४, ६६
निवृत्ति—२०३
निवृत्तिमार्गी—६७, २०४, २०६
नीति—१, ३६, २०४, २०५
नीतिवाक्यामृत—१, ५
न्यायकन्दली—११ टि०
न्यायकुसुमाञ्जलि—१३०, १३० टि०
न्यायभाष्य—१००
न्यायसूत्र—१०२ टि०
न्यास—१५१
नैष्कर्म्य—११६

प

पंचकोष—३
पंचक्लेश—२४
पंचदशी—१२० टि०
पंचमवेद—२०
पंचमहायज्ञ—१२, १३, ४६, ४७, ४८, २०३, २०८
पंचमहाव्रत—१६, ८२, ८२ टि०, ८६, २०४, २०६, २०८
पंचवर्गीय शिष्य—८६
पंचास्तिकाय : समयसार—८१ टि०, ८८ टि०
पणि—४१, ४२
पण्डित—२२
पण्डितवाद—६३
पदार्थधर्मसंग्रह—१०५ टि०
परतःप्रमाण—१६
परब्रह्म—११२
परमधाम—३८
परमहंस रामकृष्ण—१७७
पराभक्ति—१२२
पराशर—१५, १८
पराशरगीता—७०
पराशरमाधवीय—१५, १६ टि०
पराशरस्मृति—१५, १६, १६ टि०, १४८
परिनिर्वाण—६४

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

परिव्राजक—५६
पर्जन्य—३८
पलायनवादी—२०६
पलायनवादी संन्यासमार्ग—१८६
पातंजलयोग—६३
पाप—६५, १०६
पार्श्वनाथ (तीर्थङ्कर)—८२ टि०
पी० शास्त्री—११३ टि०
पी० एन्० सेन०—१४४ टि०, १६३ टि०
पुत्रिकापुत्र—१४६
पुत्रैषणा—५६
पुनर्जन्म—६४, १०१
पुरुकुत्स—११३
पुरुषसूक्त—४१, ५२
पुरुषार्थ—२६, ७२, ७६
पूर्त्त—४७
पूर्वमीमांसादर्शन—२०६
पूर्ववर्णपारतन्त्र्य—१२
पूषन्—३८
पैतृक—१३५
पौत्रिक—१३३
पौनर्भव—१४७, १४६
प्रजापति—३६, ४४, ४६
प्रज्ञा—६६
प्रज्ञावाद—६३
प्रपत्ति—१२२
प्रबोधचन्द्रोदय—८० टि०, ८१ टि०
प्रभाकर—२६ टि०, ११३ टि०
प्रभाकरवर्द्धन—१४३
प्रमाणवाद—८०
प्रयत्न—२५, २६, ५४
प्रवृत्ति २६, २७, ११२
प्रशस्तपाद—१०, १० टि०, ११ टि०, १४ टि०, २५, १०५ टि०
प्रश्नोपनिषद्—५२ टि०
प्राणमयकोष—५३
प्राणवान्—४१
प्रायोगि—४३
प्रेजेंट ऐण्ड फ्यूचर ऑफ् रेलिजन—१७६ टि०
प्रेमाभक्ति—१२३

फ

फिलॉसफी ऑफ् गुड लाइफ—१७६ टि०
फिलॉसफी ऑफ् दि उपनिषद्स—६१
फिलॉसफी ऑफ् दि लाइफ—१६५ टि०
फ्रॉयड—७

व

वन्ध—६, २०३
वन्धुदायाद—१४६ टि०
वरोडिया—८८ टि०
वर्ट्रेण्ड रसेल—१७६ टि०
वर्नार्डशॉ—३
वाइविल—१६५
बाम्वे संस्कृत-सीरिज—१६ टि०
वार्हस्पत्य—७
विशॉप गोर—१६५ टि०, १७६ टि०
वी० एफ्० कालवर्टन—१७६ टि०
वुद्ध—६६
वुद्ध (भगवान्) ८६, ६४, ६७
वुद्धिज्म—६८ टि०
वुद्धियोग—६८
वुद्धिवाद—७, १६८
वुद्धिवादी—६६, ११८
वुद्धिस्ट सूत्ताज़—६८ टि०
वृहती—११३ टि०
बृहदारण्यकोपनिषद्—२५, ५८ टि०, ६० टि०
बृहद्देवता—४७ टि०
बृहस्पति—१५, १८, २१, ७८, १५७, १५७ टि०

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वैबिलोनिया—१३२ टि०
वोधिसत्त्व—६८
बौधायन धर्मसूत्र—१५६, १५६ टि०, १५६ टि०
वौद्धधर्म और दर्शन—६८ टि०
ब्रह्मचर्य—१०६
ब्रह्मज्ञान—११२, ११५
ब्रह्मयज्ञ—४८
ब्रह्मवाद—५२, ५३, ७८, ८१, ११७
ब्रह्मवादी वेदान्त—११५
ब्रह्मवैवर्त्तपुराण—१२८ टि०
ब्रह्मसमाज—१७७
ब्रह्मसमाज का इतिहास—२०२
ब्रह्मसूत्र—१२० टि०, १२३ टि०
ब्राह्मण—४५
ब्राह्मण (ग्रन्थ)—२०३
ब्लूमफील्ड—४५ टि०

भ

भक्तदास—१३२
भक्तिमार्गी—११२
भक्तिवाद—६८
भगवद्गीता—२७, ३० टि०
भट्टचिन्तामणि—२७ टि०
भर्तृहरि—१८१
भर्तृहरिनीतिशतक—१८१ टि०
भागवतपुराण—१७२
भाग्यवाद—२०६
भाग्यवादी—८८, २०६
भारद्वाज—५७
भाव—८७
भावहिंसा—८४
भाषापरिच्छेद—१०५ टि०
भृतक—१३५
भोक्ता—२४
भोगवाद—१६७, २०३
भोगायतन—१०४, १०६

म

म० काणे—१४४ टि०, १६३ टि०
मज्झमा पटिपदा—६०
मण्डनमिश्र—११३ टि०
मतवादी विचार—२६
मध्यममार्गी—२०४
मनु—८, १५, १८, २१, २२ टि०, १३४, १३५, १३७, १४१, १४३, १५०, १५० टि०, १५१, १५३, १५५, १५६, १५७, १७१, २०६
मनुस्मृति—८ टि०, ९ टि०, १० टि०, १५, १६, १६ टि०, २० टि०, २२ टि०, १२८, १३० टि०, १३१ टि०, १३२, १३३ टि०, १३४ टि०, १३५, १३७ टि०, १३८, १३६, १३६ टि०, १४१, १४१ टि०, १४३, १४३ टि०, १४४ टि०, १४६ टि०, १४७ टि०, १५०, १५२ टि०, १५४ टि०, १५५ टि०, १५६ टि०, १५७, १५८ टि०, १६० टि०, १६१ टि०, १६२ टि०, १६३, १६३ टि०, १८५, २०६ टि०
मनोमयकोष—५३
मन्त्र—१७
मन्त्रिपरिषद्—२२
मन्दपाल—७१
मरुत्—३८
महात्मा गांधी—१७७, १८६, १८६, १६१, १६२
महादेव—२६
महाभारत—२ टि०, १६, १६ टि०, २०, २८, २६ टि०, ६३, ६३ टि०, ६४, ७०, ७० टि, ७१, ७१ टि०, ७२, ७२ टि०, ७३ टि०, ७४ टि०, ७५, ७५ टि०, ७६, ७६ टि०,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

७७, ७७ टि०, ७८, ७८ टि०, ८३ टि०, १२५, १२६ टि०, १२७, १२८, १२८ टि०, १२९ टि०, १३४, १३८, १३९, १४३ टि०, १४४, १४५ टि०, १५६, १७२, १८०, १८० टि०, १८५, १८६, २०३
महायानी बौद्ध—९८
महावीर (भगवान् तीर्थङ्कर)—८२ टि०, १२७
महाव्रत—८४, ८८
माण्डूक्योपनिषद्-कारिका—१२० टि०
मातरिश्वन्—३९
मातृ—१३७
मात्स्यन्याय—१४५
माधवाचार्य—१५
मानवतावाद—२०८
मॉरल्स इन इवोल्यूशन—२
मार्कण्डेय—१८३
मार्क्स—७
मार्जारकिशोरन्याय—१२२
मार्जालीय—१३३
मालवीय (महामना)—२०२
मिताक्षरा—१५, २० टि०, १५४
मित्रमिश्र—१६
मित्रावरुण—३५, ३६
मिथुन—१५६
मिलिन्दपञ्ह—९८ टि०
मिश्रवर्ण—१२८
मीमांसानुक्रमणी—११३ टि०
मीमांसासूत्र—११३ टि०
मुक्तात्मा—११६
मुण्डकोपनिषद्—५७, ६१ टि०
मुदिता—९३, ९६, १०९
मूढ—६३
मेगस्थने—१३४
मेधातिथि—१५, ४३
मैकक्रिण्डल—१३४ टि०
मैत्री—९३, ९७, १०९
मैत्रेयी—५१, ६०, १३८
मैथिलीशरणगुप्त—१४३
मैरेज ऐण्ड मॉरल्स—१७६ टि०
मोक्ष—९, ५२, ५४, ७९, ८०, ८८, १०५, १०६, १०७, १०८, ११२, २०३, २०५, २०६, २०७

य

यंग इण्डिया—१८८ टि०, १८९ टि०, १९० टि०, १९१ टि०, १९२ टि०, १९३ टि०, १९४ टि०, १९५ टि०, १९६ टि०, १९७ टि०, १९८ टि०, १९९ टि०, २०० टि०, २०१ टि०
यजुर्वेद—४५, ५०, ५० टि०, १२७, १२७ टि०
यज्ञवेदी—४५
यतीन्द्रमतदीपिका—१२३ टि०
यथाकामचारी—५१
यम—१२, १५, ३९, ११४, १४९, १५०, १६०, १६० टि०, २०६, २०८
यशोधरा—१४३
याज्ञवल्क्य—१५, १८, २०, २० टि०, २१, १३५, १३५ टि०, १३६ १३६ टि०, १३९ टि०, १५०, १५७, १५८, १६१ टि०, १६३
याज्ञवल्क्यस्मृति—१५, २०, १५१, १५४, १५४ टि०, १५७ टि०, १५८ टि०, १६३ टि०
यास्क—१५०, १५७
युगधर्म—१९, २३
युगलरूप—३५

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

युगह्रास—१६, २३
योग एज़ फिलॉसफी ऐण्ड रेलिजन—११० टि०
योगसूत्र—२४ टि०
योगसूत्र (भोजभाष्य-सहित)—११० टि०
योगसूत्र (व्यासभाष्य-सहित)—११० टि०

र

रंग—१२४
रक्तशुल्क—१५६
रवीन्द्र—२०२
रसकिन—१८८
रहस्यवादी—६८
राक्षस—३२
राजधर्म—५
राजसूय—५१
राज्यश्री—१४३
राधाकृष्णन् (डॉ०)—६२ टि०, ८१ टि०
रामकृष्ण—१७७, २०२, २०८
रामकृष्णमिशन—१७७, १८१
रामचरितमानस—१४३, १७३
रामानुज—१२२, १२३ टि०
रामायण—१६, ३० टि०, १२७, १३८, १८७
राष्ट्रीय कांँगरेस का इतिहास—२०२
रि्हज डेविड्स—६८ टि०
रुद्र—३८, ४६
रुद्रिय—३६
रेपस्—४०

ल

लक्ष्मीधर—१६
लिखित—१५, १६
लिङ्ग—८
लुप्तश्रुति—१८
लेकी—१४१ टि०
लोकमान्य बालगंगाधर तिलक—१७७, १८१, १८२, १८३, १८४, १८६, १८७
लोकयात्राविद्—७
लोकसंग्रह—१८५
लोकसंग्रही—२०६
लोकाचार्य—१३ टि०
लोकायत—७६, ८०, ८१, ८१ टि०, २०४
लोकायत-दर्शन—७, ७६
लोकायत-नीति—७८, ७६
लोकायतवाद—७८
लोकायत-सिद्धान्त—८०, ८१
लोकायतिक सुखवाद—७
लोकैषणा—५६
लोपामुद्रा—४३

व

वय—८
वरण—१२४, १२६
वरुण—४४, ४७
वर्ण—८, १०, ४२, १२७, १२८, १३१, १४५, १५६, १६०, २०७
वर्णधर्म—६
वर्णसंस्कार—१२
वर्णश्रम—१२
वर्णाश्रमधर्म—६, ८, १०, १२, ५८
वर्णाश्रम-व्यवस्था—११५
वसिष्ठ—१५
वसिष्ठधर्मसूत्र—१५, १५०, १५६, १५८
वसु—३६
वस्तुवादी—२०५
वाक्—४२, ४७, १३८
वाचस्पति—२४ टि०
वाजपेय—५१
वात्स्यायन—१००
वात्स्यायन-भाष्य—१०२ टि०

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वायुवात—३८
वार्त्ता—५, ७
वाल्मीकिरामायण—७४, ७५ टि०
विक्रीत—१३३
विचिकित्सा—६४
विज्ञानभिक्षु—१५
विज्ञानमयकोष—५३
विज्ञानवाद—७
विज्ञानेश्वर—१५१, १५४, १५५, १५५ टि०, १५८
वित्तैषणा—५६
विथ गांधीजी इन सीलोन—१९८ टि०
विद्याभूषण—१०२ टि०
विद्यारण्य—१२० टि०
विधि—१७
विधिविवेक—११३ टि०
विप्रतिपन्न—२२
विभक्तिवादी—१२०
विभङ्गवादी (विभज्जवादी)—८१
विराट् पुरुष—३६, ४४
विवाह—१३६
विवेकानन्द (स्वामी)—१७७, १८०, १८१, २०२, २०८
विशिष्टाद्वैत—१२०, १२१
विशेषधर्म—१०, १२
विश्वनाथ—२५, २६, १००, १०५ टि०
विश्वप्रक्रिया—४५, ४६
विश्ववारा—४३, १३७
विष्णु—१५, ३८, ४६
वीरमित्रोदय—१६, १५४ टि०
वृजिन—३२
वृषागिरि—१४६
वेद—१५
वेदवाद—५२
वेदाङ्ग—१५
वैखानस—५६
वैदिक ब्रह्मचारी—१३५
वैशेषिकदर्शन—१० टि०
वैशेषिकसूत्र—१०५ टि०
वैश्वदेवयज्ञ—१३०
व्यक्तिवाद—२०४
व्यक्तिवादी—१२०
व्यवहारमयूख—१३२ टि०, १३७ टि०, १५४ टि०
व्यावहारिक सिद्धान्तवाद—८०
व्यास—१५, १२० टि०, १२३ टि०
व्यासस्मृति—१३०, १३० टि०
व्रत—३६, ३९, ४०
व्रात्यस्तोम—१२८

श

शंकर—११५, ११६, ११७, ११८, १२० टि०
शंकराचार्य—८१ टि०, ११४, ११५, ११६, ११९, १२० टि०
शंख—१५, १९
शक्तिभेद—१९
शतपथब्राह्मण—२०, ४६, ५०, ६२ टि०
शबर—२१, १११, ११३
शांकरभाष्य—७८ टि०, १८५
शांकरवेदान्त—११५, ११७, ११९
शातातप—१५
शाबरभाष्य—११३
शारीरिकभाष्य—१२० टि०
शास्ता—९८
शिक्षाव्रत—८७
शिव—३८
शिवस्वामी ऐयर—१६३ टि०
शिश्नदेवा—३६, ४०
शील—१६, २०४
शुक्रनीतिसार—१, १ टि०, ५, २२

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

शुक्राचार्य—१, ५, ७
शुन:शेप—१४६, १५०
श्रद्धा—४२, १३८
श्रीभाष्य—१२३ टि०
श्रीमद्भगवद्गीता—७८ टि०
श्रीमद्भागवत—३० टि०, १७३ टि०
श्लोकवार्त्तिक—११३ टि०

ष

षड्दर्शन—६६, २०५

स

संग्रह—१८५
संन्यासवाद—११६, २०३
संयम—१११
संयुक्तनिकाय—८६ टि०
संवर्त्त—१५
संशयग्रस्त—२२
सकृदागामिन्—६४
सत्कायदृष्टि—६४, ६६
सत्य—३८, ३६, ४५, १०६, ११७, २०८
सत्यकाम जाबाल—५६, ६०
सत्याग्रह इन वेस्टर्न अफ्रिका—१६६ टि०
सत्याग्रह इन साउथ अफ्रिका—१६५ टि०
सद्गुण—६५, १०१, १०३, ११६, १६१, २०५, २०६
सनत्सुजात—७३
सनत्सुजातीय—७४
समय—२२
समाधि—१०६, ११६
समाधिप्रज्ञ—२५
समाराधन—११४
समिति—१३८
सम्प्रज्ञातसमाधि—२५
सम्प्रदाय—८
सम्यक् आचार—१६
सम्यक् चारित्र्य—१६
सम्यक् संकल्प—२०
सरस्वती—१३८
सर्वदर्शनसंग्रह—७ टि०, ७६ टि०, ८१ टि० ८८ टि०, १०२ टि०, १०५ टि०, १०८ टि०, १२३ टि०
सर्वमेध—४६, १५०
सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह—८१ टि०
सर्वात्मवाद—५३, ५३ टि०
सर्वार्थसिद्धिसूत्र—८३
सर्वेश्वरवाद—५२
सविता—३८
सवितृ—३७, ३८
सहोढ—१४७, १४६
सांख्यकारिका—१०७
सांख्यप्रवचनभाष्य—१०८ टि०
सांख्य फिलॉसफी—१०८ टि०
सांख्यसूत्रवृत्ति—१०८ टि०
साइंटिफिक आउटलुक—१७६ टि०
साकेत—१४३
साक्षात्कार—१७, १८
सामन्तवादी—२२
सामयिक धर्म—८२ टि०
सामवेद—४५
सामान्यधर्म—८, १०, ११
सायणभाष्य—४५ टि०
सायुज्यभक्ति—१२३
सावित्री—३८
सिद्ध—६३
सिद्धान्तमुक्तावली—२६, २६ टि०, १००, १०५ टि०, ११२
सिस्टम ऑफ् दि वेदान्त—१२० टि०
सुखवाद—२७, ६६, ७६, २०४
सुखवादी—६८
सुत्तनिपात—६८ टि०

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सुशीलकुमार मैत्र—३० टि०
सूर्य—३७
सूर्यासूक्त—१४०, १५३
सेंट टॉमस—१६४
सेकरेट बुक्स ऑफ् दि ईस्ट सीरिज—९८ टि०
सेश्वर—१७
सोम—३६, ३७
सोमदेवसूरि—५
सोमपायी—५१
सौदायिक—१५४
स्ट्रैबो—१३४ टि०
स्त्री—१३७, १५३
स्थान—२०
स्मृतिचन्द्रिका—१६, १३६ टि०
स्पीचेज़ ऐण्ड राइटिंग्ज—१९३ टि०, २०० टि०
स्पेंसर—१८१
स्वतःप्रमाण—१६
स्वधर्म—६८
स्वयंदत्त—१४७

ह

हरिजन—१८९ टि०, १९० टि०, १९१ टि०, १९३ टि०, १९४ टि०, १९५ टि०, १९७ टि०, १९८ टि०, १९९ टि०, २०० टि०
हर्षचरित—१४३, १४३ टि०
हॉपकिन्स—६२ टि०, ७८ टि०
हारीत—१५, १३८, १३८ टि०
हिंसा—८४, १०६
'हिन्द स्वराज्य'—१८९ टि०
हिन्दू जूरिसप्रूडेन्स—१४४ टि०, १६३ टि०
हिन्दू रियलिज्म—१०५ टि०
हिन्दू लॉ—१४७ टि०
हिमालय—१४०
हिरण्यगर्भ—३९, ४४
हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन फिलॉसफी—१२० टि०
हिस्ट्री ऑफ् इंडियन लॉजिक—१०२ टि०
हिस्ट्री ऑफ् धर्मशास्त्र—१४४ टि०, १६३ टि०
हिस्ट्री ऑफ् यूरोपियन मॉरल्स—१४१ टि०
हिस्ट्री ऐण्ड लिटरेचर ऑफ् जैनिज्म—८८ टि०
हीनयानी—९८
हेनरी मेन—१४७, १४७ टि०
हेमाद्रि—१६

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection